डॉ० रामनाथ कौल

तथा

उन गुरुजनों के चरण कमलों में

जिनसे मुझे दर्शन के

अध्ययन में प्रेरणा मिली है।

दो शब्द

इस पुस्तक को लिखते समय लेखक ने निम्नलिखित विशेषताएँ लाने की चेष्टा की है:—

(१) संक्षिप्त कलेवर मे अधिक से अधिक सामग्री।

(२) प्रत्येक विषय पर अधिक से अधिक प्वाइन्ट्स और उनकी समुचित व्याख्या।

(३) सरल और सुबोध भाषा।

(४) प्रत्येक विषय पर भिन्न विद्वानों के उद्धरण सहित मत।

(५) प्रत्येक विषय पर प्रामाणिक आलोचनाएँ।

(६) विषय को सरल बनाने के लिये स्थान स्थान पर चार्ट (charts)।

(७) प्वाइन्ट्स तथा महत्वपूर्ण वाक्य मोटे अक्षरो मे ताकि समझने और याद रखने मे आसानी हो।

( ) व्यर्थ विवाद को बचाते हुए भारतीय दर्शन की एक सर्वांगपूर्ण (*Integral*) *व्याख्या प्रस्तुत करना।*

लेखक को अनुभव हुआ कि इन विशेषताओ की पुस्तक का हिन्दी मे अभाव है। अत यह पुस्तक आपके सम्मुख उपस्थित है। लेखक अपने प्रयास मे कहाँ तक सफल हुआ है इसका निर्णय विज्ञ पाठक पुस्तक को पढ़कर और अन्य पुस्तकों से उसकी तुलना करके स्वय ही बतला सकेंगे। सुझाव भेजने को लिख भेजें तो आभार होगा।

भारतीय दर्शन के मूल तत्वो के विषय म लेखक के विचारो का परिचय पाठको को पुस्तक पढ़ने से मिल ही जायगा। दर्शन मे लेखक का दृष्टिकोण सर्वांग दृष्टिकोण (I tegral Approach) है। व्यक्ति और समाज के आदर्श विकास म भौतिक मानसिक लौकिक और पारलौकिक सभी दिशाओ मे विकास आवश्यक है। आध्यात्मिक विकास मानव का चरम लक्ष्य है। परन्तु यह आध्यात्मिक विकास उसके तन मन और प्राण की माँगो का निषेध नही बल्कि स्वीकार रूपान्तर और चरम परिणति है। दर्शन सद्वस्तु (Reality) के अनुभव की बौद्धिक व्याख्या है भारतीय दर्शन मे चार्वाक सांख्य तथा वेदान्त आदि दर्शन उसी सद्वस्तु के भिन्न भिन्न अनुभवो की बौद्धिक व्याख्याएँ हैं। जिसका

सर्वांग रूप गीता और उपनिषदों में उपलब्ध होता है। इस सर्वांगपूर्ण में यह परस्पर विरोधी दिखाई देने वाले मत परस्पर पूरक हो जाते हैं।

लेखक उन सभी विद्वानों का आभारी है जिनकी पुस्तकों से इसे प्रस्तुत पुस्तक लिखने में सहायता मिली है। गुरुजनों की प्रेरणा और मित्रों के सद्भाव के बिना तो यह कार्य पूर्ण होना सर्वथा कठिन था। विशेषतः प्रा० रामनाथ कौल अध्यक्ष, दर्शन विभाग प्रयाग विश्वविद्यालय, डा० चन्द्रधर शर्मा, दर्शन विभाग काशी विश्वविद्यालय डा० गदाधर दत्त, दर्शन विभाग प्रयाग विश्वविद्यालय तथा डा० भट्टाचार्य अध्यक्ष, दर्शन और मनोविज्ञान विभाग मेरठ कालिज, ने लेखक के इस प्रयास में रुचि दिखाकर उसको उत्साहित किया है। लेखक इन सबका बड़ा आभारी है।

७२, विजयनगर
मेरठ

रामनाथ शर्मा

विषय सूची

अध्याय		पृष्ठ संख्या
	आस्रव तत्व	१०४
	बन्ध तत्व	१०४
	संवर तत्व	१०५
	निर्जरा तत्व	१०७
	मोक्ष तत्व	१०८
	कर्म का सिद्धान्त	१०९
	मोक्ष के साधन	११०
	ईश्वर के विषय में जैनों का मत	१११
	जैन तत्व विचार की आलोचना	११२
	जीव तत्व	११४
	जैनों का कर्म का सिद्धान्त	११५
सप्तम्	**बौद्ध दर्शन**	११६
	चार आर्य सत्य	११८
	अष्टांग पथ	१२०
	निर्वाण	१२५
	प्रतीत्यसमुत्पाद	१२८
	कर्म और पुनर्जन्म	१३२
	अनात्मवाद	१३४
	क्षणिकवाद	१३६
अष्टम्	**बौद्ध दर्शन के सम्प्रदाय**	१४१
	धार्मिक सम्प्रदाय	१४१
	हीनयान तथा महायान	१४१
	दार्शनिक सम्प्रदाय	१४३
	वैभाषिक	१४४
	सर्वास्तिवादी सम्प्रदाय	१४४
	तत्व विचार	१४७
	जगत का विषयगत विभाग	१४८
	जगत का विषयिगत विभाग	१४९
	सौत्रान्तिक	१५०
	तत्व विचार	१५१
	प्रमाण विचार	१५२
	तत्व विचार	१५३
	महायान के दार्शनिक सम्प्रदाय	१५३
	योगाचार अथवा विज्ञानवाद	१६१
नवम	**सांख्य दर्शन**	१६८
	तत्व विचार (सतकार्यवाद)	१६८
	प्रकृति	१७१
	पुरुष या आत्मा	१७५
	विकास का सिद्धान्त	१७८

भारतीय दर्शन के मूल तत्व

प्रथम—अध्याय

विषय प्रवेश

दर्शन की परिभाषा

भारतीय दर्शन को समझने के पूर्व दर्शन शब्द का अर्थ समझ लेना अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि 'दर्शन' का अर्थ अंग्रेजी के 'फिलासफी' (Philos phy) से बिल्कुल भिन्न है। फिलासफी को दर्शन कहने से ही उसके प्रति भारतीयों का दृष्टिकोण स्पष्ट हो जाता है। 'दर्शन' शब्द 'दृश्' धातु से करण अर्थ में 'ल्युट्' प्रत्यय लगा कर बना है। इसका अर्थ है "जिसके द्वारा देखा जाय'। यह देखना स्थूल नेत्रों से भी हो सकता है और सूक्ष्म नेत्रों से भी जिन्हें दिव्य चक्षु, प्रज्ञा चक्षु अथवा ज्ञान चक्षु भी कहा गया है। स्थूल और सूक्ष्म दोनों ही प्रकार के पदार्थ दर्शन शास्त्र के विषय हैं और परम तत्व को प्राप्त करने के लिए दोनों का साक्षात्कार आवश्यक है) अतः 'दर्शन' शब्द का प्रयोग स्थूल और सूक्ष्म भौतिक और आध्यात्मिक दोनों ही अर्थों मे किया गया है। व्यावहारिक दृष्टि से इन तत्वों को सिद्ध करने वाले तर्क और विपक्ष का खंडन करने वाली युक्तियाँ भी 'दर्शन' शब्द के अन्तर्गत आ जाती हैं। इसी अर्थ मे चार्वाक दर्शन बौद्ध दर्शन इत्यादि कहा जाता है। परन्तु अन्त में लगभग सभी भारतीय दर्शन सूक्ष्म परम तत्व के साक्षात्कार को ही 'दर्शन' मानते हैं। यही अध्यात्म शास्त्र ज्ञान शास्त्र धर्म और नीति शास्त्र का चरम लक्ष्य है। इसी में 'फिलासफी' की चरम परिणति है।

भारतीय दर्शनों की विशेषताएँ

दर्शन देशकाल और संस्कृति की पृष्ठभूमि मे शाश्वत सत्यों का साक्षात्कार है। ये शाश्वत सत्य देशकाल के बन्धनों से परे होकर भी उन्हीं के आवरण में प्रकट होते हैं। अतः मूलभूत सिद्धान्तों में एकता होते हुए भी

शुद्धि पत्र

पृष्ठ संख्या	अशुद्ध	शुद्ध
१	प्रजा	प्रज्ञा
१४	ऋतु	ऋत

श्री मैक्समूलर के शब्दों में "भारत में दर्शन ज्ञान के लिए नहीं बल्कि उस सर्वोच्च लक्ष्य के लिए था जिसके लिए मनुष्य इस जीवन में चेष्टा कर सकता है।"[१]

४ दर्शन का लक्ष्य मोक्ष है

भारतीय दर्शन में ज्ञान का अर्थ जीवन का दिव्य रूपान्तर और सांसारिक दुःखों से छुटकारा पाना है। चार्वाक को छोड़कर सभी आस्तिक और नास्तिक भारतीय दार्शनिक मोक्ष को ही जीवन का लक्ष्य मानते हैं। इस मोक्ष का निश्चित स्वरूप सभी मतों में थोड़ा बहुत भिन्न-भिन्न है। परन्तु इस बात पर सभी सहमत हैं कि मोक्ष से संसार के दुःखों से छुटकारा मिल जाता है और मनुष्य अज्ञान के बन्धन से छूट जाता है। यह मोक्ष नीति और धर्म से परे एक आध्यात्मिक अवस्था है।

५ बन्धन का कारण अज्ञान है

अतः इस सिद्धान्त पर सभी भारतीय दर्शन एक मत हैं कि दुःख और बन्धनों का कारण मानव का अज्ञान है। यह अज्ञान केवल बौद्धिक ही नहीं बल्कि आध्यात्मिक और मनोवैज्ञानिक भी है। बुद्ध के चार आर्य सत्य और शंकर का अद्वैत वेदान्त इसी अज्ञान को दूर करने की चेष्टा करते हैं। यह अज्ञान संसार का स्वभाव है। अतः संसार के दुःखों से छुटकारा पाने के लिये इस अज्ञान से मुक्ति अत्यावश्यक है।

६ मोक्ष के लिए अभ्यास तथा योग की आवश्यकता

मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक अज्ञान से छुटकारा पाने के लिए सभी भारतीय दर्शन किसी न किसी प्रकार के अभ्यास अथवा योग की आवश्यकता को मानते हैं। पातंजलि योग का अष्टांग पथ लगभग सभी भारतीय दर्शनों में न्यूनाधिक रूप में अपनाया गया है। यम नियम आसन समाधि निदिध्यासन आदि का अभ्यास अज्ञान को दूर करने के लिए आवश्यक माना जाता था। ज्ञान के अनुसार जीवन का रूपान्तर साधना का विषय है। भारतीय दर्शनों में जितना ज्ञान पक्ष पर जोर है उतना ही साधना पक्ष पर भी जोर दिया गया है। यह अभ्यास केवल निरोधात्मक न होकर रचनात्मक भी था। वास्तव में भारतीय दार्शनिकों ने ज्ञान प्राप्ति में शरीर, मन और बुद्धि सभी की साधना पर जोर दिया है।

७. भारतीय दर्शन मनोवैज्ञानिक तथ्यों पर आधारित है

अतः भारतीय दार्शनिकों ने मानव मनोविज्ञान की बड़ी सूक्ष्म और विशद व्याख्या की है। बुद्ध से लेकर पातंजलि शंकर और रामानुज प्रभृति सभी दार्शनिकों ने दर्शन के मनोवैज्ञानिक पक्ष पर काफी जोर दिया है। योग की क्रियाएं शारीरिक और मानसिक व्याधियों को दूर करके चित्त को स्थिर

---

१ Six Systems of Indian Philosophy P 370.

प्रत्येक देश के दार्शनिक मतो मे उस देश की सस्कृति की गहरी छाप रहती है। भारतीय दार्शनिक मतो मे कुछ आस्तिक अथवा वेदो मे विश्वास करने वाले और कुछ नास्तिक अथवा वेदों मे न विश्वास करने वाले हैं। वेद विरोधी दर्शनो मे चार्वाक, जैन और बौद्ध की गिनती है। वेदानुकूल आस्तिक दर्शनो मे भी दो प्रकार के मत हैं यथा वैदिक विचारो से उत्पन्न मीमासा और वेदान्त और लौकिक विचारो से उत्पन्न साख्य, योग, न्याय तथा वैशेपिक आदि। इनमें भी वैदिक विचारो से उत्पन्न दार्शनिक मतो के दो भेद किये जा सकते हैं यथा कर्मकाण्ड पर आधारित मीमासा और ज्ञानकाण्ड पर आधारित वेदान्त। इस विशेप भेद के होने पर भी भारतीय दर्शनो मे निम्नलिखित सामान्य विशेपताएँ है—

१ भारतीय दर्शन आध्यात्मिक है

सभी भारतीय दर्शन आत्मा मे विश्वास करते है और उसके यथार्थ स्वरूप की खोज करना चाहते हैं। आत्मा की खोज ही उपनिषद से लेकर साख्य, योग, न्याय वैशेपिक, और वेदान्त की दार्शनिक जिज्ञासा का लक्ष्य था। यही आध्यात्मिक लक्ष्य ही भारतीय दर्शनो को नीति शास्त्र और धर्म के क्षेत्र से ऊपर उठाता है। प्रो० हिरियाना के कथनानुसार 'दूसरे शब्दो मे, भारतीय दर्शन का लक्ष्य नीति शास्त्र से भी उतना परे है जितना कि तर्क शास्त्र से।"[१]

२ भारतीय दर्शन, जीवन के निकट है

अत भारतीय दर्शन का लक्ष्य मानसिक जिज्ञासा की शान्ति न होकर जीवन की चरम समस्याओ का हल करना है। वह जीवन मे ही उत्पन्न होता है और जीवन में ही पलता है। भारतीय दर्शन के महानतम ग्रथ गीता, और उपनिषद जन साधारण से दूर नहीं है। भारतीय दर्शन जन-जीवन का दर्शन है।

३ आध्यात्मिक असतोष

परन्तु भारतीय दार्शनिक भौतिक जीवन से सतुष्ट नही थे। वास्तव मे सासारिक जीवन से आध्यात्मिक असतोष मे ही भारतीय दर्शन की उत्पत्ति हुई। उसका लक्ष्य जीवन का दैवी रूपान्तर था। आध्यात्मिक असतोष का यह अर्थ नही है कि भारतीय दर्शन निराशावादी अथवा पलायनवादी हो। ससार के दु खमय पक्ष पर सर्वाधिक बल देने वाले गौतम बुद्ध ने भी अन्त मे अष्टाँग पथ के रूप में उस दुःख से छुटकारा पाने का सदेश दिया है। अत निराशावाद मे प्रारम्भ होकर भी भारतीय दर्शन आशावाद और आनन्द की ओर बढ़ता है।

---

१ Outlines of Indian Philosophy, P. 22

हुआ तो उसके प्रतिकारी पक्ष की भी स्थापना हुई। अद्वैतवाद आत्मवाद, द्वैतवाद, भेदवाद, द्वैताद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद इत्यादि भिन्न-भिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों की क्रिया प्रतिक्रिया के बीच भारतीय दर्शन सदैव प्रगतिशील रहा।

परन्तु परस्पर तर्क वितर्क करते हुए भी सभी भारतीय दर्शनों में वेद

१ मूल में आस्था और विश्वास

गीता और उपनिषदों में समान रूप से आस्था और विश्वास है। सभी आस्तिक दर्शनों ने श्रुति को प्रमाण माना है यद्यपि वह श्रुति प्रमाण तर्क नहीं बल्कि अपेक्षानुभूति के सत्य पर आधारित था। वास्तव मे वेद दृष्टा ऋषियों के अपरोक्षानुभूति-जन्य ज्ञान के भंडार हैं। मूलकालीन दर्शन में इसी आस्था के कारण सभी भारतीय दर्शनों में एक प्रकार का क्रम दिखाई पड़ता है। परन्तु श्रुति को प्रमाण मानने का अर्थ अन्ध श्रद्धा नहीं है। शंकर जैसे दार्शनिक भी जो कि अपने को केवल टीकाकार कहते थे श्रुति में परस्पर विरोध होने पर तर्क का सहारा लेने का समर्थन करते हैं।

भारतीय दर्शन जिस प्रकार मानव जगत में नैतिक व्यवस्था देखता है

११ ऋतु, कर्म और पुनर्जन्म में विश्वास

उसी प्रकार भौतिक जगत में भी शाश्वत नैतिक व्यवस्था में विश्वास करता है। इस सार्वभौम नैतिक व्यवस्था को ही वेदों में ऋतु कहा गया है। मीमांसा मे इसी का नाम 'अपूर्व' है। न्यायवैशेषिक में इसी को अदृष्ट कहा गया है। इसके अनुसार देवता जीव-प्राणी और ग्रह नक्षत्र सभी एक सार्वभौम शाश्वत नैतिक व्यवस्था पर चलते हैं। यही नैतिक व्यवस्था व्यक्ति के जीवन में 'कर्म' के सिद्धान्त द्वारा प्रकट की जाती है। प्राय सभी भारतीय दार्शनिक कर्म के सिद्धान्त को मानते हैं। कर्म के सिद्धान्त के अनुसार धर्माधर्म इत्यादि कर्मफल संस्कार रूप मे सदैव सुरक्षित रहते हैं और हमारे जीवन की घटनाओं को परिचालित करते हैं इस प्रकार संसार एक रंगमंच के समान है जिस पर सभी को अपने कर्मानुसार निश्चित पार्ट अदा करना पड़ता है। कर्म के बंधन से छूटने का नाम ही मोक्ष है और भिन्न भिन्न दर्शनों में इस मोक्ष प्राप्ति की अनेक विधियां बतलाई गई हैं। कर्म के सिद्धान्त के साथ ही पुनर्जन्म का सिद्धान्त भी लगा हुआ है। कर्म के बन्धनों के कारण आत्मा को बार बार शरीर धारण करना पड़ता है। मोक्ष होने पर ही पुनर्जन्म से छुटकारा मिलता है। ध्यान रहे की चार्वाक उपरोक्त सभी सिद्धान्तों के विरुद्ध है अतः भारतीय दर्शन की विशेषताएं उसपर लागू नहीं होतीं। अन्य सभी भारतीय दर्शनों में उपरोक्त विशेषताएं न्यूनाधिक रूप में पाई जाती हैं।

करने मे आज भी अद्वितीय हैं। वेदांत मे जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति एव तुरीय अवस्थाओ तथा चैतन्य के स्वरूप का सूक्ष्य विश्लेपण किया गया है। भारतीय दर्शन जीवन के अनुभव पर आधारित था। अत' दार्शनिको ने अनुभवो की सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक छान वीन की है।

भारतीय दर्शनो की सबसे अधिक महत्वपूर्ण सामान्य विशेपता यह है कि उनमे धर्म और दर्शन की समस्याओ मे बहुत अधिक भेद नही किया गया है। भारत मे धर्म शब्द का प्रयोग बडे व्यापक अर्थों मे किया गया है। वास्तव मे यहाँ धर्म और दर्शन दोनों का ही लक्ष्य जीवन का रूपान्तर और सांसारिक दुखो से मोक्ष था। हैवेल (Havell) के अनुसार "भारत मे धम विश्वास नही है बल्कि आध्यात्मिक विकासताओ की विभिन्न अवस्थाओ और जीवन की भिन्न-भिन्न परिस्थितियो के अनुरूप मानव व्यवहार का एक क्रियात्मक सिद्धान्त है।"[1]

८. धर्म और दर्शन का समन्वय

भारतीय दर्शनो मे मानव, प्रकृति और ईश्वर के बीच कोई गहरी खाई नही है। दर्शन के सिद्धान्तों का मूल्यांकन जीवन की कसौटी पर किया जाता था और धार्मिक सिद्धान्तो को बुद्धि और आध्यात्मिक अनुभव की तुलना पर तोला जाता था।

९ भारतीय दर्शन बौद्धिक समन्वयवादी और प्रगतिशील हैं

धार्मिक होते हुए भी भारतीय दर्शनो मे स्वतन्त्र रूप से सत्य की खोज की गई है। ससार के दर्शन के इतिहास मे जितने भी मत-मतान्तर आज तक हुए हैं वे किसी न किसी रूप मे भारतीय दर्शनो मे मिल सकते हैं। शास्त्रार्थ की प्रथा से प्रत्येक भारती। दार्शनिक को अपने सिद्धान्तो की सबल तर्कों [illegible]रा पुष्ट करके अन्य मतो का खडन करना पडता था। अत भारतीय दर्शनो मे तर्क शास्त्र और प्रमाण शास्त्र का समुचित विकास हुआ है। बौद्धिक होते हुए भी भारतीय दार्शनिक समन्वयवादी हैं। कही भी उन्होंने जीवन के किसी एक पक्ष पर अत्यधिक जोर नही दिया है। व्यक्तिगत साधना का विषय होने पर प्रत्येक दर्शन मे लोक कल्याण का ध्यान रखा गया है। शकर, बुद्ध और महावीर आदि महान दार्शनिक ही नही बल्कि महान समाज सुधारक भी थे। वास्तव मे भारतीय दर्शनो का ध्येय व्यक्तिगत मोक्ष मात्र न होकर समाज का आध्यात्मिक रूपान्तर करना भी था। इस रूपान्तर मे उन्होंने आध्यात्मिक के साथ साथ शारीरिक और मानसिक पक्ष पर भी जोर दिया है। दार्शनिक सिद्धान्तों मे भी जब कभी किसी एक सिद्धान्त का अत्याधिक प्रचार

---

१ Aryan Rule in India, P 170.

हुआ तो उसके प्रतिवादी पक्ष की भी स्थापना हुई। वस्तुवाद आत्मवाद, द्वैतवाद, अद्वैतवाद, ईश्वरवाद, विशिष्टाद्वैतवाद इत्यादि भिन्न-भिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों की क्रिया प्रतिक्रिया के बीच भारतीय दर्शन सदैव प्रगतिशील रहा।

१ मूल में आस्था और विश्वास

परन्तु परस्पर तर्क वितर्क करते हुए भी सभी भारतीय दर्शनों में वेद, गीता और उपनिषदों में समान रूप से आस्था और विश्वास है। सभी आस्तिक दर्शनों ने श्रुति को प्रमाण माना है यद्यपि यह श्रुति प्रमाण शब्द नहीं बल्कि अपरोक्षानुभूति के सत्य पर आधारित था। वास्तव में वेद द्रष्टा ऋषियों के अपरोक्षानुभूति-जन्य ज्ञान के भंडार हैं। पूर्वकालीन दर्शन में इसी आस्था के कारण सभी भारतीय दर्शनों में एक प्रकार का क्रम दिखलाई पड़ता है। परन्तु श्रुति को प्रमाण मानने का अर्थ अन्ध श्रद्धा नहीं है। शंकर जैसे दार्शनिक भी जो कि अपने को केवल टीकाकार कहते थे श्रुति में परस्पर विरोध होने पर तर्क का सहारा लेने का समर्थन करते हैं।

११ ऋतु, कर्म और पुनर्जन्म में विश्वास

भारतीय दर्शन जिस प्रकार मानव जगत में नैतिक व्यवस्था देखता है उसी प्रकार भौतिक जगत में भी शाश्वत नैतिक व्यवस्था में विश्वास करता है। इस सार्वभौम नैतिक व्यवस्था को ही वेदों में ऋतु कहा गया है। मीमांसा में इसी का नाम 'अपूर्व' है। न्यायवैशेषिक में इसी को अदृष्ट कहा गया है। इसके अनुसार देवता जीव-प्राणी और ग्रह नक्षत्र सभी एक सार्वभौम शाश्वत नैतिक व्यवस्था पर चलते हैं। यही नैतिक व्यवस्था व्यक्ति के जीवन में 'कर्म' के सिद्धान्त द्वारा प्रकट की जाती है। प्रायः सभी भारतीय दार्शनिक कर्म के सिद्धान्त को मानते हैं। कर्म के सिद्धान्त के अनुसार धर्माधर्म इत्यादि कर्मफल संस्कार रूप में सदैव सुरक्षित रहते हैं और हमारे जीवन की घटनाओं को परिचालित करते हैं इस प्रकार संसार एक रंगमंच के समान है जिस पर सभी को अपने कर्मानुसार निश्चित पार्ट अदा करना पड़ता है। कर्म के बंधन से छूटने का नाम ही मोक्ष है और भिन्न-भिन्न दर्शनों में इस मोक्ष प्राप्ति की अनेक विधियाँ बतलाई गई हैं। कर्म के सिद्धान्त के साथ ही पुनर्जन्म का सिद्धान्त भी लगा हुआ है। कर्म के बन्धनों के कारण आत्मा को बार बार शरीर धारण करना पड़ता है। मोक्ष होने पर ही पुनर्जन्म से छुटकारा मिलता है। ध्यान रहे की चार्वाक उपरोक्त सभी सिद्धान्तों के विरुद्ध है अतः भारतीय दर्शन की विशेषताएँ उसपर लागू नहीं होतीं। अन्य सभी भारतीय दर्शनों में उपरोक्त विशेषताएँ न्यूनाधिक रूप में पाई जाती हैं।

भारतीय दर्शन के तथाकथित दोष

भारतीय दर्शन की अन्तरग विचारधारा से अनभिज्ञ कुछ पाश्चात्य विद्वानो ने भारतीय दर्शन को निराशावादी बतलाया है।[1] निराशावाद का अर्थ है सासारिक जीवन को दु खमय समझना। भारतीय दर्शन इस अथ मे निराशावादी अवश्य है कि वह भौतिक ससार की वर्तमान परिस्थितियो के प्रति असन्तोष उत्पन्न होता है। ससार दु खमय है। भोग से सस्कार और सस्कार से भोग, इस चक्र मे पडकर मानव को कभी शान्ति नही मिल पाती। भारतीय दार्शनिक ससार की इस दु खमय अवस्था का विश्लेषण करते हैं। परन्तु यदि इसी का नाम निराशावाद है तो ससार के सभी दर्शन निराशावादी है क्योकि वर्तमान से असतोष के विना दर्शन की उत्पत्ति नही हो सकती। वास्तव मे इस प्रकार के निराशावाद जीवन की प्रगति के लिए अत्यावश्यक है। प्रो० बोसाके (Bosanquet) लिखते हैं—"मैं आशावाद मे विश्वास करता हूँ परन्तु मैं साथ ही कहता हूँ कि कोई भी आशावाद तब तक उपयोगी नही है जब तक वह निराशावाद के साथ चलकर उससे परे न पहुँचे। मेरा विश्वास है कि यही जीवन की वास्तविक प्रेरणा है और यदि कोई उसको खतरनाक और पाप के प्रति अनुचित आत्मसमर्पण समझता है तब मेरा उत्तर है कि पूर्णता का पुट लिए हुए प्रत्येक सत्य के व्यवहार में अपने खतरे हैं।"[2] वास्तव में जीवन के परम श्रेय के विषय मे भारतीय दर्शन नितान्त आशावादी है। सभी भारतीय दर्शनो का लक्ष्य मोक्ष है और मोक्ष का अर्थ ससार से पलायन अथवा मृत्यु नहीं बल्कि जीवन का रूपान्तर साधन है जिसमे मनुष्य ससार के दु ख कष्ट और मोहमाया से बचकर अपने यथार्थ रूप को जानकर नित्य आनन्द का जीवन व्यतीन कर सके। आध्यात्मिकता का लक्ष्य दु खवाद नहीं बल्कि आनन्द है।[3] डा० राधाकृष्णन के शब्दों मे "भारतीय विचारक,

---

१ (अ) "निराशावाद समस्त भारतीय भौतिक और आध्यात्मिक जीवन से व्याप्त है।" —लार्डरोनल्डशे (Ronaldshay) "India, A Birds Eye-view," P 313

(ब) "यदि यह मान भी लिया जाय कि उपनिषद आनन्द के सिद्धान्त का उपदेश देते है तो भी भारतीय का आनन्द एक चीज है और ईसाई का दूसरी, पहला नास्तिवाचक है और दूसरा अस्तिवाचक।

—उर्क्हर्ट (Urquhart), Upanishads and Life, P 69-70

२ Social and International Ideals, P 43

३ यह समझना कठिन है कि ब्रह्म से व्याप्त जगत कभी भी नैराश्यमय कैसे दिखाई पड सकता है" —ओल्डनवर्ग (Oldenverg)

जहाँ तक वे सांसारिक अवस्था को पाप और असत्य समझते हैं वहाँ तक निराशावादी हैं परन्तु वे आशावादी भी हैं क्योंकि वे अनुभव करते हैं कि उससे निकल कर सत्य के राज्य में जाने का मार्ग है जो कि शिव भी है।[१]

रूढ़िवाद

भारतीय दर्शन में प्राचीन परम्परा के लिए सर्वदा ही एक आदर का भाव रहा है। अधिकांश दार्शनिकों ने श्रुति को प्रमाण माना है। वेद उपनिषद और गीता के वाक्यों का प्रमाण रूप में प्रयोग किया गया है। इसी कारण कुछ लोग भारतीय दर्शन को रूढ़िवादी समझते हैं। परन्तु ऐसा समझने वाले अधिकांश भारतीय दर्शनों की विचारधारा के प्रति अज्ञान ही प्रदर्शित करते हैं। यह सत्य है कि भारतीय दर्शन के इतिहास में कभी-कभी ऐसा काल भी आया जब कि वितंडा वादविवाद और वृथा तर्क से दर्शन की आत्मा दब सी गई परन्तु ऐसे सभी अवसरों पर शीघ्र ही दार्शनिक प्रतिक्रियाएँ प्रारम्भ हुई और आध्यात्मिक विचारधारा फिर रूढ़ियों के बन्धन से स्वतन्त्र होकर चलने लगी। वास्तव में वेद, उपनिषद और गीता पर आस्था को रूढ़िवाद नहीं कहा जा सकता। इन ग्रंथों में द्रष्टा ऋषियों के व्यक्तिगत अनुभव संचित हैं जो कि उस अवस्था पर पहुँचकर प्रत्येक व्यक्ति अनुभव कर सकता है। दूसरे जब कभी इन अनुभवों में परस्पर विरोध दिखाई पड़ा है तब भारतीय दार्शनिकों ने बुद्धि और तर्क का सहारा लिया है। टीकाकार कहलाते हुए भी शंकर, रामानुज मध्व निम्बार्क इत्यादि महान दार्शनिकों ने श्रुति को अपने-अपने अनुभव के दृष्टिकोण से देखकर एक दूसरे से भिन्न गहन दर्शन सिद्धान्त उपस्थित किये हैं। हाँ परम्परा के प्रति इस आस्था से भारतीय दर्शनों में एक सूक्ष्मता और क्रम दिखलाई पड़ता है जो कि किसी भी दर्शन के लिए गौरव की बात है।

नीति की उपेक्षा

फर्क्यूहर (Farquhar) के अनुसार "हिन्दू विचारधारा की सीमाओं में यथार्थ रूप में कोई नैतिक दर्शन नहीं है।"[२] भारतीय दर्शनों में अधिकतर नैतिक स्तर को सर्वोच्च स्थान नहीं दिया गया है। आध्यात्मिकता की अवस्था को नीति और धर्म से भी परे माना गया है। मुक्त पुरुष नीति और अनीति के बन्धन से परे होते हैं। मोक्ष उचित अनुचित की सीमाओं से परे है। अतः यह सत्य है कि भारतीय दर्शनों का लक्ष्य नीति से परे था। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि उनमें नीति की उपेक्षा की गई है। इस बात को समझने के लिए

---

१ Indian Philosophy Vol I P 50

२ Hibbert Journal, October 1921 P 24

"अधिकारी भेद" के सिद्धान्त को समझना अत्यावश्यक है। आध्यात्मिक जीवन के विकास मे पूर्णता की स्थिति पर पहुँच कर मनुष्य को उचित अनुचित का सकल्प करने की आवश्यकता नही रह जाती क्योकि उसका स्वभाव ही ऐसा बन जाता है कि अशुभ कर्म उसके लिए असभव है। परन्तु उससे पूर्व नैतिकता का विकास रखना सभी दार्शनिक सिद्धान्तो में आवश्यक माना जाता है। जैन, बौद्ध, वेदान्त, सांख्ययोग आदि सभी दर्शनो मे विभिन्न नैतिक नियमो की विशद व्याख्या की गई है। अत भारतीय दर्शन में नीतिशास्त्र को सर्वोच ही नहीं परन्तु समुचित स्थान अवश्य प्रदान किया गया है।

गतिहीनता

रूढ़िवादिता के दोप के साथ-साथ भारतीय दर्शन मे गतिहीनता अथवा स्थिरता का ढोल भी बतलाया गया है। परन्तु केवल इसी कारण ही भारतीय दर्शनो को गतिहीन नही बतलाया जा सकता कि प्राचीन काल से लेकर आज पर्यन्त सभी भारतीय दाशनिको के विचार गीता और उपनिपदो की विचार-धारा पर आधारित हैं। वैज्ञानिक सिद्धान्तों के परिवर्तन और प्रगति के साथ-साथ दार्शनिक सत्यो मे ही नही वल्कि उनके स्वरूप मे परिवर्तन आता है। दार्शनिक तत्व शाश्वत हैं और उनका श्रुति तथ्य न होकर अन्तर्दृष्टि है अत वैज्ञानिक प्रगति के साथ-साथ दार्शनिक सत्य परिवर्तित नही होते। तभी तो गीता और उपनिषद आज भी उसी प्रकार सजीव और प्रेरणा देने वाले हैं। परन्तु यदि प्रगतिशीलता का अर्थ शाश्वत सत्यो को देशकाल के परिवर्तन के साथ नया जामा पहना देता है तो भारतीय दर्शन अवश्य प्रगतिशील है। शकर, रामानुज और श्री अरविन्द आदि सभी दाशनिको ने गीता और उपनिपद की अपने-अपने दृष्टिकोण से व्याख्या की। निस्सदेह भारतीय दर्शन के इतिहास मे कुछ कालो मे प्रगति अत्यन्त मन्द अथवा लगभग स्तब्ध रही परन्तु आदि से आज तक देखने पर उसे प्रगति हीन अथवा स्थिर नही कहा जा सकता। वौद्ध, जैन, न्याय वैशेपिक, सख्या योग और वेदान्त के दार्शनिकों ने अपने-अपने पक्ष की व्याख्या करते हुए सभी अन्य विपक्षी मतों का खडन किया है। इस विषय के विशाल साहित्य पर एक दृष्टि डालनें से यह तथ्य स्वय स्पष्ट हो जाता है। वास्तव मे भारतीय दर्शन पर लगाये हुए अधिकांश आरोप एकागी हैं और अज्ञान के परिचायक हैं। हर्ष का विपय है कि अव इनमे से अधिकांश आरोपो की निर्मूलता सिद्ध हो चुकी है।

द्वितीय—अध्याय

वेदों का दर्शन

सांसारिक दुःखों के कारण वर्तमान जीवन के प्रति असंतोष में भारतीय दर्शन की उत्पत्ति हुई। अतः भारतीय दर्शन उतना ही प्राचीन है जितनी कि मानव की सांसारिक दुःखों की अनुभूति। इस दुःख से मोक्ष प्राप्त करना ही भारतीय दर्शन का परम ध्येय (Ultimate End) था। दुःख का कारण अज्ञान है। अतः इस परम ध्येय की प्राप्ति के लिए जहाँ साधना की आवश्यकता थी वहाँ ज्ञान भी अनिवार्य था। वेद का अर्थ 'ज्ञान' है और दर्शन का अर्थ उस ज्ञान का साक्षात्कार है। वेद मानव ज्ञान के प्राचीनतम अभिलेख हैं।

भारतीय दर्शन के प्राचीनतम् प्रमाण

वेद भारतीय दर्शन के प्राचीनतम प्रमाण हैं। तपस्या के द्वारा 'अमर-ज्योति' के रूप में परम तत्व का साक्षात्कार करके ऋषियों ने उसको वेद मंत्रों के रूप में अभिव्यक्त किया। परम तत्व की प्रत्यक्ष अनुभूति पर आधारित होने के कारण इनमें ऋषियों की अपनी वैयक्तिकता नहीं है। अतः वेद 'अपौरुषेय' कहे जाते हैं अर्थात् ऋषियों के माध्यम से स्वयं परम तत्व ही वेदों के मंत्रों के रूप में अभिव्यक्त हुआ है। इसीलिये वेदों को परम सत्य माना गया और भारतीय आस्तिक दर्शनों ने उन्हें प्रमाण के रूप में माना। वेद को 'श्रुति' भी कहते हैं क्योंकि यह अनादिकाल से गुरु शिष्य की परंपरा से मौखिक रूप से सुरक्षित रहा है।

वेद अनेक विषयों के भंडार हैं

पाश्चात्य विद्वान विल्सन (Wilson) के शब्दों में 'प्राचीन विचारधारा में जो कुछ महत्वपूर्ण है वेद हमें उन सब के विषय में पर्याप्त सूचना देते हैं।'[1] वेदों में आदिकालीन मानव जीवन के सभी पक्षों का वर्णन है। वे दर्शन के साथ ही साथ धर्म कर्मकाण्ड आदि से लेकर अधिकांश विद्याओं के भी आदि स्रोत हैं। वे कोई दार्शनिक ग्रन्थ नहीं हैं जिनमें केवल आध्यात्मिक विचार हों। उनमें लौकिक अलौकिक सभी विषयों का ज्ञान भरा पड़ा है। ज्ञान के लिए कर्म आवश्यक है। अतः वेदों में कर्मकांड का विस्तृत विवरण है।

---

१ J. R. A. S., Vol 13 1852. P 206.

स्थूल रूप से वेद चार है यथा ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद।

चारो वेद वस्तुत एक ही हैं

प्रत्येक वेद के तीन भाग है—मन्त्र, ब्राह्मण और उपनिषद। मन्त्रो के संग्रह 'संहिता' कहलाते हैं। ब्राह्मणो मे कर्मकाण्ड है। उपनिषद और आरण्यक मे दार्शनिक विचार हैं। आरण्यक ब्राह्मण और उपनिषदो के बीच मे आते है। प्रथम तीन वेदो मे नाम, रूप और भाषा के साथ-साथ वस्तु विषय भी मिलता जुलता है अथर्ववेद इनसे भिन्न है। इसमे अनेक बातो का ऐतिहासिक विवरण है। परन्तु स्थूल रूप मे चार होते हुए भी वस्तुत वेद एक ही है।[1] 'अभय ज्योति' नित्य और एक है, इसी प्रकार वेद भी नित्य और एक है।

वैदिक मन्त्रो की व्याख्या के विषय मे पूर्व और पश्चिम के अनेक विद्वानो ने भिन्न-भिन्न मत उपस्थित किये हैं। इनमें से मुख्य निम्नलिखित हैं—

वैदिक मन्त्रो की विभिन्न व्याख्याएँ

(१) प्रकृतिवादी (Naturalistic) व्याख्या—प्रसिद्ध भारतीय टीकाकार सायण वेदमन्त्रो को देवताओ की प्राकृतिक शक्तियों के रूप मे व्याख्या करता है। वेद आदिम धर्म के प्रतीक है। उनका धर्म प्रकृति पूजा (Nature worship) है। आधुनिक पाश्चात्य विद्वान भी इसी मत की पुष्टि करते है। फ्लाइडरेर (Pfleiderer) "ऋग्वेद की आदिम बाल सुलभ सरल प्रार्थना" का जिक्र करता है। डा० राधाकृष्णन के अनुसार "स्थूल रूप से हम कह सकते हैं कि ऋग्वेद एक अकृत्तिम (Unsophisticated) युग का प्रतिनिधित्व करता है। अधिकांश मन्त्र सरल और अकृत्रिम हैं और बाद की कृतिमता से मुक्त मन की धार्मिक चेतना की अभिव्यक्ति करते है।"[2]

(२) ब्लूमफील्ड (Bloomfield) इत्यादि अन्य विद्वानों के अनुसार ऋग्वेद के मन्त्र एक आदिम जाति की बलिदान विधियो की रचनाएँ है जो कि कर्मकाण्ड को अत्यधिक महत्व देती थी। वेद मे वर्णित देवी देवता आदि यज्ञादि की विविध वस्तुओ के प्रतिनिधि हैं। यही कारण है कि वे अधिक गहन नही हैं।

(३) बर्गाइन (Bergaigne) के अनुसार समस्त वैदिक मन्त्र रूपक (Allegory) हैं। मन्त्रो मे वर्णित देवी देवता इत्यादि सामाजिक रीति-रिवाजो को चिह्नात्मक (Symbolical) रूप से प्रकट करते हैं।

---

१ वायु पुराण, ६१—१०४, महाभारत, शान्ति पर्व, २३१-५६-५८

२ History of Indian Philosophy, Vol I, P 69

(४) पिक्टेट (Pictet) का विचार है कि ऋग्वेद के आर्यों में एकेश्वरवाद (Monotheism) था चाहे वह कितना भी अस्पष्ट और प्रारम्भिक रूप में क्यों न हो। अनेक देवी देवताओं का वर्णन होने पर भी वैदिक मंत्रों में एक देवता की ओर प्रवृत्ति मिलती है। अनेक मंत्रों में 'देवाधिदेव' का जिक्र मिलता है। इसका अर्थ है कि वेदों के अनुसार एक परमेश्वर है और अन्य सब उसके देव। रॉथ (Roth) और स्वामी दयानन्द सरस्वती भी इस मत के समर्थक हैं।

(५) राजाराम मोहन राय के विचार में वैदिक देवतागण "एक परमेश के गुणों का आलंकारिक (Allegorical) रूप से प्रतिनिधित्व करते हैं। मंत्रों के भिन्न-भिन्न देवी देवता एक देव के विभिन्न पक्ष हैं जो कि कभी कभी 'महेश्वर' भी कहा गया है।

(६) श्री अरविन्द के अनुसार वेदों में रहस्यवादी दर्शन और गुप्त सिद्धान्त भरे हुए हैं। मंत्रों के देवी देवता मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं के चिह्न हैं। सूर्य बुद्धि का चिह्न है अग्नि संकल्प का चिह्न है और सोम अनुभूति का चिह्न है। वेद प्राचीन यूनान के ऑर्फिक (Orphic) और एल्युसिनियन (Eleusinian) मतों के समान रहस्यात्मक धर्म हैं। श्री अरविन्द के अपने शब्दों में "मैं जो सिद्धान्त उपस्थित करता हूँ वह यह है कि ऋग्वेद स्वयं एक महान अभिलेख है जो कि मानव विचार के उस आदि काल से हमारे पास बचा है जिसके ऐतिहासिक एल्युसिनियम और ऑर्फिक रहस्य असफल अवशेष थे जिस काल से जाति का आध्यात्मिक और मनोवैज्ञानिक ज्ञान कुछ कारणों से जिनको कि अब निश्चित करना कठिन है, चिह्नों के मूर्त और भौतिक रूप के आवरण में छिपा दिया गया था जो कि भ्रष्टों से अर्थ को छिपा लेते थे और दीक्षितों को प्रकट कर देते थे।[1]

उपरोक्त सभी मत आंशिक सत्य हैं

उपरोक्त सभी मत बाह्य रूप से परस्पर विरुद्ध दिखलाई देने पर भी भिन्न भिन्न दृष्टिकोण से एक ही सत्य को देखते हैं। ये सभी आंशिक सत्य हैं क्योंकि वेदों में सभी मंत्र न तो एक ही ऋषि के बनाए हैं और न उनका अर्थ और प्रयोजन ही एक है। अतः इनमें से किसी भी मत को पूर्ण सत्य नहीं माना जा सकता। वेदों में जहाँ दर्शन और धर्म है वहाँ विज्ञान और जादू टोना भी है। वेदों का कोई एक विषय नहीं है। वे अनेक विषयों के ज्ञान के भंडार हैं। अतः सभी मंत्रों की एक सी व्याख्या नहीं की जा सकती। मानव जाति की उस आदि काल के प्रसंग में तत्कालीन ऐति-

1—Arya. Vol I P 60.

हासिक और सामाजिक वातावरण को ध्यान मे रखते हुए वेद मंत्रो का जो सीधा अर्थ प्रतीत होता हो वह समझना ही अधिक उपयुक्त है।

दार्शनिक विचार

वैदिक ऋषि संसार के दुखो से पूणत परिचित थे। एक ओर जहाँ उन्हे प्रकृति के स्वाभाविक व्यापारों को देखकर उसके रहस्य को जानने की जिज्ञासा होती थी वहाँ दूसरी ओर उन्हे सासारिक दुःखो से छूटने की भी अभिलाषा थी। अत परम ज्ञान के साथ साथ परम सुख की खोज वेदों का लक्ष्य है।

परम श्रेय ज्ञान और सुख

वैदिक ऋषियो को मृत्यु से भी भय था। अत उन्होंने दीर्घ जीवन के लिये देवताओं से प्रार्थना की है।[1] उन्हें यह मालूम था कि किस प्रकार की उपासना से कौन सी शक्ति प्रसन्न होती है। उपासना के द्वारा मनोरथ की सिद्धि मे उन्हे पूर्ण विश्वास था।[2] सुख, दुख, ज्ञान, अज्ञान, नित्य, अनित्य, अजर, अमर, अभय, इहलोक, परलोक इत्यादि के ज्ञान से वे 'अभय-ज्योति' स्वरूप परमात्मा के ज्ञान के इच्छुक थे। इसके लिये और परम सुख की प्राप्ति के लिए उन्होने देवताओ से प्रार्थना की है। परम तत्व के ज्ञान के लिये जिज्ञासु अभिमान का परित्याग करके भक्ति सहित आत्म समर्पण कर देता है—यथा "हे आदित्य! मुझे दाहिने और बाएँ का ज्ञान नहीं है और (ज्ञान के बिना) मैं मूढ़ और हतोत्साह हो गया हूँ। यदि आपकी कृपा हो तो मैं अवश्य ही उस 'अभय ज्योति' को प्राप्त कर सकता हूँ।"[3] ज्ञान और सुख की प्राप्ति जीवात्मा और परमात्मा के ऐक्य मे ही हो सकती है। अत वेदो के अनुसार भी 'अभय ज्योति' का साक्षात्कार ही परम श्रेय को पाने का एक मात्र साधन है।

कर्मकाण्ड में अधिकार भेद

स्थूल रूप से वेद को कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड इन दो भागो मे विभक्त किया गया है। ज्ञान काण्ड में आध्यात्मिक चिन्तन का तथा कर्मकाण्ड मे उपासनाओ का विचार है। ये उपासनाएँ अधिकारी के भेद से भिन्न-भिन्न व्यक्तियो के लिए अलग अलग बतलाई गई हैं। सभी कर्मों के करने का सभी को अधिकार नही है। अधिकार के बिना उपासना करने से विघ्न उत्पन्न होता है और प्रयत्न विफल होते हैं। अत वेदों के अनुसार सबको अपने अपने अधिकार-भेद से काम तथा नैमित्तिक कर्म करना चाहिये। ज्ञान के साथ-साथ पवित्र आचरण तथा शुद्ध कर्मों का भी विचार

---

१ ऋग्वेद, १० १६४ ४, अथर्ववेद, ३ २ ४

२. ऋग्वेद, ८ १३ ६

३. ऋग्वेद, २ २७ १४।

आवश्यक है। परम तत्व की प्राप्ति के लिए तपस्याएँ, स्तुतियाँ पवित्र आहार, शुद्ध पान तथा निरन्तर पवित्र विचार और अन्तःकरण की शुद्धि अत्यन्त आवश्यक है। लोभ छल अभिमान क्रोध क्रूरता आदि निन्दनीय कर्मों से तथा अच्छे कर्म में विघ्न डालने वाले देवनिन्दक चोर, दूसरों की उन्नति न सहने वाले ब्राह्मणों के द्वेषी तथा कृपण आदि और दुष्ट कर्म करने वालों से वैदिक ऋषि घृणा करते थे।[1] ऐन्द्रजालिक अभिचार चरित्र को नष्ट करने वाली चेष्टा तथा व्यभिचार आदि कर्म करने वालों को 'नारकीय जीव' कहते थे।[2] अच्छे आचरण करने वाले देवताओं को 'धृतव्रत' 'मायरथा' 'सत्यराधस' 'सत्य धर्मा', 'व्रतकर्मपालक' 'सुकर्म कृत्' इत्यादि कहा जाता था।[3]

कर्म का सिद्धान्त

वेद कर्मवाद को मानते हैं। 'शुभस्पति' (अच्छे कर्मों का रक्षक), 'शिव स्पति' (अच्छे कर्मों के रक्षक) 'विश्वपति' तथा "विश्वचर्षणि" (शुभ और अशुभ कर्मों के द्रष्टा) 'विश्वस्य कर्मणो धर्ता' (सभी कर्मों के आधार) आदि पदों का वेदों में देवताओं के विशेषणों के रूप में प्रयोग हुआ है। कई मंत्रों में यह स्पष्ट कहा गया है कि शुभ कर्मों के करने से अमरत्व की प्राप्ति होती है। जीव अपने कर्मों के अनुसार अनेक बार इस संसार में जन्म लेता और मरता है। वामदेव ने अपने अनेक पूर्व जन्मों का वर्णन किया है।[4] वेदों के अनुसार पूर्व जन्म के दुष्ट कर्मों के कारण लोग पाप कर्म में प्रवृत्त होते हैं।[5] इस प्रकार वेद के अनुसार जीव को अगले जन्म में अपने शुभ और अशुभ कर्मों का फल भोगना पड़ता है। वेद में पूर्व जन्म के किये हुए पाप कर्मों से छुटकारे की भी प्रार्थना की गई है।[6] उसमें संचित तथा प्रारब्ध कर्मों का भी वर्णन है।[7] अच्छे कर्म करने वाले लोग मरने के बाद 'देवयान' मार्ग द्वारा ब्रह्मलोक को जाते हैं और साधारण कर्म करने वाले 'पितृयान' मार्ग से चन्द्रलोक को जाते हैं। पूर्व जन्म के नीच कर्मों के भोग के लिए जीव वृक्ष लता आदि स्थावर शरीर में प्रवेश करता है।[8] कभी-कभी एक जीव को दूसरे के कर्मों

१—ऋग्वेद, १ १२-१; १ १०-२ इत्यादि।
२—ऋग्वेद ४ ५ ५।
३—ऋग्वेद १ १ ५; १ १६-७ इत्यादि।
४—ऋग्वेद ४ २६ २७।
५—ऋग्वेद, ७-८६-६।
६—ऋग्वेद, ६-२ ११।
७—ऋग्वेद १-१८-२।
८—ऋग्वेद १-२५ १२।
९—ऋग्वेद, ७-६ १।

हासिक और सामाजिक वातावरण को ध्यान मे रखते हुए वेद मन्त्रों का जो सीधा अर्थ प्रतीत होता हो वह समझना ही अधिक उपयुक्त है।

दार्शनिक विचार

परम श्रेय ज्ञान और सुख

वैदिक ऋषि ससार के दु खो से पूर्णत परिचित थे। एक ओर जहाँ उन्हें प्रकृति के स्वाभाविक व्यापारो को देखकर उनके रहस्य को जानने की जिज्ञासा होती थी वहाँ दूसरी ओर उन्हे सांसारिक दु खो से छूटने की भी अभिलाषा थी। अत परम ज्ञान के साथ साथ परम सुख की खोज वेदों का लक्ष्य है। वैदिक ऋषियो को मृत्यु से भी भय था। अत उन्होंने दीर्घ जीवन के लिये देवताओ से प्रार्थना की है।[1] उन्हे यह मालूम था कि किस प्रकार की उपासना से कौन सी शक्ति प्रसन्न होती है। उपासना के द्वारा मनोरथ की सिद्धि मे उन्हे पूर्ण विश्वास था।[2] सुख, दुख, ज्ञान, अज्ञान, नित्य, अनित्य, अजर, अमर, अभय, इहलोक, परलोक इत्यादि के ज्ञान से वे 'अभय-ज्योति' स्वरूप परमात्मा के ज्ञान के इच्छुक थे। इसके लिये और परम सुख की प्राप्ति के लिए उन्होंने देवताओ से प्रार्थना की है। परम तत्व के ज्ञान के लिये जिज्ञासु अभिमान का परित्याग करके भक्ति सहित आत्म समर्पण कर देता है—यथा "हे आदित्य! मुझे दाहिने और बाएँ का ज्ञान नहीं है और (ज्ञान के बिना) मैं मूढ और हतोत्साह हो गया हूँ। यदि आपकी कृपा हो तो मैं अवश्य ही उस 'अभय ज्योति' को प्राप्त कर सकता हूँ।"[3] ज्ञान और सुख की प्राप्ति जीवात्मा और परमात्मा के ऐक्य मे ही हो सकती है। अत वेदो के अनुसार भी 'अभय ज्योति' का साक्षात्कार ही परम श्रेय को पाने का एक मात्र साधन है।

कर्मकाण्ड में अधिकार भेद

स्थूल रूप से वेद को कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड इन दो भागो मे विभक्त किया गया है। ज्ञान काण्ड मे आध्यात्मिक चिन्तन का तथा कर्मकाण्ड में उपासनाओ का विचार है। ये उपासनाएँ अधिकारी के भेद से भिन्न-भिन्न व्यक्तियो के लिए अलग अलग बतलाई गई है। सभी कर्मों के करने का सभी को अधिकार नही है। अधिकार के बिना उपासना करने से विघ्न उत्पन्न होता है और प्रयत्न विफल होते हैं। अत वेदों के अनुसार सबको अपने अपने अधिकार-भेद से काम्य तथा नैमित्तिक कर्म करना चाहिये। ज्ञान के साथ-साथ पवित्र आचरण तथा शुद्ध कर्मो का भी विचार

---

१ ऋग्वेद, १० १६४ ४, अथर्ववेद, ३ २ ४

२. ऋग्वेद, ८ १३ ६

३. ऋग्वेद, २ २७ १४।

ऋग्वेद के नासदीय-सूक्त[1] में सृष्टि की क्रिया का विशद वर्णन किया गया है। इस सूक्त के अनुसार सृष्टि के आरम्भ में न 'सत्' न 'अन्तरिक्ष' और न 'व्योम' ही था। मृत्यु का भय भी नहीं था। केवल वह 'एक' था। उसके अतिरिक्त कोई भी नहीं था। सर्वत्र अंधकार था। जल था प्रकाश नहीं था। वह 'एक' 'तपस' से उत्पन्न हुआ। यह 'तपस' सृष्टि के प्रारम्भ में एक अव्यक्त चेतन था। कालान्तर में इससे ही सृष्टि के वैभिन्य अभिव्यक्त हुए। यह तपस ही सर्वव्यापी शक्ति है। इसीसे ज्ञान शक्ति इच्छा शक्ति और क्रिया शक्ति की अभिव्यक्ति होती है। यजुर्वेद के 'पुरुष सूक्त'[2] में भी यही विचार है कि एक व्यापक शक्ति से जगत की उत्पत्ति हुई। इस व्यापक शक्ति को वेद में अनेक नाम दिये गए हैं। इसी का 'विश्वकर्मा' के रूप में वर्णन है। यही अदितीय सर्वव्यापक अव्यक्त 'एक' है। इसी को ऋग्वेद में 'अमर्त्य ज्योति' 'परम व्योमन्', 'परमपद' 'अव्यक्त' आदि कहा गया है। यही परम ध्येय है। इसी के साक्षात्कार से दुःख की निवृत्ति होती है।

नासदीय-सूक्त

वैदिक देवगण

ऋग्वेद के लगभग सभी मन्त्र देवताओं की स्तुति में बनाए गए हैं। ये देवगण प्रकृति की विभिन्न शक्तियों के स्वामी अथवा उनके द्वार थे। अतः ये एक दूसरे से बिलकुल पृथक् अथवा ग्रीक देवताओं के समान सुनिश्चित नहीं थे। जिस प्रकार प्राकृतिक शक्तियाँ एक दूसरे से सम्बन्धित हैं उसी प्रकार ये देवतागण भी परस्पर सम्बन्धित हैं। विभिन्न देवताओं की स्तुति के लिए लगभग एक से ही मंत्रों का प्रयोग किया गया है। वैदिक देवगणों का कोई स्पष्ट व्यक्तित्व नहीं है।

इन अनेक देवगणों को देखकर ऐसा प्रतीत हो सकता है कि वेद बहुदेववादी (Polythentic) थे। दूसरी ओर कुछ लोगों का यह मत है कि वेद केवल एकेश्वरवादी (Monothelstic) हैं। परन्तु ये दोनों ही मत एकांगी हैं। वास्तव में आदि से अन्त तक समस्त सूक्त एक ही प्रकार के नहीं हैं और न वेद एक ही ऋषि के द्वारा या एक काल में रचे प्रतीत होते हैं। वैदिक विचारधारा में भी एक क्रमिक विकास दिखाई पड़ता है। वास्तव में उसके बहुदेववादी और एकदेववादी दोनों प्रवृत्तियाँ हैं। बहुदेववाद के समान वैदिक देवगण अपनी अपनी पृथक सत्ता नहीं रखते। वे या तो

हीनोथीज्म
(H notheism)

---

१ ऋग्वेद १०-१२९।
२ यजुर्वेद ३१ अध्याय।

का भी भोग करना पडता है। इस प्रकार वेद मे कर्म का सभी पहलुओ से विचार किया गया है।

मानव जीवन मे जो स्थान कर्म का है वही स्थान जगत के जीवन मे ऋतु

ऋतु का सिद्धान्त

का है। ऋतु का अर्थ है वस्तुओ का मार्ग। यह जगत के पदार्थो मे व्यवस्था दिखलाता है। जगत की व्यवस्था के पीछे छिपे सिद्धान्त को वेद ने ऋतु कहा है। यह विचार प्रारम्भ मे सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र गण, दिन, रात और ऋतुओ आदि की व्यवस्थित गति को देखकर उठा होगा। ऋतु जगत की सभी वस्तुओं से पहले है और वस्तु जगत उसकी अभिव्यक्ति मात्र है। जगत परिवर्तनशील है। ऋतु नित्य है और सबका पिता है। स्वर्ग और नरक ऋतु के कारण ही अपने इस स्वरूप में हैं।[1] प्रारम्भ मे ऋतु का अर्थ "सूर्य, चन्द्र, तारे, सुबह, शाम, दिन, रात आदि" जगत का निश्चित मार्ग था। परन्तु कालान्तर मे वह मानव और देवताओ का नैतिक मार्ग हो गया। सूर्य ऋतु के मार्ग का अनुसरण करता है।[2] समस्त जगत ऋतु पर आधारित है और उसी मे चलता है।[3] इस प्रकार भौतिक नियम कालान्तर मे नैतिक नियम बन जाता है। वरुण को 'ऋतुस्य गोप' कहा गया है। इन्द्र से प्रार्थना की गई है 'हे इन्द्र! हमे ऋतु के मार्ग पर ले चलो, समस्त पापो से बचा कर सही मार्ग पर ले चलो।"[4] ऋतु के सिद्धात से देवताओ के स्वभाव मे भी अन्तर हो गया। जगत आकस्मिक घटना मात्र न रहकर एक व्यवस्थित प्रयोजन की सिद्धि का साधन बन गया।

जगत की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे वेदो मे अनेक भिन्न भिन्न विचार हैं।

सृष्टि का विचार

'अग्नि' से जगत की उत्पत्ति मानी गई है। बाद मे 'सोम' से पृथ्वी, आकाश, दिन, रात, जल तथा ओषधियो की उत्पत्ति मानी गई है। 'त्वष्टा' से समस्त जीवो को उत्पन्न माना गया है। 'इन्द्र' ने समस्त पृथ्वी तथा आकाश को उत्पन्न किया। उन्होने ही तीनों लोकों और जीवो को उत्पन्न किया। इसी प्रकार कभी 'विश्वकर्मा' और कभी 'वरुण' आदि को ससार का सृष्टा कहा गया है। वास्तव मे इस विविध वर्णन से यह बात स्पष्ट होती है कि वेद मे साधको को जिस किसी देवता से काम लेना हुआ उसे ही सृष्टा बना दिया। दूसरे इससे यह भी समझा जा सकता है कि वेदो में भिन्न भिन्न देवताओ में अभेद माना गया है।

---

१ ऋग्वेद, १०-१२१-१।

२ ऋग्वेद, १-२४ ८।

३ ऋग्वेद, ४-२३-६।

४ ऋग्वेद, १०-१३३-६।

कहा जा सकता है और न पूर्ण एकेश्वरवाद ही क्योंकि इसमें दोनों की ही प्रवृत्तियाँ मिलती हैं।

अद्वैतवाद

एकेश्वरवाद से भी आगे बढ़कर वैदिक दर्शन में एकवाद अथवा अद्वैतवाद (Monism) का भी विचार मिलता है। निम्नलिखित कुछ उदाहरणों से अद्वैतवाद की पुष्टि होती है:

(१) "एक ही सत है, विद्वान उसे अनेक मानते हैं।"
"एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति"।[1]

(२) "जो कुछ है जो कुछ था और जो कुछ होगा वह पुरुष ही है।
'पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतंयच्च भाव्यम्"।[2]

(३) देवताओं का वास्तविक सार एक ही है।
"महद् देवानाम् असुरत्वमेकम्"।[3]

(४) हम जगत के परम देव को आहुति देते हैं जो कि इस जगत के प्रत्येक कण, सम्पूर्ण सत्ता में व्याप्त है और जो आनन्दमय और अनिर्वचनीय है।
"कस्मै देवाय हविषा विधेम। —ऋग्वेद, १०-१२१ १।
'कस्मै अथ कि शब्दोऽनिर्ज्ञातस्वरूपत्वात् प्रजापतौ वर्तते। यद् वा कं सुखं तद्रूपत्वात्। —सायणभाष्य।

(५) वह इस जगत का आत्मा, निष्काम आत्मनिर्भर, अमर, स्वयं सिद्ध, आनन्दमय सर्वश्रेष्ठ, सदैव युवा और शाश्वत है। उसके ज्ञान से ही मृत्यु को जीता जा सकता है।
तमेव विद्वान न बिभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम्।
—अथर्ववेद १०-८-४४
तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।
—यजुर्वेद

(६) वह इस समस्त सृष्टि में अन्तःस्थ भी है तब भी वह उससे परे है।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि—ऋग्वेद १०-९०-३।

(७) समस्त देवगण इस विश्वात्मा के शरीर के अंग हैं।
एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति। निरुक्त—७-४ १।

(८) अनिर्वचनीय ही समस्त नाम रूप और समस्त सृष्टि का आधार है।
उच्छिष्टे नाम रूपं चोच्छिष्टे लोक आहितः। अथर्ववेद ११-९ १।

१—ऋग्वेद १ १६४ ४६।
२—ऋग्वेद १०-९०।
३—ऋग्वेद [illegible]

महत्वहीन हो जाते है या क्रमशः परमदेव बन जाते है। वैदिक ऋषि प्रकृति के राज्य मे रहते थे। जिस प्राकृतिक शक्ति को देखकर उन्हे भय या आश्चर्य होता था वे उसी की पूजा करने लगते थे। जिस समय जो शक्ति उन्हे अधिक प्रभावित करती वही परमदेव बन जाती। इस प्रवृत्ति को प्रो० मैक्समुलर ने हीनोथीज्म (Henotheism) अथवा कैथीनाथीज्म (Kathenotheism) कहा है अर्थात् "अकेले देवताओ मे विश्वास जिसमे से प्रत्येक बारी बारी मे सर्वोच्च हो। और क्योकि देवगण अपने क्षेत्र मे विशेष रूप मे शासन करने वाले समझे जाते थे, अत अपने विशेष प्रयोजनो और इच्छाओ के अनुसार गायको ने उसी का स्मरण किया जिस देवता मे वे उस विषय मे सर्वाधिक शक्ति समझते थे—अथवा यदि हम यह कह लें कि जिसके विभाग मे उनकी इच्छा पडती थी वही देवता गायक के मन मे उपस्थित है, कुछ समय के लिए उसमे ही देवत्व के समस्त गुण हैं – वह सर्वोच्च, एकमात्र देव है जिसके सन्मुख सभी अन्तर्ध्यान हो जाते हैं—यद्यपि इसमे किसी अन्य देवता को नीचा नही किया गया है।"[1] अत अनेक विद्वानो के अनुसार वेद मे बहुदेववाद से हीनोथीज्म और फिर एक देववाद की ओर विकास हुआ है। मैक्डोनल (Macdonell) के अनुसार इस सिद्धान्त के विरुद्ध यह कहा गया है कि वैदिक देवताओ को "बाकी सबमे स्वतन्त्र" नही दिखलाया गया है क्योकि और कोई भी धर्म अपने देवताओ को इससे अधिक परस्पर सयुक्त नही करता और वेद के सर्वशक्तिमान देवतागण भी दूसरो पर निर्भर हैं। इस प्रकार वरुण और सूर्य इन्द्र के आधीन हैं (१-१०१), वरुण और अश्विन विष्णु की शक्ति के आधीन हैं। "जब कभी किसी देवता को अद्वितीय अथवा 'एक' कहा गया है, जैसा कि स्तुतियो मे स्वाभाविक है, तब भी उस प्रसग अथवा उसी सूत्र के परिवर्द्धनो से ऐसे वाक्य अपनी अस्थायी एकेश्वर वादी शक्ति खो देते हैं।" अत मैक्डोनल के अनुसार 'हीनोथीज्म' एक सत्य न होकर के प्रतीति मात्र है जो कि अविकसित मानवेश्वरवाद (Anthropomorphism) की अस्पष्टता के कारण, वैदिक देवगणों मे किसी भी देवता को ज्यूस (Zeus) के समान अध्यक्ष का पद न मिलने का कारण, एक देवता की स्तुति करते समय उसकी महानता की अतिश्योक्ति करने और दूसरो की अवहेलना करने की साधक अथवा गायक की स्वाभाविक प्रवृत्ति के कारण और देवताओ की एकता मे बढ़ते हुए विश्वास का कारण था जिनमे से प्रत्येक दैवी शक्ति का एक विशेष रूप माना जा सकता था।"[2] वस्तुत चाहे इस अवस्था को हीनोथीज्म कहा जाय अथवा और कुछ, इसको न तो बहुदेववाद

१ The Rigveda by Kaegi P 27
२ Vedic Mythology P 16-17

वेदों और उपनिषदों का दर्शन

जब वेदों का सहज स्वाभाविक दर्शन ब्राह्मणों के कर्मकाण्ड में खो गया तब उपनिषदों के रूप में विचार की प्रतिक्रिया उपस्थित हुई। वेदों से उपनिषदों की ओर विकास में हम वेद और उपनिषद की विचार धाराओं में पर्याप्त अन्तर पाते हैं। उपनिषद भारतीय दर्शन के इतिहास में उस युग के प्रतीक हैं जब वेदों से निकली भारतीय दर्शन गंगा ब्राह्मण ग्रंथों के संकीर्ण और कठोर पथ को पार करके उपनिषदों में उपयुक्त भूमि पाकर इतनी धाराओं में बँट गई कि उनको देखकर उसके स्रोत उद्गम का अनुमान लगाना भी कठिन हो गया।

वेदों से उपनिषदों तक विकास में हम वैदिक और औपनिषदीय विचार धारा में निम्नलिखित अन्तर पाते हैं—

वेद और उपनिषद की विचारधारा में अन्तर

(१) वस्तु विषयक धर्म से आत्म विषयक धर्म की ओर प्रगति—वेदों में प्रकृति की शक्तियों को देवी-देवताओं के रूप में मानकर उनकी स्तुति में स्तोत्र कहे गये हैं। इस प्रकार वैदिक धर्म बहिर्मुख था और उपनिषदों में धर्म अन्तर्मुखी था। उपनिषदों ने ईश्वर को आत्मा में देखा। वैदिक ऋषियों ने जगत् की रचना को देखकर आश्चर्य किया और प्राकृतिक शक्तियों में ईश्वर को देखा। अतः वेदों की प्रार्थना और कर्मकाण्ड का स्थान उपनिषदों में चिन्तन मनन और निदिध्यासन ने ले लिया।

(२) इस प्रकार धर्म के साथ साधना पक्ष में भी परिवर्तन हुआ। वेदों में साधना बहिर्मुखी थी और उपनिषदों में साधना अन्तर्मुखी। आत्मा के ज्ञान के लिए मानव का अन्तर्मुखी होना आवश्यक है। श्वेताश्वतर उपनिषद के ऋषि को क्षोभ है कि "नौ द्वारों के इस शरीर रूपी पुर में बद्ध हंस बाहर निकलने के लिए बार-बार पंख फड़फड़ाता है।"[1] कठोपनिषद के अनुसार भी मन स्वभाव से ही बहिर्मुखी है। अतः मन की प्रवृत्तियों को रोक कर उसे अन्तर्मुखी बनाना उपनिषदों की साधना का पहला कदम था।

---

१ नव द्वारे पुरे देही हंसो लेलायते बहिः। श्वे III १८.

इसी अद्वैतवाद के आधार पर बाद मे ब्राह्मण ग्रन्थो मे आत्मा और ब्रह्म तथा इन दोनो की एकता का विचार मिलता है जो उपनिषदो मे विकसित होकर समस्त भारतीय दर्शन का मूल सात्विक विचार बन जाता है। इस प्रकार वेद मत्र केवल आदिम युगीन धर्मग्रथ ही नहीं ह बल्कि उनमे बाद की भारतीय दार्शनिक विचारधाराओ के मूल सूत्र विद्यमान है। वेद के कर्म-काण्ड को ब्राह्मण ग्रन्थो ने और ज्ञान कान्ड को आरण्यको तथा उपनिषदो ने विकसित किया। भगवद्गीता का ईश्वरवाद तक वेदो मे वरुण की पूजा से प्रेरणा लेता है। ऋतु और कर्म का सिद्धान्त बाद के भारतीय दर्शनो मे अत्यन्त विकसित और महत्वपूर्ण बन गया है। वैदिक विचार दर्शन की बाल्यावस्था मे होने पर भी अत्यन्त ओजस्वी और उत्साहपूर्ण है। उसमे ज्ञान और धर्म का समन्वय है। उसमे प्राकृतिक शक्तियो की ओर मानव की आदिम प्रतिक्रियाएँ निहित है। और सर्वोपरि उसमे मानव और प्रकृति के अवयवीय सम्बन्ध तथा उन दोनो मे अवस्थित परम शक्ति का दर्शन है। इस दर्शन की साधना ही भारतीय दर्शनो का परम लक्ष्य था। अत चाहे वेद का दर्शन कितना ही सरल और प्रारभिक क्यो न हो वह भारतीय दार्शनिक विचारो का आदि स्रोत है।

गोष्ठी (Section) विशेषकर एक ऐसी गोष्ठी से था जिसमें शिष्य गण गुरु के चारों ओर थोड़ा अन्तर लेकर एकत्रित हुए हों। डायसन (Deussen) ने अपने ग्रंथ Philosophy of Upanishads" में उपनिषद का अर्थ रहस्यमय उपदेश (Secret Instruction) बतलाया है। डा राधा कृष्णन के अनुसार कभी-कभी उपनिषद शब्द का अर्थ उस "ज्ञान" से है जो भ्रम को नष्ट करके हमें सत्य की ओर पहुँचने योग्य बनाता है। तैत्तरीय उपनिषद की टीका के प्रारम्भ में शंकराचार्य ने कहा है कि "ब्रह्म ज्ञान" उपनिषद कहलाता है क्योंकि जो उसकी साधना करते हैं उनके जन्म-मरण इत्यादि के बन्धन खुल जाते हैं अथवा क्योंकि उनको बिलकुल नष्ट कर देता है अथवा क्योंकि वह शिष्य को ब्रह्म के बहुत निकट ले जाता है अथवा क्योंकि वहाँ परमेश्वर का निवास है। उपनिषदों को 'वेदान्त' (वेद+अन्त) भी कहा जाता है। अतः उनमें वेदों के निचोड़ को लेकर उनको शुद्ध, उत्तम और उच्चतम बनाया गया है।

उपनिषदों की व्याख्या के विषय में उपरोक्त सभी बातों में केवल थोड़ा-बहुत भेद है। इन सभी का यथार्थ अर्थ समझकर उनका समन्वय करने से उपनिषद क्या है, यह स्पष्ट हो जायगा।

भारतीय दर्शन के इतिहास में जब-जब महान क्रांतियाँ हुई हैं तब-तब दार्शनिकों ने उपनिषदों से ही मार्ग दर्शन पाया है।

उपनिषदों का महत्व

वेदों के पश्चात् उपनिषदों का काल भारतीय दर्शन के इतिहास में महानतम क्रांतिकारी युग था। इसके पश्चात् जब गीता का आविर्भाव हुआ तब वह भी उपनिषदों के निचोड़ को ही देने का एक प्रयास था। पुनः वेदान्त दर्शन के महान भाष्यकारों ने उपनिषदों के आधार पर ही अपनी दार्शनिक अट्टालिकाएं खड़ी कीं। आज भी जब संसार में दर्शन और धर्म बुद्धि और श्रद्धा विज्ञान और नैतिकता में समन्वय की आवश्यकता है तब उपनिषद ही संसार का मार्ग दर्शन कर सकते हैं। प्रो रानडे (Ranade) के अनुसार उपनिषद ही हमें एक ऐसी दृष्टि दे सकते हैं जो मानव की दार्शनिक वैज्ञानिक और धार्मिक भावों की एक साथ ही पूर्ति कर सकें क्योंकि उनसे हमें प्रत्यक्ष सहज और रहस्यवादी अनुभूति से प्रतिपादित एक ऐसा दृष्टिकोण मिलता है जिसका कोई भी विज्ञान खंडन नहीं कर सकता जो समस्त दर्शन का परमतत्व और समस्त धर्मों का आन्तरिक सत्य है।[1] अति प्राचीन काल से भारतीय और पाश्चात्य विचारक उपनिषदों का महत्व पहचान कर उनसे लाभ उठाते आए हैं। डा गोल्डस्टूकर (Goldstu-

---

१ A Constructive Survey of Upanishadic Philosophy P 2.

(३) वैसे तो वैदिक काल मे भी समस्त विचार मे व्यावहारिक नैतिक प्रयोजन दिखाई पडता है परन्तु उपनिषदो मे यह प्रयोजन और भी स्पष्ट हो गया। उपनिषदो का परम श्रेय आत्मा को पाना है। उनका लक्ष्य विज्ञान अथवा दर्शन न होकर सम्यक् जीवन था। बौद्धिक प्रयास को नैतिक विकास से गौण माना गया है। यहाँ पर यह ध्यान रखने की बात है कि वेदो से भिन्न विचारधारा रखते हुए भी उपनिषदो के दृष्टाओ के हृदय मे भूतकाल के लिए आदर की भावना उपस्थित थी। अत वास्तव में उपनिषदो के दृष्टाओ ने कर्मकाण्ड के भार से वैदिक विचार को मुक्त करके उसी को आगे बढाया है।

(४) इस प्रकार उपनिषदो का अद्वैतवाद वैदिक विचारधारा पर ही आधारित है। वेदो के पुरुष सूक्त में हम जिस एक सार्वभौम सत्ता का आभास पाते हैं वहाँ उपनिषदो में घट-घट व्यापक ब्रह्म के रूप में प्रकट होता है।

(५) उपनिषदो में वैदिक धर्म का स्थान दर्शन और वैदिक भावुकता तथा कल्पना का स्थान विचार और तर्क ले लेता है। उपनिषद सत्य के जिज्ञासु थे। उनका लक्ष्य देवी देवताओ को प्रसन्न करना नही बल्कि आत्मत्याग (Self-Realization) था। इसीलिए उनमे वेदो के बाल सुलभ आनन्द के स्थान पर वर्तमान जीवन से असतोष और वैराग्य दिखलाई पडता है।

(६) इसी कारण कभी-कभी उपनिषदो में वेदो की अवहेलना ही नही बल्कि तिरस्कार भी किया गया है। उपनिषदो के दृष्टा रहस्यवादी दार्शनिक थे। उन्होंने वेदो के भक्तो से स्पष्ट कहा "नेदम् यद इदं उपासते अर्थात् जिसकी तुम उपासना करते हो वह परम सत नही है।" रहस्यवादी दृष्टा के लिए आत्म साक्षात्कार ही सब कुछ है। आत्मा को पाने के बाद उसका वेदादि में कोई प्रयोजन नही रह जाता।

उपनिषद क्या है ?

शाब्दिक रूप में उपनिषद का अर्थ है "निकट श्रद्धा सहित बैठना" (उप+नि+पद)। इसका अर्थ है कि गुरु के समीप उपदेश सुनने के लिए श्रद्धा सहित बैठना। उपनिषद मे गुरु और शिष्यो के वार्तालाप ही भरे पडे हैं। क्रमश उपनिषद का अर्थ गुरु से पाया हुआ "रहस्य" ही हो गया है। उपनिषद ग्रथो मे उपनिषद शब्द का प्रयोग बहुधा 'रहस्य' के अर्थ में किया गया है। हो सकता है कि आरम्भ में उपनिषद शब्द का प्रयोग 'महावाक्यों' के लिए किया जाता हो। 'अह ब्रह्मास्मि' तथा 'तत्वमसि' इसी प्रकार के रहस्यमय महावाक्य हैं। प्रो० मैक्समूलर (Maxmuller) ने अपने उपनिषदो के अनुवाद में यह मत उपस्थित किया है कि उपनिषद का प्रारंभिक अर्थ एक

प्रकार से सोचते हैं। कुछ कहते हैं कि उसका अस्तित्व अब भी है, अन्य कहते हैं कि उसका अस्तित्व समाप्त हो गया।[1]

(३) बौद्धों के दुःखवाद और क्षणिकवाद का मूल नचिकेता के "सर्वं दुःखम्" और 'सर्वं क्षणिकं क्षणिकं' वाक्यों में मिल सकता है।

(४) जैन और बौद्ध धर्म की भिक्षु व्यवस्था का उद्गम बृहदारण्यक उपनिषद के इस विचार में पाया जा सकता है कि संसार से ऊबे हुए मनुष्य को धन पुत्रादि की इच्छाओं से ऊपर उठकर भिक्षा का जीवन व्यतीत करना चाहिये।[2]

(५) विज्ञानवाद के तत्त्व विचार और ज्ञान विचार का मूल सूत्र ऐतरेयोपनिषद के इस श्लोक में मिल सकता है जिसमें कहा गया है कि इस संसार की समस्त स्थावर तथा जंगम सत्ता अण्डज जारज स्वेदज उद्भिज्ज अश्व गाय पुरुष इत्यादि सभी प्रज्ञा से जाने जाते हैं और प्रज्ञा में ही प्रतिष्ठित हैं।[3]

(६) बौद्ध दर्शन का पुनर्जन्म सिद्धान्त कठोपनिषद के इस वाक्य में पाया जा सकता है कि आत्माएँ अपने कर्मों अथवा ज्ञान के अनुसार नवीन शरीर धारण करती हैं।[4]

इस प्रकार बौद्ध धर्म के सभी मुख्य सिद्धान्त शून्यवाद अनात्मवाद दुःखवाद विज्ञानवाद, क्षणिकवाद स्थविर संघ कर्मवाद ज्ञानवाद और ज्ञान का सिद्धान्त उपनिषदों पर आधारित हैं।

सांख्य दर्शन और उपनिषद

सांख्य और उपनिषदों के परस्पर सम्बन्ध पर गार्बे (Garbe) ने काफी प्रकाश डाला है। यद्यपि 'सांख्य' शब्द का प्रयोग सबसे पहले श्वेताश्वतर उपनिषद में ही हुआ है तथापि सांख्य दर्शन के सिद्धान्तों को उससे पूर्व के उपनिषदों में भी पाया जा सकता है। सांख्य और उपनिषदों के यह सम्बन्ध निम्नलिखित हैं—

---

१ येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये अस्तीत्येके नायमस्तीति चैके। क. I 8. 20

२ "ते ह स्म पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थाय अथ भिक्षाचर्यं चरन्ति" —बृ IV-४ २२

३ "इमानि च पञ्चमहाभूतानि ...... अण्डजानि च जारुजानि च स्वेदजानि च उद्भिज्जानि च अश्वा गावः पुरुषाः ...... यत्किंचेदं प्राणि जंगमं च पतत्रि च यच्च स्थावरं सर्वं तत्प्रज्ञानेत्रं प्रज्ञाने प्रतिष्ठितम्।" —ऐ III. ३

४ योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः। स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथा कर्म यथा श्रुतम्। क. II ५. ७.

cher) के अनुसार उपनिषद भारत की प्राचीन आत्मा का आधार है। गेडेन (Geden) ने यह संकेत किया है कि भारत में धार्मिक सुधार के सभी प्रयास उपनिषदों के अध्ययन से उत्पन्न हुए हैं। दयानन्द और राजा राममोहन राय जैसे भारतीय मनीषियों को उपनिषदों से ही प्रेरणा मिली। मीड (Mead) ने उपनिषदों को विश्व-ग्रंथ (World Scripture) कहा है। इन सबके अतिरिक्त शोपेनहावर (Schopenhauer), महात्मा गांधी, श्री अरविंद, शंकर, रामानुज इत्यादि सैकड़ों दार्शनिकों और विचारकों ने समय-समय पर उपनिषदों से प्रकाश पाया है।

भारतीय दर्शनों के आदि स्रोत

ब्लूमफील्ड (Bloomfield) ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'The Religion of Veda" में लिखा है "नास्तिक बौद्ध मत को लेकर, हिन्दू विचारों का कोई भी महत्वपूर्ण रूप ऐसा नहीं है जिसका मूल उपनिषदों में न हो।" सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत इत्यादि आस्तिक मत और जैन तथा बौद्ध आदि नास्तिक मतों के भी मुख्य सिद्धान्त उपनिषदों में मिलते हैं। द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत आदि भिन्न भिन्न दार्शनिक विचार धाराएँ उपनिषदों के आधार पर ही खड़ी हुई हैं। उपनिषद तथा विभिन्न भारतीय दर्शनों के इस सम्बन्ध के अध्ययन से दोनों को ही समझने में सहायता मिलेगी।

उपनिषद और बौद्ध दर्शन

ओल्डनबर्ग के अनुसार उपनिषदों ने ही बौद्ध दर्शन के लिए मार्ग प्रशस्त किया। रायज डेविड्स (Rhys Davids) कहते हैं "गौतम जन्म से हिन्दू थे, हिन्दू के समान पले, हिन्दू जीवन व्यतीत किया और हिन्दू के रूप में ही मरे।" निम्नलिखित कुछ उदाहरणों से बौद्ध दर्शन और उपनिषदों का यह घनिष्ठ सम्बन्ध स्पष्ट हो जायगा—

(१) बौद्ध शून्यवाद का उद्गम छान्दोग्य उपनिषद में है जहाँ कि यह कहा गया है कि प्रारम्भ में केवल असत् ही था और बाद में उसी से सत् की उत्पत्ति हुई।[१] शंकराचार्य ने भी इस तथ्य की पुष्टि की है।

(२) इसी असत् के आध्यात्मिक आधार पर बुद्ध ने अनात्मवाद की प्रतिष्ठा की। बौद्धों के "अनत्तवाद" अथवा नैरात्म्यवाद का मूल रूप कठोपनिषद के उस श्लोक में मिलता है जिसमें कि यह कहा गया है कि जब एक मनुष्य मर जाता है तो उसकी प्रेरक आत्मा के विषय में अनेक लोग अनेक

---

१ तद्ध एक आहुर सदेवेदमग्र आसीत्। एक मेवाद्वितीयम्। तस्मादसत सज्जायत। छां VI 2 I

प्रकार से सोचते हैं। कुछ कहते हैं कि उसका अस्तित्व अब भी है, अन्य कहते हैं कि उसका अस्तित्व समाप्त हो गया।[1]

(३) बौद्धों के दुःखवाद और क्षणिकवाद का मूल नचिकेता के "सर्वं दुःखम्' और सर्वं क्षणिकं क्षणिकं" वाक्यों में मिल सकता है।

(४) जैन और बौद्ध धर्म की भिक्षु व्यवस्था का उद्गम बृहदारण्यक उपनिषद के इस विचार में पाया जा सकता है कि संसार से ऊबे हुए मनुष्य को धन पुत्रादि की इच्छाओं से ऊपर उठकर भिक्षा का जीवन व्यतीत करना चाहिए।[2]

(५) विज्ञानवाद के तत्त्व विचार और ज्ञान विचार का मूल सूत्र ऐतरेयोपनिषद के इस श्लोक में मिल सकता है जिसमें कहा गया है कि इस संसार की समस्त स्थावर तथा जंगम सत्ता अण्डज जारुज स्वेदज उद्भिज अश्व गाय पुरुष इत्यादि सभी प्रज्ञा से जाने जाते हैं और प्रज्ञा में ही प्रतिष्ठित हैं।[3]

(६) बौद्ध दर्शन का पुनर्जन्म का सिद्धान्त कठोपनिषद के इस वाक्य में पाया जा सकता है कि आत्माएँ अपने कर्मों अथवा ज्ञान के अनुसार नवीन शरीर धारण करती हैं।[4]

इस प्रकार बौद्ध धर्म के सभी मुख्य सिद्धान्त शून्यवाद अनात्मवाद दुःखवाद, विज्ञानवाद, क्षणिकवाद, स्थविर धर्म कर्मवाद ज्ञानवाद और ज्ञान का सिद्धान्त उपनिषदों पर आधारित हैं।

सांख्य दर्शन और उपनिषद

सांख्य और उपनिषदों के परस्पर सम्बन्ध पर गार्बे (Garbe) ने काफी प्रकाश डाला है। यद्यपि 'सांख्य' शब्द का प्रयोग सबसे पहले श्वेताश्वतर उपनिषद में ही हुआ है तथापि सांख्य दर्शन के सिद्धान्तों को उससे पूर्व के उपनिषदों में भी पाया जा सकता है। सांख्य और उपनिषदों के यह सम्बन्ध निम्नलिखित हैं:—

---

१ येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके। क. I 8-20.

२ "ते ह स्म पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थाय अथ भिक्षाचर्यं चरन्ति" —बृ IV-४-२१

३ "इमानि पञ्चमहाभूतानि......अण्डजानि च जारुजानि च स्वेदजानि च उद्भिज्जानि च अश्वा गावः पुरुषाः......पतत्रि चेदं प्राणि जंगमं च पतत्रि च यच्च स्थावरं सर्वं तत्प्रज्ञानेत्रं प्रज्ञाने प्रतिष्ठितम्। —ऐ III. १

४ योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः। स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथा कर्म यथा श्रुतम्। क. II. ५. ७.

१—साम्य दर्शन का त्रिगुणात्मिका प्रकृति का वर्णन श्वेताश्वतारोपनिषद के उस श्लोक में मिलता है जहाँ कि लाल, सफेद और काले रंगों से बनी मूल प्रकृति का वर्णन किया गया है।[१]

२—साख्य दर्शन के मानस, बुद्धि, महत, अव्यक्त और पुरुष इत्यादि महत्व पूर्ण तत्वों का उल्लेख कठोपनिषद में मिलता है।[२]

३—बाद के साख्य दर्शन का लिंग-शरीर का विचार प्रश्नोपनिषद में मिलता है जहाँ कि पुरुष के सोलह अंग गिनाए गए हैं।[३]

प्रो० रानडे (Ranade) के अनुसार "यदि हम बाद के यौगिक दर्शन के यम और नियम को प्राचीन उपनिषदों में वर्णित योग के विभिन्न तत्व, यथा आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा और ध्यान में जोड़ दें जो कि समाधि के पूर्वांग हैं तो योग की पूर्ण अष्टांग योजना बन जाती है।"[४] योग दर्शन का अधिकांश सूत्र श्वेताश्वतारोपनिषद में मिलता है। योग और उपनिषदों का सम्बन्ध निम्नलिखित प्रश्नों में मिलता है—

योग और उपनिषद

१—श्वेताश्वतारोपनिषद में मोटे तौर से आसन, प्रत्याहार, प्राणायाम, योग के शारीरिक प्रभाव और अन्त में समाधि का[५] वर्णन मिलता है।

(२) 'धारणा' का उल्लेख कठोपनिषद के उस श्लोक में मिलता है जहाँ उसको इन्द्रिय, मन और बुद्धि की समता तथा योग की परमावस्था कहा गया है।[६]

---

१ "अजामेकां लोहित शुक्ल कृष्णां बह्वी प्रजा सृजमानां सरुपा"
—श्वे IV ५

२. इन्द्रियेभ्य परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मन।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्पर।
महत परमव्यक्त अव्यक्ता पुरुष पर।
पुरुषनान्न पर किंचित् सा काष्ठा सा परागति ॥
—क I ३ १० ११

३. इहैवान्त शरीरे सोम्य स पुरुषो यस्मिन्नेता षोडशकला प्रभवन्तीति।
—प्र VI २

४. Constructive Survey of Upanishadic Philosophy,
—P-188-189

५ श्वेताश्वतार II ८ १५

६ तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रिय धारणाम्।
अप्रमत्तस्तया भवति योगो हि प्रभावप्ययौ। —क II ६ ११

(३) 'ध्यान' का वर्णन श्वेताश्वतरोपनिषद में है जहाँ ईश्वर पर ध्यान लगाकर उसको हृदय में खोजने को कहा गया है ।[1]

(४) योग के ईश्वर का वर्णन कठोपनिषद में है जहाँ उसको संसार के दुःखों से परे बतलाया गया है जैसे कि सूर्य जो कि संसार का नेत्र है, आँखों के दोष से परे है ।[2]

(५) योग के शारीरिक पक्ष का वर्णन कौषीतकि और मैत्री इत्यादि उपनिषदों में मिलता है ।[3]

न्याय-वैशेषिक और उपनिषद

न्याय वैशेषिक और उपनिषदों के दृष्टिकोण में पर्याप्त भेद होने के कारण इस दर्शन का बहुत अधिक अंश उपनिषदों में नहीं मिलता परन्तु फिर भी निम्नलिखित प्रसंगों में उनका सम्बन्ध देखा जा सकता है।—

(१) न्याय-वैशेषिक का 'पुरीतत' का सिद्धान्त बृहदारण्यक उपनिषद से लिया गया है ।[4]

(२) वैशेषिक दर्शन के पदार्थों में पंच महाभूत तथा काल मानस आत्मन् और आकाश आदि का उल्लेख श्वेताश्वतरोपनिषद में मिलता है ।[5]

(३) वैशेषिक दर्शन में आकाश का गुण शब्द बतलाया गया है । इसका उल्लेख छान्दोग्य उपनिषद में मिलता है ।[6]

(४) न्याय वैशेषिक का 'मोक्ष' का विचार भी उपनिषदों पर आधारित है ।

मीमांसा कर्मकाण्ड पर आधारित है और उपनिषद ज्ञान मार्गी हैं अतः दोनों में अधिक सम्बन्ध नहीं है परन्तु फिर भी ईशावास्योपनिषद और मीमांसा उपनिषद में जहाँ ज्ञान और कर्म के समन्वय का प्रयास किया गया है वह बहुत कुछ कुमारिल भट्ट के मत से मिलता जुलता है ।

---

१ ध्यान निर्मथनाभ्यासाद्देवं पश्येन्निगूढवत् । —श्वे I १४

२. सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः ॥
—क. II २ ११

३ कौ. I २ ; कौ. IV १८.

४ बृ. II १ १९

५. श्वे. II २

६. छा. VII १२ १

उपनिषद और वेदान्त

समस्त वेदान्त दर्शन ब्रह्म सूत्र, गीता और उपनिषदों पर आधारित है। इनमें भी गीता और ब्रह्म सूत्र में उपनिषदों का ही विचार है। वेदान्त के अनेक रूपों में से यहाँ शंकर के अद्वैत और रामानुज के विशिष्टाद्वैत का ही विचार किया जाएगा।

उपनिषद और अद्वैत दर्शन

शंकराचार्य ने अपना अद्वैत दर्शन उपनिषदों के आधार पर विकसित किया है कहना न होगा कि यह उपनिषदों से ज्यों का त्यों नहीं लिया गया है क्योंकि शंकर 'टीकाकार' कहलाते हुए भी संसार के 'दर्शन' के इतिहास में अद्वितीय विचारक हुए हैं। परन्तु यहाँ केवल यही दिखाना है कि अद्वैत दर्शन के मूल विचार उपनिषदों में मिलते हैं।

(१) उपनिषदों में स्थान स्थान पर ब्रह्म को निर्गुण, निर्गुणोगुणी, जगत का आधार, सर्वव्यापी, सब जगत का कारण, नेति-नेति इत्यादि कहा गया है। छान्दोग्योपनिषद में श्वेतकेतु और आरुणि के प्रसंग में ब्रह्म को जगत का आधार कहा गया है।[1] बृहदारण्यक उपनिषद में याज्ञवल्क्य अपनी पत्नी मैत्रेयी से वार्तालाप करते हुए कहते हैं कि इस संसार में जो कुछ है वह आत्मा है।[2] आगे याज्ञवल्क्य ने ब्रह्म अथवा आत्मा को ज्ञाता कहा है। जो सबको जानता है उसे कौन जान सकता है? वह सनातन ज्ञाता है वह किससे जाना जायेगा?"[3] इसी उपनिषद में आगे चलकर ब्रह्म का 'नेति-नेति' कहकर वर्णन किया गया है।[4]

(२) शंकर का आत्मा और ब्रह्म के सम्बन्ध का सिद्धान्त भी उपनिषदों पर आधारित है। छान्दोग्य उपनिषद में कहा है—"शरीर में रहने वाली आत्मा वास्तव में ब्रह्म ही है और जैसे ही यह नश्वर बन्धन उतर जाएगा वैसे ही वह ब्रह्म में लीन हो जाएगा।"[5] इसी प्रकार मुण्डक, कठ, श्वेताश्वतार इत्यादि

---

१ छा VI १ २ ७

२ इदं ब्रह्म इदं क्षत्रं इमे लोका इमे देवा इमानि भूतानि इदं सर्वं यदयमात्मा।
—बृ० II ४ ६ ६

३ येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात्।
विज्ञातारमरे केन विजानीयादिति॥ —बृ II ४ १३ १४

४ अथात आदेश नेति नेति। "न" हि एतस्मादिति "न" इति अन्यत्परमस्ति।
—बृ II ३ ६

५ एष म आत्माऽन्तर्हृदय एतद् ब्रह्म एतमितः प्रेत्याभि सम्भवितास्मीति।
—छा III १४ ४.

उपनिषदों में भी ब्रह्म को आत्मा का आदि अन्त बतलाकर दोनों में तादात्म्य माना गया है।

(१) उपनिषदों में मायावाद के सिद्धान्त के सभी अंश यत्र-तत्र बिखरे हुए हैं। इनमें आवरण अध्यास शक्ति अविद्या असत्, अन्धकार, मृत्यु, अवस्तु अनिर्वचनता अमृत भ्रम ईश्वर-शक्ति ईश्वर-शक्ति प्रकृति नाम समानता विवर्त और अन्त में शब्द नाम रूप इत्यादि का उल्लेख मिलता है और स्वयं माया शब्द का भी इन अर्थों में प्रयोग किया गया है। इस विषय में कुछ थोड़े से निम्नलिखित उदाहरण पर्याप्त होंगे।

(अ) मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्। —श्वे IV १

(ब) तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोको न येषु जिह्ममनृतं न माया चेति

—प्र I १६

(स) रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय। इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शता दश॥ बृ II ५ १९.

विशिष्टाद्वैत और उपनिषद

शंकराचार्य के समान ही रामानुज का दर्शन भी उपनिषदों पर ही आधारित है। वास्तव में शंकर और रामानुज दोनों ने ही उपनिषदों को अपने-अपने दृष्टिकोण से देखा और अपने मत की पुष्टि के लिये विशेष-विशेष श्लोकों पर जोर दिया और बाकी की अपने मतानुसार व्याख्या की। यह कहना यथार्थ है कि उपनिषदों में एक नहीं बल्कि एक के ऊपर एक अनेक दर्शन हैं। निम्नलिखित प्रसंगों में विशिष्टाद्वैत दर्शन के तत्त्व उपनिषदों में मिलते हैं—

(१) विशिष्टाद्वैत ने जीव प्रकृति और ईश्वर तीनों को परम माना है। इस प्रकार का श्लोक श्वेताश्वतर उपनिषद में मिलता है, जहाँ कहा है कि "तीन परम सत्तायें हैं जो कि सबकी सब अज और अविनाशी हैं तथा मिलकर ब्रह्म बनाती हैं अर्थात् अल्पज्ञ अज्ञानी जीव सर्वव्यापी ज्ञानवान ईश्वर और अजा प्रकृति जो कि जीवात्मा के भोग के लिये है और जिससे वह अपने कर्मों का फल प्राप्त करता है।"[1]

(२) बृहदारण्यक उपनिषद में याज्ञवल्क्य और उद्दालक आरुणि के वार्तालाप में ईश्वर को जगत का अन्तर्यामी माना है। यह विचार रामानुज के दर्शन का महत्वपूर्ण आधार है जहाँ कि उन्होंने ईश्वर को प्रकृति की आत्मा माना है।

---

१ ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशावजा ह्येका भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता।
अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत्॥ श्वे I ९.

याज्ञवल्क्य ने ईश्वर को जगत और जीव दोनो की आत्मा माना है।[१] इसी प्रकार का उल्लेख तैत्तरीय उपनिषद मे भी पाया जाता है।

(३) वृहदारण्यक उपनिषद के अनुसार ईश्वर जीव और अजीव सब का आत्मा है। "जिस प्रकार एक पहिये के आरे उस पहिये के धुरी से बँधे रहते हैं उसी प्रकार परमात्मा में ये सब जीव, सभी देवता, सभी जगत, सभी जीवात्माएँ केन्द्रित हैं—परमात्मा उन सब का राजा है।"[२] इसी प्रकार के अन्य श्लोक भी इस उपनिषद में हैं।

(४) रामानुज का मोक्ष का विचार मुण्डकोपनिषद के इस श्लोक में वर्णित है "जब भक्त सोने के वर्ण के पुरुष को देखता है जो कि सब का कर्ता, सबका नियन्ता और जगत का आदि स्रोत है तब वह धर्म और अधर्म दोनो को छोड देता है और इनसे मुक्त होकर दैवी रुप से साम्य प्राप्त कर लेता है।"[३] इसी प्रकार मुण्डकोपनिषद के अनुसार पाप से छुटकर ब्रह्म प्रज्ञा में स्थित पुरुष ब्रह्मलोक को पहुँच जाता है।[४] रामानुज ने क्रममुक्ति, सारुप्य मुक्ति और सालोक्य मुक्ति को माना है।

उपनिषदो की समस्याएँ (Problems)

उपनिषदो के दर्शन का विस्तारपूर्वक अध्ययन करने के पूर्व उनकी मुख्य मुख्य समस्याओं का विचार कर लेना आवश्यक है। ये समस्याएँ निम्नलिखित हैं—

(१) वह क्या है जिसको जानने पर सब कुछ जाना जा सकता है—उपनिषदों के दृष्टा ऋषिगण ज्ञान के लक्ष्य को जानना चाहते थे। अनुभूति के आधार पर उनका यह विश्वास था कि ससार की नाना विविध वस्तुओ के पीछे कोई ऐसी सत्ता अवश्य है जहाँ पहुँचकर मन बुद्धि और इन्द्रियों को शान्ति मिल सकती है। वर्तमान अवस्था से असतोष में ही दार्शनिक जिज्ञासा की उत्पत्ति होती है। हमारी इन्द्रियाँ हमको यथार्थ ज्ञान नहीं देतीं। मन द्वन्दों मे फँसा रहता है। बुद्धि सत्य को नहीं पकड पाती और जीव को शान्ति नहीं मिलती।

---

१ बृ III ७

२ स वा अयमात्मा सर्वेषा भूतानां राजा, तद्यथा रथनाभौ च रथनेमौञ्च अरा सर्वे समर्पिता एवमेवास्मिन्नात्मनि सर्वाणि भूतानि सर्वे देवा सर्वे लोका सर्व एत आत्मान समर्पिता। —बृ II ५ १५

३ यदापश्य पश्यते रुक्म वर्णं कर्तारमीश पुरुष ब्रह्मयोनिम्।
यदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जन परम साम्यमुपैति॥
—मु III १ ३

४ मु III २ ६

अनेक में एक की खोज मानव बुद्धि का स्वाभाविक धर्म है। उपनिषद के शब्दों में "वह कौन है जिसके ज्ञान से इस सबको जाना जा सकता है ?" [1]

(२) शरीर के नष्ट होने के पश्चात् क्या बचता है ? यह उपनिषदों की पुनर्जन्म आत्मा की अमरता कर्मों का फल आदि समस्याओं का मूल प्रश्न था। हम कहाँ से आए, कहाँ जाएँगे ? याज्ञवल्क्य के शब्दों मे वह कौन सा यथार्थ मूल है जिससे बारम्बार उस मृत्यु द्वारा काटकर नाश किये जाने पर भी जीवन का वृक्ष फिर-फिर उग आता है ? [2]

(३) इस प्रकार उपनिषद मनोवैज्ञानिक और भौतिक जगत में परम सत्य परम सद्वस्तु की खोज मे थे। इसी सद्वस्तु (Reality) को कभी प्राण कभी मानस कभी बुद्धि और अन्त में आत्मा कहा गया है। "वह क्या है जो कि शरीर के सुषुप्ति अवस्था में चले जाने पर भी रहता है और निरन्तर उत्पत्ति करता रहता है ? [3] मनोवैज्ञानिक क्षेत्र मे उपनिषदों का लक्ष्य उस सद्वस्तु की खोज था जो कि जागृत स्वप्न और सुषुप्ति सभी अवस्थाओं में रहती हो। केनोपनिषद में शिष्य गुरु से पूछता है कि "किसकी इच्छा से मानस अपने लक्ष्य की ओर चल पड़ता है ? किसकी आज्ञा पर प्रथम श्वास प्रारम्भ होती है, किसकी इच्छा से हम बोलते हैं ? कौन ईश्वर नेत्र अथवा कान का निर्देश करता है ?

(४) संक्षेप में उपनिषद जगत के आदि कारण सृष्टा पालक और संहारक शक्ति की खोज में थे। इसको उन्होंने पहले बाहर प्राकृतिक जगत में ढूंढा और वहाँ सन्तोष न मिलने पर मनोवैज्ञानिक जगत में उसकी खोज की। अन्त मे रहस्यमय अनुभूति मे उन्हें उसकी प्राप्ति हुई और उनकी आध्यात्मिक, नैतिक तथा मनोवैज्ञानिक खोज की चरमपरिणति 'रहस्यवाद' में हुई।

(५) उपनिषदों की समस्या व्यावहारिक, नैतिक धार्मिक अथवा जीवन की समस्या थी। उस परम सत्य को कैसे दैनंदिन जीवन मे उतारा जाय कैसे प्राप्त किया जाय ? तभी बृहदारण्यक के ऋषि ने असत से सत अन्धकार से ज्योति और मृत्यु से अमरत्व की ओर ले चलने की प्रार्थना की है। [4]

---

१ कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति। —मु I १ ३

२ यद् वृक्षो वृक्णो रोहति मूलान्नवतरः पुनः।
मर्त्यः स्विन्मृत्युना वृक्णः कस्मान्मूलात्प्ररोहति॥ —बृ III ९ २८

३ य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः। तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म
तदेवामृतमुच्यते॥ एतद्वैतत्॥ —क II २ ४-८

४ असतो मा सद् गमय तमसो मा ज्योतिर्गमय मृत्योर्मा अमृतं गमय।
—बृ. I ३ २८

उपनिषदो की प्रणालियाँ (Methods)

उपनिपदो के दार्शनिको ने अपने वाद-विवाद और उपदेश मे अनेक भिन्न भिन्न प्रणालियाँ अपनाई है। ये प्रणालियाँ निम्नलिखित हैं[1] —

(१) प्रहेलिका प्रणाली (Enigmatic Method)—श्वेताश्वतरोपनिपद मे यह प्रणाली मिलती है जब कि कहा गया है कि परम तत्व एक विशाल नेमि (Felly) है जिसके पहिये तीन गुण ह, जिसके अन्त सोलह काल हैं, जिसके आरे पचास भाव है जिसके प्रत्यार (Counter spokes) दस इन्द्रियाँ और उनके दस विपय है जिसमे छ प्रकार के अष्टक हैं यथा अष्टधातु, अष्ट देव, अष्टाग प्रकृति इत्यादि, जिसका एकमात्र पाश विश्व पुरुप है जिसके तीन माग शुभ, अशुभ और तटस्थ अथवा नैतिक, अनैतिक और अतिनैतिक (A Moral) हैं और जो शुभ और अशुभ दो प्रकार के कर्मों के कारण आत्मा के मोह का कारण है।"[2] इसी प्रकार की पहेलियाँ ईशावास्योपनिपद इत्यादि अन्य उपनिपदो मे भी मिलती हैं।

(२) सूत्र (Aphoristic) प्रणाली—उपनिपदो की इस प्रणाली को बाद के दार्शनिक ग्रन्थो मे भी खूब अपनाया गया है। इस प्रणाली मे तत्व विचार को छोटे छोटे गढ़ार्थ वाक्यो मे भर दिया जाता है जिनको समझने के लिये काफी बुद्धि लगानी पडती है। इसी गूढार्थ के कारण बहुधा प्रथक-प्रथक टीकाकार अपने अपने मतानुसार सूत्रो का अलग अलग अथ निकालते ह। माण्डूक्योपनिपद मे कहा है "वास्तव मे जो कुछ है वह 'ॐ' है उसमे भूत, भविष्य, वतमान और कालातीत भी सम्मिलित है। वास्तव में यह सब ब्रह्म है, आत्मा ब्रह्म है। यह आत्मा चार पैरो वाला है। पहला पैर वैश्वानर है जो कि जागृत् अवस्था में स्थूल पदार्थों को भोगता है दूसरा पैर तैजस है जो कि स्वप्न मे विविक्त पदार्थो को भोगता है ... तीसरा प्रज्ञा है जो कि सुपुप्ति अवस्था मे आनन्द भोगता है चौथा आत्मा है जो कि अकेला, अद्वितीय, शान्त, शिव, प्रपञ्च से दूर है। यही जानने योग्य है।"[3] यह श्लोक बाद के वेदान्त दर्शनो का आधार है।

---

१ देखिये—Ranade, R D, A Constructive Survey of Upanishadic Philosophy P 34-40

२ तमेकनेमिं त्रिवृत षोऽशान्त शतार्धारं विंशति प्रत्यराभि ।
अष्टकै षड्भिर्विश्व स्पैक पाश त्रिमार्ग भेदं द्विनिमित्तैक मोहम् ॥ श्वे I,४

३ भूत भवद्भविष्यदिति सर्व मोंकार एक। पश्चान्यत्त्रिकालातीत तदपोङ्कार एक ॥१॥ सव ह्येतद् ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म। सोऽयमात्मा चतुष्पात ॥ १२ ॥
जागरितस्थानो वहि प्रज्ञ सप्तांग एकोनविंशति मुख स्थूलभुग्वै श्वानर

होता था। वृहदारण्यक उपनिषद के चौथे प्रकरण मे याज्ञवल्क्य राजा जनक के बतलाए हुए छ आध्यात्मिक दृष्टिकोणों का समन्वय करते हैं। इसी प्रकार के उदाहरण छान्दोग्य और प्रश्नोपनिषद आदि में भी हैं।

(८) स्वगत भाषण (Monologic) प्रणाली—यद्यपि उपनिषदो के दृष्टाजन बहुत ही कम बोलते हैं परन्तु कभी-कभी ऐसा भी देखने मे आया है कि जिज्ञासु अथवा विपक्षी के प्रश्नो का उत्तर देने के पश्चात भी वे दूसरो की उपस्थित को भूल कर स्वगत भाषण करते हुए बहुत कुछ कह जाते हैं। वृह-दारण्यकोपनिषद मे आत्मा के स्वभाव पर जनक के प्रश्नो का उत्तर देते हुए याज्ञवल्क्य इसी प्रकार के स्वगत भाषण मे खो जाते हैं। कठोपनिषद मे यम और नचिकेता के सवाद मे यम भी नचिकेता के तीसरे प्रश्न का उत्तर देते देते बडी देर तक स्वगत भाषण करते रहते हैं।

(९) यथाकाल व्यवहार (Temporision) प्रणाली—उपनिषदो के ऋषि जिज्ञासु के अधिकारी भेद से उसको क्रमश तत्वज्ञान कराते हैं। इस प्रणाली में जैसे जैसे जिज्ञासु का आध्यात्मिक अधिकार बढ़ता है वैसे वैसे गुरू उसको आगे का माग दिखाता जाता है, एकदम पूर्ण सत्य का ज्ञान नही करा देता। यह पद्धति आधुनिक शिक्षा मनोविज्ञान के दृष्टिकोण से भी अत्यन्त महत्व पूर्ण है। इन्द्र विरोचना की प्रसिद्ध कथा मे विरोचन तो अपने गुरू प्रजापति के पहले उत्तर से ही सन्तुष्ट हो जाता है परन्तु इन्द्र सन्तुष्ट नही होता और बराबर प्रश्न करता जाता है। प्रजापति उसे क्रमश· आत्मा को शरीर तथा फिर स्वप्न और सुषुप्ति की अवस्थाएँ बतलाते हुए तब कही अन्त मे आत्मा का यथार्थ स्वरूप बतलाते हैं। इस प्रणाली मे जिज्ञासु स्वय सत्य को समझने के लिये सघर्ष करता है और गुरू उसको केवल सकेत देता चलता है। अत आध्यात्मिक विकास मे यह प्रणाली अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

(१०) प्रतीपगमन (Regressive) प्रणाली—इसमे क्रमानुसार अनेक प्रश्न किए जाते हैं और प्रत्येक अगला प्रश्न उत्तर के पूर्व के प्रश्न की ओर ले जाता है इस प्रकार जब वृहदारण्यकोपनिषद मे जनक याज्ञवल्क्य से पूछते हैं कि मनुष्य का प्रकाश क्या है, तो याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि सूर्य। जनक ने फिर पूछा कि सूर्य का प्रकाश क्या है तो याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया चन्द्रमा। इसी प्रकार चन्द्रमा से अग्नि इत्यादि पर होते हुए जनक याज्ञवल्क्य को उस सीमा पर ले जाते हैं जहाँ पर याज्ञवल्क्य सबका प्रकाश आत्मा बतलाते हैं। इसी उपनिषद मे याज्ञवल्क्य और गार्गी का सवाद भी प्रतीय गमन प्रणाली का एक उत्तम उदाहरण है।

तत्व विचार का विकास

उपनिषदों का दर्शन दृष्टा ऋषियों के जीवन का दर्शन था। तत्वविचार की समस्या उनके जीवन की खोज थी। अतः उपनिषदों में परम तत्व के विचार में क्रमशः विकास मिलता है। जिज्ञासु मुनियों ने परम तत्व को भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से जानने की चेष्टा की और जब तक पूर्ण ज्ञान न हो गया तब तक यह खोज जारी रही। अतः उपनिषदों का दर्शन किसी एक अथवा अनेक दार्शनिक के मस्तिष्क का पका पकाया दर्शन नहीं है बल्कि पीढ़ी दर पीढ़ी होते हुए आध्यात्मिक विकास का एक इतिहास है।

उपनिषदों के तत्व विचार का विकास

प्रो रानडे (Ranade) के अनुसार उपनिषदों के तत्व विचार की समस्या सृष्टि-धर्म-मनोविज्ञान की (Cormothec psychological) समस्या है।[1] उपनिषदों के ऋषियों ने परम तत्व को सबसे पहले सृष्टि रचना में खोजा उसकी जगत मे पाने की चेष्टा की। जब उन्हें इससे संतोष न मिला तब उन्होंने धार्मिक दृष्टि से परम तत्व को समझना चाहा। इसमें भी निराश होने पर फिर अन्त में उन्होंने मनोवैज्ञानिक क्षेत्र में उसकी खोज की। इस खोज मे उन्होंने परम तत्व आत्मा को पाया। बाद में उनको ज्ञात हुआ कि अन्य दोनों दृष्टिकोण से मिला सत्य भी इसी सत्य का रूप है। इस प्रकार अन्त में वे इस परम ज्ञान पर पहुँचे कि आत्मा प्रकृति और ईश्वर अर्थात् मनोवैज्ञानिक क्षेत्र की सृष्टि रचना का और आध्यात्म का परम तत्व एक ही रहस्यमय ब्रह्म है। इस प्रकार उपनिषदों के तत्व विचार की समस्या का अन्तिम पुनराय रहस्यवाद (Mysticism) में मिला।

तत्व विचार की विविध समस्या

वेदों में भारतीय दर्शन और धर्म का शैशव अभिव्यक्त हुआ है और मानव ने प्राकृतिक शक्तियों को ही परम तत्व मान लिया। उपनिषदों मे वेदों का शैशव अनुभव से प्रौढ़ हो चुका था। उन्होंने यह अनुभव किया कि प्राकृतिक शक्तियाँ परम तत्व नहीं बल्कि उसका बाह्य आवरण बाह्य रूप मात्र हैं। छान्दोग्य उपनिषद में सत्यकाम जाबाल और उसके शिष्य उपकोसल की कथा में यह बात स्पष्ट की गई है। परन्तु यहाँ पर प्राकृतिक शक्तियों का स्थान शारीरिक शक्तियों ने लिया है।

(१) सृष्टि रचना में परम तत्व की खोज— शारीरिक तत्व

[1] A Constructive Survey of Upanishadic Philosophy —P 248.

इस प्रकार छान्दोग्य उपनिषद में परमतत्व को आँख अथवा शरीर की गर्मी समझा गया ।[1] मैत्री उपनिषद मे उसको वह स्वर समझा गया जो कि कान बन्द करने पर सुनाई पडता है ।[2]

शारीरिक तत्वों से मनो-वैज्ञानिक तत्वो की ओर

परन्तु फिर क्रमश इन शारीरिक तत्वो से भी सन्तोष न पाकर जिज्ञासु मनोवैज्ञानिक तत्वो की ओर झुके । कौशीतकी तथा वृहदारण्यक दोनो ही उपनिषदो मे इस प्रकार के प्रसग मिलते हैं । इस प्रकार शारीरिक शक्तियो का स्थान 'सुषुप्ति' इत्यादि मनोवैज्ञानिक अवस्थाओ ने ले लिया है ।[3] बाद मे इन मनोवैज्ञानिक अवस्थाओ मे भी सन्तोष न मिला ।

सृष्टि की पृष्ठभूमि में परम तत्व

परन्तु इसका अर्थ यह नही कि सृष्टि रचना की छानबीन करने से जिज्ञासुओं को परम तत्व का कोई ज्ञान न मिला । उपनिषदो मे ब्रह्म का अस्तित्व सिद्ध करने के लिए सृष्टि रचना का प्रमाण (Cosmological Argument) मिलता है । छान्दोग्य उपनिषद में 'तज्जलान' शब्द से यह समझाया गया है कि ससार की सृष्टि, स्थिति और विनाश ब्रह्म मे ही होते हैं ।[4] तैत्तरीय उपनिषद के अनुसार भी "जिससे ये समस्त भूतजीव उत्पन्न हुए हैं, जिसमे ये रहते हैं और अन्त मे जिसमे वे समा जाएँगे, वही ब्रह्म है ।"[5] इस प्रकार प्राकृतिक शक्तियो को एक ही परम तत्व की आशिक अभिव्यक्ति समझा गया । केनोपनिषद मे देवताओ और असुतो के युद्ध की कथा प्रसग मे भी इसी बात को समझाया गया है प्रकृति और मन दोनो के पीछे एक ही परम शक्ति है, वह ब्रह्म है ।

ब्रह्म सबका प्रकाश है

जगत की सभी वस्तुओ का प्रकाश ब्रह्म के कारण है । कठोपनिषद के शब्दो मे "उसके सामने सूर्य नही चमकता, उसके सामने चन्द्रमा, तारे और विद्युत नहीं चमकते, अग्नि की तो गिनती ही क्या है ? उसके चमकने से ही ये सब चमकते हैं, उसके प्रकाश से ही ये प्रकाशित हैं ।"[6]

---

१ छां IV १० १५ तथा III १३

२ मैत्री II ६

३ कौ IV १-१८ तथा बृ II १ १-१५

४ तज्जलानिति शान्त उपासति । छां III १४ १

५ यतो वा इमानि भूतानि जायते, येन जातानि जीवति । यत्प्रयति अभिसयिशाति तद्विजिज्ञासस्व । तद्ब्रह्मेति । तै III १

६ न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारक नेमा विद्युतो भाँति कुतोऽयमानि । तमेव भांतमनुभाति सव तस्य भाण सर्वमिद विभाति ॥ क II. ५ १५

ब्रह्म जगत में अन्तःस्थ सूक्ष्म तत्व है

ब्रह्म चराचर जगत में व्यापक सूक्ष्म तत्व है। छान्दोग्य उपनिषद में न्यग्रोध वृक्ष के फल की कथा में इसी बात को समझाया गया है। वस्तु जगत उस सूक्ष्म तत्व की बाह्य अभिव्यक्ति है। आत्मा ही समस्त वस्तुओं का सार है। इस प्रकार मानस (Mind) और प्रकृति दोनों के जगत में एक ही सूक्ष्म तत्व व्याप्त है और तात्विक दृष्टि से सभी एक है।

भौतिक-धार्मिक प्रमाण (Physico-theological Argument)

सृष्टि रचना को तर्क के साथ-साथ भौतिक-धार्मिक प्रमाण (Physico-theological Argument) भी मिला हुआ है। प्रयोजनात्मक प्रमाण (Teleological Argument) भी इसी का एक रूप है। भौतिक-धार्मिक प्रमाण के अनुसार ब्रह्म संसार की समस्त व्यवस्था की देखभाल करता है और उसको गलत रास्ते पर जाने से बचाता है। बृहदारण्यक उपनिषद के अनुसार सूर्य चन्द्र स्वर्ग पृथ्वी घंटे दिन रात महीने मौसम और वर्ष तथा नदियाँ उस ब्रह्म की ही आज्ञा से अपनी-अपनी गति से चलते हैं।[1]

(२) धार्मिक (Theological) जगत में परम तत्व की खोज

सृष्टि रचना के अतिरिक्त जिज्ञासु ऋषियों ने आध्यात्मिक जगत में भी परम तत्व की खोज की। यह खोज देवताओं की संख्या के विचार से प्रारम्भ हुई। वेदों में सैकड़ों प्रकार के देवी देवताओं को माना गया है। क्रमश इनकी संख्या कम होती जाती है और अन्त मे एक परमेश्वर का विचार मिलता है। उपनिषदों में इस परमेश्वर का मानव की अन्तरात्मा से तादात्म्य कर दिया गया है। बृहदारण्यक उपनिषद् मे याज्ञवल्क्य और विदग्ध शाकल्य के वाद विवाद मे देवताओ की संख्या के विषय मे काफी तर्क के बाद दोनों इसी निष्कर्ष पर पहुँचते है कि एक मात्र ब्रह्म ही जगत का देव है जिसका शरीर पृथ्वी है, दृष्टि अग्नि है, मानस प्रकाश है और जो समस्त मानव आत्माओ का परम गन्तव्य है।[2]

ईश्वरवाद (Theism)

श्वेताश्वतर उपनिषद् मे ब्रह्म का ईश्वरवादी (Theistic) विचार मिलता है। ईश्वर मे व्यक्तित्व है। वह एक है, लोक का स्वामी सृष्टा पालक और संहारक है। वह घट-घट व्यापी (Omnipresent) और सर्वशक्तिमान है। प्रकृति अथवा काल आदि उसके अनुचर है। वही जगत को चलाता है। वही एकमात्र ज्ञाता है। उसमें सभी गुण है। वह

---

१ बृ. III ८. ९ २ बृ. III ९. ११

भूत, भविष्य और वतमान से परे है। उसकी शक्ति ज्ञान और क्रिया के रूप में अभिव्यक्त होती है। उसका न कोई कार्य है और न कारण। वह सबका एकमात्र कारण है। यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि श्वेताश्वतार उपनिषद् मे ईश्वर को ही सबकी आत्मा भी माना है।

ईश्वर अन्त स्थ (Immanent) भी है और परात्पर (Transcendent) भी है

उपनिषदो मे कुछ स्थानो पर ईश्वर को अन्त स्थ कहा गया है। श्वेताश्वतार उपनिषद के अनुसार ईश्वर अग्नि, जल, जडियो, पौधो तथा समस्त जगत मे वतमान है। छान्दोग्य उपनिषद मे नमक मे पानी घुलने के दृष्टान्त मे भी आत्मा को सवव्यापक वतलाया गया है। जिस प्रकार नमक नमकीन पानी के प्रत्येक भाग मे होता है उसी प्रकार अदृश्य आत्मा सव जगह व्याप्त है।[1] अन्त स्थ के साथ ही साथ ईश्वर को परात्पर वतलाने वाले अनेक श्लोक भी उपनिषदो मे मिलते हैं। कठोपनिषद मे विश्वात्मा को जगत के सुख-दुख से सूय के समान परे वतलाया है जो कि समस्त जगत की आँख होने पर भी हमारी आँखो के दोष से प्रभावित नही होता।[2] श्वेताश्वतार उपनिषद मे ईश्वर को एक ही श्लोक मे अन्त स्थ और परात्पर दोनो वतलाया गया है। 'ईश्वर स्वर्ग मे एक वृक्ष के समान स्तब्ध खडा रहता है परन्तु फिर भी उससे समस्त जगत भरा हुआ है।'[3]

(३) मनोवैज्ञानिक जगत में परम तत्व की खोज

सृष्टि और आध्यात्मिक जगत मे खोज करने मे सतोष न मिलने पर जिज्ञासु ऋषियो ने मनोवैज्ञानिक जगत मे परम तत्व की खोज की। वृहदारण्यक उपनिषद मे राजा जनक और याज्ञवल्क्य के सवाद मे राजा जनक परम तत्व के विषय मे क्रमश अनेक मनोवैज्ञानिक मत उपस्थित करते हैं जिन सभी को याज्ञवल्क्य आशिक सत्य वतलाते हैं, क्योकि परम तत्व तो एकमात्र आत्मा ही है। केनोपनिषद मे आत्मा को कानो का कान, मनो का मन, वाचो का वाच और प्राणो का प्राण वतलाया है।[4] इसमे आत्मा को समस्त शारीरिक और मनोवैज्ञानिक तत्वो का अन्तरतम तत्व वतलाया है। छान्दोग्य उपनिषद मे इन्द्र, विरोचन और प्रजापति की कथा मे आत्मा को क्रमश जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्था वतलाकर अन्त मे तीनो का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करके शुद्ध आत्म-चेतना कहा गया है।[5]

---

१ छां VI १३ १-३ २ क II ५-११

३ वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येक स्तेनेद पूर्णं पुरुषेण सर्वम्। श्वे III ६

४ श्रोत्रस्य श्रोत्र मनसो मनो यद्वाचो ह वाच स उ प्राणस्य प्राण। के I २, ८

५. छा VIII ७ १२

तत्त्व सम्बन्धी (Onto-logical) प्रमाण

उपनिषदों में सत्य को ही ब्रह्म मानकर आत्मा के अस्तित्व का तत्त्व संबंधी प्रमाण उपस्थित किया गया है। तैत्तरीय उपनिषद के शब्दों में परम ब्रह्म सत्यं ज्ञानं और अनन्तम् है।[1] इसी प्रकार ऐतरेयोपनिषद में प्रज्ञा को ही सब देवता पंचभूत अंडज जारज स्वेदज और उद्भिज इत्यादि समस्त जीव, समस्त स्थावर तथा जंगम प्राणियों का नेत्र और समस्त लोक का नेत्र तथा अन्त में ब्रह्म कहा गया है।[2] इस प्रकार परमसत को प्रज्ञा मान लिया गया है। यह प्रज्ञा ही उपनिषदों की सृष्टि, आध्यात्म और मनोविज्ञान के जगत की खोज का परिणाम है। इसी को परमतत्त्व बतलाने के लिए उन्होंने विभिन्न प्रमाणों का प्रयोग किया है। यही सत्यं ज्ञानं अनन्तम् ब्रह्म है। यही ईश्वर है यही समस्त मानसिक और भौतिक जगत का सार है।

परम तत्त्व का स्वरूप

परम तत्त्व की खोज में उपनिषदों की दार्शनिक विचारधारा के क्रमिक विकास का वर्णन करने के पश्चात् अब आत्मा ब्रह्म ईश्वर, जगत बन्धन तथा मोक्ष के स्वरूप का अलग-अलग विचार करना अच्छा होगा।

ब्रह्म

उपनिषदों के अनुसार जगत का सार और परम तत्त्व ब्रह्म है। ब्रह्म अनन्त नित्य सर्वव्यापी सर्वज्ञाता और शुद्ध चैतन्य है। वह सबकी आत्मा है।

सर्वं खल्विदं ब्रह्म

ब्रह्म सत है। वह संसार की समस्त वस्तुओं का आधार और सूक्ष्म तत्त्व है। छान्दोग्य उपनिषद के शब्दों में उसी से जगत का आदि अन्त और स्थिति है। (तज्जलानिति शान्त उपासीत)। प्रकृति की शक्तियाँ ब्रह्म की अंश मात्र हैं। उनमें ब्रह्म की ही शक्ति कार्य करती है।

सत्यं

तैत्तरीय उपनिषद के शब्दों में उसी से समस्त भूत उत्पन्न होते हैं, उसी से वे सब जीते हैं और उसी में समा जाते हैं। छान्दोग्य उपनिषद में इसी तत्त्व को एक कथा द्वारा समझाया गया है। गुरु ने शिष्य से न्यग्रोध वृक्ष का एक फल लाने को कहा। जब शिष्य फल ले आया तो गुरु ने उससे फल को तोड़ने को कहा। जब शिष्य ने फल को तोड़ा तो गुरु ने पूछा कि फल के अन्दर क्या है?

---

१ सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्। तै. II. १

२ ऐ. II १

शिष्य को फल मे असंख्य छोटे छोटे बीज दिखलाई पड़े। अब गुरु ने उनमें से एक बीज को तोड़ने की आज्ञा दी और फिर शिष्य से पूछा कि उस बीज मे क्या है? बीज को तोड़कर शिष्य ने उत्तर दिया कि उसमे कुछ नही है। इस पर गुरु ने शिष्य को बतलाया कि जिसे शिष्य 'कुछ नहीं' कहता है वही वह सूक्ष्म तत्व है जिससे न्यग्रोध वृक्ष उत्पन्न होता है इस कथा से यह समझाया गया है कि सूक्ष्म तत्व ब्रह्म ही समस्त जगत का सत है।

ज्ञानम्

ब्रह्म ही ज्ञानम् है। पीछे बतलाया जा चुका है कि किस प्रकार उपनिषदो में मनोविश्लेषण जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाओं का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करके इस निर्णय पर पहुँचे कि आत्म-चेतना अथवा प्रज्ञा (Self Consciousness) ही परम तत्व है। प्रज्ञा ही सत है और सत प्रज्ञा है। यही श्रोत्र, नयन, नाक, मानस आदि सबों की शक्ति और चालक है। यह मन और बुद्धि से परे है। इस आत्मचेतना का पीछे वर्णन किया जा चुका है। उपनिषदों मे 'तत्वमसि' 'अयमात्मा ब्रह्म' तथा 'सर्व खल्विदं ब्रह्म' इत्यादि महावाक्यों से यही बतलाया गया है कि यह ज्ञानम् ही समस्त जगत का तत्व है। वही आत्मा है और वही ब्रह्म।

अनन्तम्

ब्रह्म अनन्तम् है। वह अन्तःस्थ भी है परन्तु फिर भी परात्पर है। जगत उसके एक अंश मात्र से बना है। वृहदारण्यक उपनिषद के अनुसार ब्रह्म के एक पैर से तीनो लोक बने हैं, दूसरे मे वेदो का त्रिविध ज्ञान आ जाता है, तीसरे मे तीन प्राण हैं चौथा पृथ्वी से परे सूर्य के रूप मे चमकता है। ब्रह्म से ही जीव और जगत की उत्पत्ति हुई है। उसी से आत्मा भी निकली है। आत्मा पूर्ण है परन्तु इस पूर्ण आत्मा के निकलने के बाद भी ब्रह्म मे कोई कमी नही आती और वह पूर्ण ही रहती है। वृहदारण्यक उपनिषद मे इसी पहेली को यह कहकर समझाया गया है कि "वह भी पूर्ण है, यह भी पूर्ण है, पूर्ण से पूर्ण निकलता है। परन्तु इस पूर्ण के उस पूर्ण से निकलने के बाद भी जो कुछ बचता है वह भी पूर्ण ही है।"[1] इस प्रकार सान्त अनन्त से निकला है और अनन्त मे पहुँचना ही उसका लक्ष्य है।

ब्रह्म अज्ञेय नहीं है

ब्रह्म को अनन्त कहने का तात्पर्य यह नही है कि वह अज्ञेय भी है। उपनिषदो मे इस प्रकार के वाक्य मिलते हैं जहाँ पर ब्रह्म को ज्ञाता कहा है। वह विषयी है अतः वह ज्ञान का विषय नही हो सकता है। वृहदारण्यक के शब्दो मे "जिससे ये सब जाने जाते हैं उसको कैसे जाना जा सकता है?" तैत्तरीय

---

१ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥ बृ. II ५ १९

उपनिषद में ब्रह्म के लिये कहा है कि 'वाह, जहाँ से मन के साथ-साथ वाक् वापस लौट आता है और उसको नहीं पा सकता वही परम तत्व है।[1] परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि ब्रह्म अज्ञेय है। ब्रह्म ज्ञान ही उपनिषदों का लक्ष्य है। याज्ञवल्क्य के शब्दों में यदि आत्मचेतना संभव नहीं है तो कुछ भी संभव नहीं है। यह सत्य है कि इन्द्रियों मन अथवा बुद्धि से ब्रह्म को नहीं जाना जा सकता। परन्तु फिर भी वह अपरोक्षानुभूति का विषय है। वह ज्ञाता का ज्ञान है। उसके ज्ञान के बिना कोई भी ज्ञान संभव नहीं है। जैसे किसी भी वस्तु को देखने से आँख की उपस्थिति प्रमाणित होती है उसी प्रकार किसी भी प्रकार का ज्ञान होने पर आत्मा की उपस्थिति प्रमाणित होती है। मुण्डकोपनिषद के अनुसार "प्रणव (ओ३म) धनुष है, आत्मा तीर है और ब्रह्म उसका लक्ष्य है। हमें एकाग्रचित्त होकर निशाने को बेधना चाहिये जिससे कि तीर और निशाना एक हो जायें।[2]

उपनिषदों में ब्रह्म के दो रूपों का वर्णन किया गया है यथा पर और अपर ब्रह्म। पर ब्रह्म ऊँचा है और अपर ब्रह्म नीचा है।

पर और अपर ब्रह्म

पर ब्रह्म असीम निरुपाधि निर्गुण निष्प्रपञ्च और परात्पर है। अपर ब्रह्म सीमित सोपाधि सगुण सप्रपञ्च और अन्तःस्थ है। प्रथम देश काल कार्य-कारण और जगत से परे है। दूसरा जगत का स्वामी और कार्य कारण के नियम से बंधा है। पहला सत्, चित्, और आनन्द है। दूसरा नित्य सर्वव्यापी सर्वज्ञानी सर्व शक्तिमान कर्मों का अधिष्ठाता जगत का सृष्टा पालक और संहारक तथा अन्तर्यामी है। वह ईश्वर है। पहला पराविद्या का लक्ष्य है, दूसरा अपराविद्या का ध्येय है। पर ब्रह्म और अपर ब्रह्म दोनों एक ही ब्रह्म के दो पक्ष हैं। पर ब्रह्म का वर्णन 'नेति नेति' करके किया गया है। अपर ब्रह्म का वर्णन 'इति इति' करके किया गया है।

पर अथवा निर्गुण ब्रह्म

पर ब्रह्म एक निर्विकल्पक निष्काम निष्क्रिय शान्त निर्गुण निरंजन अशब्द अरूप अस्पर्श अगन्ध और अरस अलोहित अस्नेह अच्छाय अतमस अवायु, अनाकाश अतेजस्क, अनाध्यक्ष अमोम अपाणिपाद अप्राण, अवाक अमुख अमानस अगोत्र अवर्ण अव्यय अनादि अनन्त विभु, सर्वगत और अमृत ध्रुव, सनातन अनिर्वचनीय अक्षर और सबका आत्मा है। कठोपनिषद के शब्दों में वह 'अजोनित्य शाश्वतोऽयम् पुराण' है।[3] मुण्डकोपनिषद के

---

१ 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'। —तै. II. ४

२ प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते । अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ॥—मु. II. २ ३-४

३ कठ. I. २ १८.

शब्दो मे वह 'नित्य विभु सर्वगत सुसूक्ष्म'[1] है। बृहदारण्यकोपनिषद ने उसको "अस्थूल अनणु अह्रस्व अदीर्घ"[2] कहा है। माण्डूक्योपनिषद के अनुसार वह "अदृश्यम् अव्यवहार्यम् अग्राह्यम्, अलक्षणम्, अचिन्त्यम्, अव्यपदेश्यम्, एकात्म प्रत्ययसार, प्रपञ्चोपशम शान्तं शिव तथा अद्वैत और आत्मा" है।[3] परब्रह्म पर परिवर्तन का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। उसमे भेद, द्वैत अथवा नानात्व नहीं है। उसमे विषयी और विषय का कोई भेद नहीं है। वह सत्य, ज्ञान और अनन्त है। वह 'एकात्मप्रत्ययसार" है। वह परम श्रेय है। वह साक्षी और विज्ञातृ तथा दृष्टा है। उसका ज्ञान प्रज्ञा से होता है।

अपर अथवा सगुण ब्रह्म अथवा ईश्वर

ईश्वर भूतयोनि, ब्रह्मयोनि और जगत कर्ता है। छान्दोग्योपनिषद ने उसको 'तज्जलान' कहा है। उसकी आज्ञा से ही प्राकृतिक शक्तियाँ अपना कार्य करती हैं। वह अन्तर्यामी और 'सर्वभूतान्तरात्मा' है। वह स्वयम् और जगत का कारण है। वह 'भामनी' अर्थात् सबको प्रकाश देने वाला है। वह पुण्य और कर्मों का अधिष्ठाता (कर्माध्यक्ष) है तथा स्वयं धर्म और अधर्म आदि से परे है। वह पाप पुण्यादि का फल देनेवाला है। वह अनन्त, नित्य, अक्षर, सर्वगत्, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, अपापविद्ध, शुद्ध, धर्म्य, पूत, पूर्ण, सत्यकाम और सत्यसंकल्प है। माया उसकी शक्ति है। वह चारो वेदो का रचयिता है। वह परम गति है।

इस प्रकार उपनिषदो ने ब्रह्म को सगुण और निर्गुण दोनो ही माना है। शंकर और रामानुज ने अपनी उपनिषदो की व्याख्या मे क्रमश द्वितीय और प्रथम पर जोर दिया है। वास्तव में उपनिषदो के अनुसार दोनो ही एक ही ब्रह्म के दो पक्ष है।

जीव और आत्मा

वैयक्तिक आत्मा और परम आत्मा

उपनिषदो के अनुसार वैयक्तिक आत्मा (Individual Self) और परम आत्मा (Supreme Self) अंधकार और प्रकाश के समान एक ही शरीर की हृदय गुहा में निवास करते हैं। प्रथम को जीव और दूसरे को आत्मा भी कहा है। जीव कर्म के फलो को भोगता है और सुख दु ख अनुभव करता है जब कि आत्मा कूटस्थ है। दोनो ही अज और नित्य हैं। जीव अज्ञानी है उसके दु ख और बन्धन अज्ञान के कारण हैं। आत्मा का ज्ञान

---

१ मुण्डक I १ ६

२. बृहदारण्यक III ८ ८

३ माण्डूक्य I ७

होने पर यह अज्ञान और उसके साथ ही साथ दुःख और बन्धन भी नष्ट हो जाते हैं। आत्मा एक है। इसके ज्ञान से समस्त द्वैत नष्ट हो जाता है। कुछ उपनिषदों में जीव और आत्मा में कोई अन्तर नहीं किया गया है। परन्तु कुछ में यह अन्तर स्पष्ट है। आत्मा और ईश्वर अथवा ब्रह्म को एक माना गया है और जीव को इसे भिन्न माना गया है।

जीवात्मा का स्वभाव

जीवात्मा शरीर, मन बुद्धि और इन्द्रियों से अलग और इनसे परे है। यह ज्ञाता भोक्ता और कर्ता है। यह नित्य चेतन और अनेक है। यह अमर, अज अजर और अशरीरी है। परन्तु उसमें अनन्त ज्ञान नहीं है। यह जन्म मरण से परे है और शरीर के नष्ट होने पर नष्ट नहीं होता। उसमें संकल्प की स्वतंत्रता है। यह कर्मों के कारण बन्धन में पड़ा हुआ है। उसे अच्छे अथवा बुरे कर्मों के अनुसार धर्म अथवा अधर्म सुख अथवा दुःख मिलता है। उसमें इच्छा संकल्प क्रिया और चरित्र है। उसका पुनर्जन्म होता है। यह पुनर्जन्म कर्मों के अनुसार (यथा कर्म) होता है।

जीव की चार अवस्थाएँ

जीव की चार अवस्थाएँ हैं (१) जाग्रत अवस्था में यह 'विश्व' कहलाता है जो कि बाह्य इन्द्रियों द्वारा सांसारिक विषयों को भोगता है। (२) स्वप्न की अवस्था में यह 'तैजस' कहलाता है जो कि मन के द्वारा सूक्ष्म आन्तरिक विषयों को जानता और भोगता है। (३) सुषुप्ति की अवस्था में यह 'प्राज्ञ' कहलाता है जो कि एक एक रस चैतन्य और आनन्द है तथा अन्तर्दृष्टि कोई भी विषयों को नहीं देखता। (४) चौथी 'तुरीय' अवस्था में यह 'आत्मा' कहलाता है जो कि न चेतन है और न अचेतन बल्कि एक अद्वैत विश्वचेतना है। यह आत्मा ही ब्रह्म है।

पाँच कोष

जीव पाँच कोषों अथवा सूक्ष्म शरीरों के अन्दर है। (१) इन्द्रियाँ और शरीर मिलकर 'अन्नमय कोष' बनाती हैं जो कि भोजन द्वारा कायम रहता है। (२) इसके अन्दर 'प्राणमय कोष' है जो शरीर में गति का संचार करने वाली प्राण शक्तियों से बना है और उन्हीं के कारण ही जिसका अस्तित्व है। (३) इसके अन्दर 'मनोमय कोष' है जो कि मन पर निर्भर है और जिसमें स्वार्थमय संकल्प है। (४) इसके अन्दर 'विज्ञानमय कोष' है जो कि बुद्धि और उसके कार्यों पर निर्भर है। इसमें विषय और विषयी का भेद लिए द्वैतात्मक ज्ञान है। (५) इसके अन्दर भी 'आनन्दमय कोष' है। इसमें विषयी और विषय के भेद से रहित आनन्दमय है। यह आनन्द पारमार्थिक और पूर्ण है। यह आत्मा का कोष नहीं बल्कि उसका सार है। यह आत्मा ही

जीवात्मा का यथार्थ तत्व है। यही ब्रह्म है। इसके ज्ञान से जीव के बन्धन छूट जाते है। यह ज्ञान अपरोक्षानुभूति मे होता है। कठोपनिषद में आत्मा को परमतत्व, अमृत, स्वय सिद्ध और स्वय ज्योति स्वरूप कहा है। यमनचिकेता तथा इन्द्र-विरोचन की कथा मे भी आत्मा को परम तत्व के रूप मे समझाया गया है। याज्ञवल्क्य के शब्दो मे आत्मा परम ज्ञाता है, वह समस्त वस्तुओ का ज्ञाता है अत वस्तु के रूप मे उसका ज्ञान नही हो सकता। परन्तु फिर भी वह शून्य मात्र नही है क्योकि ज्ञाता का ज्ञान कभी नष्ट नही होता, दृष्टा की दृष्टि कभी नष्ट नही होती। सूर्य और चन्द्र के अस्त हो जाने और अग्नि के बुझ जाने पर भी आत्मा अपने प्रकाश मे अकेली चमकती है।[1] कठोपनिषद के अनुसार आत्मा के चमकने से ही प्रत्येक वस्तु चमकती है, उसके प्रकाश से ये सब ज्योतित ह।[2] मुण्डकोपनिषद के शब्दो मे "अग्नि उसका सर है, चन्द्रमा और सूय उसकी आँखें ह, आकाश की चारो दिशाएँ उसके कान हैं, वेद उसका वाक् है, पवन उसकी श्वास है, विश्व उसका हृदय है क्योंकि वास्तव मे वह समस्त जीवो का अन्तर्यामी आत्मा है।[3] आत्मा साक्षी है और ज्ञान स्वरूप है। शकराचार्य ने एक श्लोक का उल्लेख किया है जिसमे 'आत्मा' शब्द के विभिन्न अथ हैं। इस श्लोक के अनुसार आत्मा का अर्थ है कि जो सबमे व्यापक हो, जो विषयी है और ज्ञाता है, अनुभव करता है और विषयो को प्रकाशित करता है, अमृत और सदैव एकसा रहता है।[4]

जगत

जगत ब्रह्म की अभिव्यक्ति है

उपनिषदो के अनुसार जगत ब्रह्म की अभिव्यक्ति है। वह ब्रह्म से उत्पन्न होता है, उसी मे पलता और उसी में समा जाता है। ब्रह्म वस्तु जगत के नाम रूप का कारण है। देश, काल, प्रकृति इत्यादि सभी ब्रह्म का आवरण हैं, सभी में ब्रह्म ही है। जैसे अग्नि से स्फुलिंग निकलते हैं, जैसे पृथ्वी में पौधे उगते हैं, जैसे जीवित शरीर से बाल निकलते हैं अथवा जैसे मकडी के शरीर से जाला निकलता है उसी प्रकार जगत ब्रह्म की पूर्णता से निकलता है और उसी में लौट जाता है। जल, पृथ्वी, वायु, अग्नि और आकाश आदि पाँच भूत, प्राण, इन्द्रियाँ और मन सभी ब्रह्म से निकलते हैं। नदियाँ, समुद्र, पहाड, पौधे, देवता, मानव, पशु और पक्षी, चारो वेद, विधि और कर्म सभी ब्रह्म से निकलते है। जैसे मकडी जाले को अपने से निकालकर फिर अपने में

---

१ बृ IV ३ ६ २ कठोपनिषद II २ १५ ३ मुण्डक II १ ४

४ "यदाप्नोति यदादत्ते यथात्ति विषयानिह। यच्चास्य सन्ततो भावस्तस्मात्मेति कीर्त्यते॥ —शकर भाष्य, कठोपनिषद २ १ १

ही समेट लेती है वैसे ही ब्रह्म जगत को अपने में से उत्पन्न करता है और फिर अपने में ही समेट लेता है। वह उसे पहले से उपस्थित पदार्थ से नहीं उत्पन्न करता। सृष्टि के पूर्व एक आत्मा ही था। उसने निश्चय किया कि मैं जगत को उत्पन्न करूँगा और उसने लोक उत्पन्न किये।[1] उसने सूक्ष्म और स्थूल रूप दिए और रूपवान पैदा किए। आकाश आत्मा से उत्पन्न हुआ वायु आकाश से उत्पन्न हुई, अग्नि वायु से उत्पन्न हुई, जल अग्नि से उत्पन्न हुआ पृथ्वी जल से उत्पन्न हुई और पृथ्वी से पौधे उत्पन्न हुए।[2] जगत ब्रह्म में एक अव्याकृत अवस्था में था। उसने उसे व्याकृत अथवा अभिव्यक्त बनाया। उसने नामरूप और वस्तुओं की उत्पत्ति की। उसने मेघ उत्पन्न किये।

श्वेताश्वतरोपनिषद् का ईश्वरवाद

श्वेताश्वतरोपनिषद में ब्रह्म को 'ईश' कहा गया है। वह शिव रुद्र हर और महेश्वर भी कहलाता है। यहाँ यह ध्यान रहे कि यह उपनिषद अन्य उपनिषदों से बहुत बाद का है ईश्वर प्रकृति और जीवों का स्वामी (ईश) है। जीव अज्ञ और अनीश है। ईश्वर, जीव और प्रकृति एक दूसरे से सर्वथा पृथक नहीं हैं। ब्रह्म तीन रूपों में अभिव्यक्त होता है, अनुभव करने वाले जीव व्यावहारिक जगत और ईश्वर जो कि इन दोनों को प्रेरित करता है और जीवों में जगत का अनुभव उत्पन्न करता है।[3] ईश्वर अपनी शक्ति माया अथवा प्रकृति के द्वारा जगत का सृजन करता है। उसकी शक्तियाँ अनेक हैं। यह शक्तियाँ ही प्रकृति अथवा माया है। प्रकृति एक अज सत्व रजस और तमस से बनी हुई और गतिशील है तथा इन गुणों से अपने जैसी अनेक वस्तुएँ उत्पन्न करती है।[4] मायावी ईश्वर अपनी शक्ति से समस्त लोकों को बनाता और उन पर शासन करता है। वह गुणों का नियामक है। प्रकृति नानाविचित्र जगत का निर्माण करने वाली शक्ति (ब्रह्मशक्ति) है।[5]

सुबाल उपनिषद का विवरण

सुबाल उपनिषद के अनुसार प्रारम्भ में न तो सत था न असत और न सदासत। उससे तमस की उत्पत्ति हुई। तमस से भूतादि भूतादि से आकाश आकाश से वायु, वायु से अग्नि अग्नि से जल और जल से पृथ्वी की उत्पत्ति हुई और पृथ्वी से समस्त प्राणी उत्पन्न हुए। फिर प्रलय में समस्त प्राणी पृथ्वी में समा जाते हैं, पृथ्वी जल में समा जाती है जल अग्नि

---

१ ऐतरेयोपनिषद् I १   २ तै० II १।६-७.

३ भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा। सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्म एतत्॥
—श्वे I १२

४ अजाम् एकाम् लोहित शुक्ल कृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः॥
श्वे. IV ५; I १०.

५ नानाविचित्र जगन्निर्माण सामर्थ्य बुद्धिरूपा ब्रह्म शक्तिरेव प्रकृतिः'

में समा जाता है, अग्नि वायु मे समा जाती है, वायु आकाश में समा जाती है, आकाश इन्द्रियो मे समा जाता है, इन्द्रियाँ तन्मात्रो मे समा जाती है, तन्मात्र भूतादि मे समा जाता है, भूतादि महत मे समा जाता है, महत अव्यक्त मे समा जाता है, अव्यक्त अक्षर मे समा जाता है और अक्षर तमस मे समा जाता है तथा तमस पर देव मे समा जाता है। इससे परे न सद है न असद और न सदासद।[1] जगत के समस्त पदार्थ आदि तत्व के विकार (Modifications) हैं छान्दोग्योपनिषद के अनुसार ये विकार नाम और शब्द मात्र हैं।[2] इसी की विभिन्न व्याख्याएँ करके शकर ने विवर्तवाद और रामानुज ने परिणामवाद की पुष्टि की है।

वन्धन और मोक्ष

विद्या और अविद्या

अविद्या वन्धन का कारण है और विद्या से मोक्ष होता है। अविद्या मे नित्य और अनित्य का भेद नही होता। उसमें भेद, नानात्व और अहकार होता है। वह विपयी और विपय का भेद लिये हुए बौद्धिक ज्ञान है। वह देशकाल और कार्यकारण सम्वन्ध मे वस्तुओ का ज्ञान है। वह कर्मों का क्षेत्र है जिससे नामत्व का वोध होता है। वह पुनर्जन्म का कारण है। विद्या से मोक्ष होता है और आवागमन का वन्धन छूट जाता है। वह अपरोक्षानुभूति द्वारा ज्ञान है। वह बौद्धिक ज्ञान से परे है। वह देश, काल और कार्यकारण से निश्चित नही है। वह तादात्मय के उच्चतर ज्ञान का क्षेत्र है।

वन्धन

अविद्या के कारण अहकार उत्पन्न होता है। यह अहकार ही वन्धन का कारण है। इससे जीव, इन्द्रियो, मन, बुद्धि अथवा शरीर से अपना तादात्म्य करने लगता है। वस्तु जगत से ज्ञान और वन्धन उत्पन्न करता है। अहकार, स्वार्थ तथा वासना वन्धन का कारण है।

मोक्ष

अहकार से छूटकर विद्या द्वारा अपने असली रूप ब्रह्म को पहचान कर उससे तादात्म्य करने से वन्धन छूट जाते हैं। ब्रह्मज्ञान से मोक्ष होता है और ब्रह्मज्ञान का अर्थ है ब्रह्मभावना। वह सर्वभावना अर्थात् सवमे ब्रह्म देखना है और अपने को सवमे देखना है वह सवमे एक आत्मा देखना (एकात्मदर्शन) वह सवके आत्मा को देखना (सर्वात्मभाव दर्शन) है। वह अमृत पद है। उसमें जीवात्मा का परमात्मा से एकत्व अथवा साम्य है। उसमे धर्म, अधर्म, राग, द्वेप, सुख, दुख, मोह, भय इत्यादि नही है। वह अनिर्वचनीय शाश्वती शान्ति

---

१ सवाल उ प १ २

२ वाचारभणं विकारो नामधेयम्—छा V १४-६

है। यह शुद्ध परम आत्मक्रीड़ा, आत्मरति, आत्ममिथुन पूर्ण स्वराज्य अथवा आनन्द है जिसमें द्वैत अथवा नानात्व से रहित एकत्व है। यह परम प्रज्ञा निस्वार्थ संकल्प और निर्विक्षेप चेतना तथा अनिर्वचनीय आनन्द की अवस्था है।

मोक्ष के साधन

तत्वविचार के साथ-साथ उपनिषदों में उस तत्व को प्राप्त करने के साधनों का भी विचार किया है। वास्तव में उपनिषदों में ज्ञान और कर्म दर्शन और जीवन में भेद नहीं किया गया है। ब्रह्मज्ञान का अर्थ ही ब्रह्म हो जाना है। अतः उपनिषदों में मोक्ष प्राप्त करने के साधनों का विस्तार से विचार किया गया है। इसी से उपनिषदों का समस्त नीति शास्त्र आ जाता है क्योंकि मोक्ष ही परम श्रेय है। संक्षेप में मोक्ष का एकमात्र साधन आत्मलाभ (Self Realization) अथवा ब्रह्म साक्षात्कार है। परन्तु पूर्ण आत्मलाभ की ओर क्रमिक विकास में अनेक प्रकार के अन्य साधनों का सहारा लेना पड़ता है। इन साधनों का विचार करना भी आवश्यक है।

आध्यात्मिक जीवन की कुछ अपनी शर्तें हैं जिनके बिना आत्मलाभ की आशा नहीं की जा सकती है। ये शर्तें निम्नलिखित हैं:—

आत्म लाभ की आवश्यक शर्तें

(१) अन्तर्मुखता (Introversion)—आत्मा अन्तर्यामी है। यह बाह्य जगत की वस्तुओं के पीछे भागने से नहीं मिल सकती परन्तु बाह्य विषयों के पीछे भागना मानव मन की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। इस प्रवृत्ति को रोककर, इन्द्रियों को बाह्य विषयों से समेटकर अन्तःस्थ आत्मा पर मन को केन्द्रित करना अन्तर्मुखता है। यह आत्मलाभ की पहली शर्त है।

(२) शुद्धि (Catharsis)—कठोपनिषद के अनुसार आत्मा को न तो प्रवचनों से और न मेधा से और न बहुश्रुत होने से ही जाना जा सकता है।[1] मुण्डकोपनिषद में सत्य तपस्वी जीवन यथार्थ बोध और ब्रह्मचर्य के जीवन आत्म लाभ के लिये आवश्यक माना गया है।[2]

(३) गुरु से दीक्षा—छान्दोग्य उपनिषद में सत्यकाम का कथन है कि उसने अपने आध्यात्मिक गुरु के समान श्रेष्ठ अन्य बहुत से लोगों से यह सुना है कि आत्मलाभ के पथ में गुरु से दीक्षा पाए बिना कोई भी लक्ष्य पर नहीं पहुंच सकता। कठोपनिषद में कहा है, "उठो जागो और जो तुमसे श्रेष्ठ है उनसे

१ नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन। क. I २ २२.
२ मु. III. १ ५.

सीखो क्योंकि आत्मलाभ का पथ छुरे की धार के समान कठिन है।[1] ऋषियों ने बुद्धिमत्ता से उसको दुर्गम पथ कहा है।[2] इसी उपनिषद में यह भी कहा है कि जब तक गुरु ने स्वयं आत्मलाभ न किया होगा तब तक वह कैसे दीक्षा दे सकता है। छान्दोग्य उपनिषद में गान्धारवासी मनुष्य की कथा में जब डाकू उसकी आँखें मूँदकर उसे उसके देश से दूर ले जाकर जंगल में छोड़ देते हैं तब किसी अन्य व्यक्ति के रास्ता बतलाने पर ही वह अपने देश तक पहुँच पाता है। इस कथा में आत्मलाभ में गुरु की आवश्यकता को बड़े सुन्दर ढंग से समझाया गया है।

(४) भक्ति—श्वेताश्वतर उपनिषद के अनुसार जब तक जिज्ञासु में देवताओं और गुरु के प्रति पर्याप्त भक्ति न हो तब तक उसको आत्म लाभ के मार्ग में दीक्षा नहीं दी जानी चाहिये।[3] कुछ उपनिषदों में सन्यास को भी एक आवश्यक शर्त माना गया है। परन्तु सबमें ऐसा नहीं है।

आत्म लाभ के साधन — भक्ति, शुद्धि, अन्तर्मुखता आदि के पश्चात् गुरु से दीक्षा मिलने पर जिज्ञासु आत्म लाभ के पथ में आगे बढ़ चलता है। इसमें दो विशेष साधन हैं एक तो योगाभ्यास और दूसरे प्रणव अथवा ओ३म् पर निदिध्यासन। इस निदिध्यासन के पूर्ण होने पर आत्मा ब्रह्म से एक हो जाती है और आत्म लाभ होता है।

योगाभ्यास — वृहदारण्यक उपनिषद के अनुसार तन और मन का संयम और योगाभ्यास चित्त को शुद्ध करके उसे ब्रह्मज्ञान के योग्य बनाता है। तप से चित्त की शुद्धि होती है। शम, दम, उपरति, तितिक्षा और समाधि आत्म लाभ के लिये आवश्यक हैं। प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, तर्क, ध्यान और समाधि के षडांग योग का अभ्यास करना चाहिये। आसन का भी वर्णन है परन्तु उनको षडांग योग में सम्मिलित नहीं किया गया है। शाण्डिल्य उपनिषद में अष्टांग पातञ्जलि योग का वर्णन है। दस प्रकार के यम बतलाए हैं यथा अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, दया, आर्जव, क्षमा, धृति, मिताहार और शौच। दस प्रकार के नियम बतलाए हैं यथा तपस, सन्तोष, आस्तिक, दान, ईश्वर पूजन, सिद्धान्त श्रवण, ह्री (अनैतिक कर्मों से लज्जा), श्रद्धा, जप और व्रत

१ छां IV ९ ३

२ उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरांन्निबोधत। क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथ स्तत्कवयो वदन्ति॥ क I ३ १४

३. यस्य देवे परा भक्तिः यथा देवे तथा गुरौ। तस्यैते कथिता ह्यर्थाः

श्वेताश्वतर उपनिषद में योग के अभ्यास के शारीरिक प्रभावों का भी उल्लेख है।

ओ३म पर निदिध्यासन

योगाभ्यास की विभिन्न सीढ़ियों को पार करके ओ३म पर ध्यान लगाने की आवश्यकता है, उपनिषदों में ओ३म को बड़ा महत्व दिया गया है। ओ३म के भी चार भाग किये गए हैं जो कि चेतना की चार अवस्थाओं और विभिन्न प्रकार की आत्माओं के अनुकूल है। ये चार अवस्थाएँ हैं जागृत स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय तथा ये आत्मा के चार भेद हैं वैश्वानर, तैजस प्रज्ञ और आत्मा ओ३म का चिन्तन करने से अन्य अवस्थाओं का निरोध होकर तुरीय अवस्था में स्थिति होती है और शुद्ध आत्मा की अनुभूति होती है।

आध्यात्मिक अनुभूति की सीढ़ियाँ

प्रो रानडे (Ranade) के अनुसार उपनिषदों में वर्णित आत्मा के आध्यात्मिक विकास की सीढ़ी में पाँच कदम माने जा सकते हैं।[1] ये पाँच अवस्थाएँ निम्नलिखित हैं—

(१) बृहदारण्यक उपनिषद के अनुसार प्रथम अवस्था मे स्वयं को आत्मा से पृथक समझते हुए अपने अन्दर आत्मा के रहस्यात्मक दर्शन द्वारा उसकी अनुभूति करता है। अत प्रथम अवस्था मे कहा है—"आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः।[2]

(२) उसी उपनिषद मे दूसरी अवस्था को यह कहकर समझाया गया है कि हम यह अनुभव करें कि हम आत्मा ही है और हम शारीरिक ऐन्द्रिक बौद्धिक अथवा मायात्मक कोष नही हैं। इस प्रकार दूसरी अवस्था मे शुद्ध आत्मा से तादात्म्य का अनुभव होता है। अत कहा है "आत्मानं चेद्विजानीयादयम स्मीति पुरुषः" ।[3]

(३) बृहदारण्यक उपनिषद के अनुसार आध्यात्मिक अनुभव की तीसरी अवस्था मे अनुभूति होनी चाहिये कि जिस आत्मा का हमने अनुभव किया है वह ब्रह्म से एक है। कहा है "अयमात्मा ब्रह्म।"[4] इसी बात को इसी उपनिषद में एक अन्य प्रकार से समझाया गया है यथा—

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवा—वशिष्यते।[5] अर्थात् आत्मा पूर्ण है और ब्रह्म भी पूर्ण है और, ब्रह्म की पूर्णता से

---

१ A Constructive Survey of Upanishadic Philosophy —P.276.

२ बृ II ४ ५. ३ बृ IV ४ १२ ४ बृ II ५ १९

५. बृ. ५. १॰

आत्मा की पूर्णता निकालने पर जो कुछ बचता है वह भी पूर्ण ही है इस प्रकार यह समझाया गया है कि आत्मा और ब्रह्म मे कोई भी भेद नहीं है।

(४) चौथी अवस्था मे पहली तीन अवस्थाओ के परिणामस्वरूप "अहं ब्रह्मास्मि"[1] अथवा 'तत्व मसि'[2] की अनुभूति होती है। जब जीव का यथार्थरूप आत्मा है और आत्मा ब्रह्म है तो इसका यही अर्थ है कि मै भी ब्रह्म ही हूँ। 'तत्वमसि' कहकर यही बात समझाई गई है कि तू (जीवात्मा) वह (ब्रह्म) है।

(५) अब यदि मैं ही ब्रह्म हूँ अथवा अन्तर और बाह्य, विजयी और विजय सभी ब्रह्म है तो इसका अर्थ यह हुआ कि समस्त जगत ही ब्रह्म है। छांदोग्य उपनिषद मे कहा है "सर्वं खल्विदं ब्रह्म"[3] इस प्रकार मानस और प्रकृति, आत्मा और अनात्मा सभी ब्रह्म है। यह पूर्ण अद्वैत की अवस्था मे पहुँच कर पूर्ण आत्म लाभ हो जाता है। यह आत्म लाभ ज्ञान, भक्ति अथवा कर्म किसी भी मार्ग से हो सकता है। उपनिषद के शब्दो मे "आध्यात्मिक अनुभूति की चरम परिणति तब है जबकि रहस्यवादी द्रष्टा अपने रूप को अपने मे से ही निकालते हुए एक परम प्रकाश के रूप मे देखता है। यही अमृत और अभय आत्मा की अनुभूति है।[4]

इस परम रहस्यात्मक अनुभूति (Mystic Realization) के निम्नलिखित

रहस्यात्मक अनुभूति के परिणाम

परिणाम बतलाए गए है —(१) बृहदारण्यक उपनिषद के अनुसार आत्मा का ज्ञान होने पर मनुष्य क्यो शारीरिक कर्म करेगा जब कि उसकी इच्छाएँ पूर्ण हो चुकी है और लक्ष्य प्राप्त हो चुका है।[5] इसका अर्थ यही है कि जब पूर्ण द्रष्टा अपने को शुद्ध आत्मा समझने लगता है तब उसकी समस्त शारीरिक वासनाएँ और मोह समाप्त हो जाते है।

(२) दूसरे समस्त सन्देह और भ्रम दूर हो जाते हैं। मुण्डकोपनिषद के अनुसार "उसके हृदय की ग्रथियाँ खुल जाती हैं, उसके समस्त सन्देह दूर हो जाते हैं, और उसके कर्मों के प्रभाव नष्ट हो जाते हैं।"[6] आत्म लाभ होने पर कोई समस्या नहीं रह जाती।

(३) आत्मलाभ से अत्यधिक शक्ति मिलती है। मुण्डकोपनिषद मे आत्म लाभ के पूर्व और पश्चात की शक्ति की तुलना की गई है—"यद्यपि जीवात्मा अभी तक विश्वात्मा के साथ एक ही वृक्ष पर रहता था परन्तु वह मोहासक्त था

---

१ बृ I ४ १० २ छां VI ८ ७ ३ छां III १४ १

४ मै II १-३ ५ बृ IV ४ १२

६ भिद्यते हृदयग्रान्थीश्छिद्यते सर्व संशया।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥ मु II २ ८

और अपनी पूर्ण अपकता के कारण दुखी था। परन्तु एकबार समस्त शक्ति के स्रोत परमतत्व से सम्बन्ध हो जाने पर उसके दुख समाप्त हो जाते हैं और वह विश्वात्मा की असमस्त शक्ति में भाग लेने लगता है।"[१]

(४) विश्वात्मा से योग होने पर परम आनन्द मिलता है। तैत्तरीय उपनिषद में इस आनन्द का सांगोपांग वर्णन है। बृहदारण्यक उपनिषद में इस आनन्द की प्रियपत्नी के साथ संयोग के आनन्द से तुलना की गई है।[२] इस आनन्द में व्यक्ति तीन दुनिया सबको भूल जाता है।

(५) इस आनन्द के उपभोग का पहला प्रभाव यह होता है कि समस्त भय दूर हो जाता है। आनन्द की अनुभूति भय की अनुभूति को मार देती है। तैत्तरीय उपनिषद के शब्दों में "वह निर्भय हो जाता है क्योंकि उसने अदृश्य अशरीर, अनिर्वचनीय निर्भय और सबके निराधार आधार में आवास पा लिया है।[३]

(६) अन्त में आत्मलाभ होने पर समस्त इच्छाएँ पूर्ण हो जाती हैं। छान्दोग्य उपनिषद के शब्दों में "जो आत्मा की खोज करके उसे पा लेता है उसे समस्त लोक प्राप्त हो जाते हैं और उसकी समस्त इच्छाएं पूर्ण हो जाती हैं।"[४]
इस प्रकार आत्मलाभ होने पर समस्त शारीरिक वासनाओं की शान्ति समस्त सन्देहों की निवृत्ति असीम शक्ति की प्राप्ति परमानन्द का उपभोग समस्त भय का विनाश और सभी इच्छाओं की पूर्ति हो जाती है। उपनिषदों का परम श्रेय आत्म साक्षात्कार है क्योंकि यही मानव का यथार्थ रूप है। आत्मा सबमें है और आत्मा ब्रह्म है। यही उपनिषदों का सर्वेश्वरवाद (Pantheism) है। परन्तु उपनिषदों का सर्वेश्वरवाद भिन्न कोटि का नहीं है। जगत ब्रह्म है परन्तु ब्रह्म जगत से अधिक है। इस सर्वेश्वरवाद में संकल्प की स्वतन्त्रता को नहीं खोया गया है। वास्तव में उपनिषदों के तत्व दर्शन पर सर्वश्रेष्ठ नीति शास्त्र खड़ा किया जा सकता है। स्वार्थ और परार्थ का समन्वय आत्मा की स्वतन्त्रता शुभाशुभ का निर्णय और सर्वांगीण परम श्रेय की खोज यह सब आत्मा की परम तत्व मानने से हो सकती है। मानव के दैवी कहने का तात्पर्य उसको यन्त्र अथवा अनुत्तरदायी बना देना नहीं है। मनुष्य का यथार्थ रूप ब्रह्म अवश्य है परन्तु अज्ञान के कारण वह अपने यथार्थ रूप को भूला रहता है। यह अविद्या जगत का स्वभाव है अनादि है। अतः इस अविद्या को प्रबल पूर्वक नष्ट करके विद्या को प्राप्त करना उपनिषदों का लक्ष्य है। विद्या प्राप्त होने पर मोक्ष प्राप्त होता है और सभी दुख दूर हो जाते हैं।

---

१ मुण्डक III १ २ २ बृ VI ३ २१ ३ तै II ७
४ छा VIII ७ १

चतुर्थ—अध्याय

श्री मद्भगवद्गीता

गीता और उपनिषद

डा० राधाकृष्णन के शब्दो मे "अपने चमिा न नाम मे गीता उपनिषद कहलाती है क्योकि उसने अपनी मुख्य प्रेरणा उन शास्त्रो के समूह से ली है जो उपनिषद कहलाते है।"[1] वैष्णवीय तन्त्रसा का कथन है —

सर्वोपनिषदो गावा दोग्धा गोपाल नन्दन ।
पार्थो वत्स सुधीर्भोक्ता दुग्ध गीतामृत महत ।।

"अर्थात् समस्त उपनिषद गाय है कृष्ण उनके दुहने वाले है, अर्जुन दूध पीने वाला बछडा है और गीता अमृत के समान दूध है। इस प्रकार परपरा से यह बात सर्वविदित है कि गीता मे उपनिषदो के दर्शन का निचोड है। वास्तव मे उपनिषद इतने गहन, विविध और विस्तृत है कि साधारण मनुष्य के लिये उनका अध्ययन करके ससार मे अपने कर्तव्य का ज्ञान कर लेना बडा कठिन है। गीता उसी सत्य को अत्यन्त सरल, स्पष्ट और ओजस्वी शब्दो मे सामने रखती है। अत गीता का भारतीय दर्शन मे सदा से ही बडा महत्व रहा है।

शाब्दिक और दार्शनिक सामान्यताएँ

गीता और उपनिषदो मे शब्दो और विचारो की पर्याप्त समानता पाई जाती है। यहाँ कुछ थोडे मे उदाहरणो से ही यह बात स्पष्ट हो जाएगी। कठोपनिषद का निम्नलिखित श्लोक गीता के द्वितीय अध्याय के बीसवें श्लोक मे लगभग शब्दश उधृत किया गया है —

न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नाय कुतश्चिन्न बभूव कश्चित् ।।
अजो नित्य श्वाश्वतोऽय पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ।।[2]

इसी प्रकार कठोपनिषद के निम्नलिखित श्लोक को गीता के द्वितीय अध्याय के उन्नीसवें श्लोक से मिलाइये —

---

१ Indian Philosophy

२ क १ २ १८ ।

हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं हतश्चेन्मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥[1]

भगवद्गीता के द्वितीय अध्याय के उन्नीसवें श्लोक में कठोपनिषद के निम्नलिखित श्लोक से भाव ग्रहण किया गया है—

श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहवो यन्न विद्युः।
आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः ॥[2]

इसी प्रकार भगवद्गीता के आठवें अध्याय के तेरहवें श्लोक में कठोपनिषद का निम्नलिखित श्लोक लगभग यथावत उद्धृत किया गया है —

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पद संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ॥[3]

अन्त में देवयान और पितृयान मार्गों का विचार जो कि उपनिषदों में वेदों से पाया था गीता ने उपनिषदों से ग्रहण किया है। गीता के आठवें अध्याय के चौबीसवें और पचीसवें श्लोक में इसका वर्णन है।

गीता का कर्मयोग ईशावास्योपनिषद के निम्नलिखित श्लोक से प्रेरित है —

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥[4]

गीता के ग्यारहवें अध्याय का विषय 'विश्व रूप दर्शन' मुण्डकोपनिषद के निम्नलिखित श्लोक प्रेरित है —

अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्र सूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग् विवृताश्च वेदाः।
वायुः प्राणो हृदयं विश्व मस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा ॥[5]

गीता के तृतीय अध्याय का बयालीसवां श्लोक कठोपनिषद के निम्न श्लोक के मनोवैज्ञानिक पक्ष पर आधारित है—

इन्द्रियेभ्यः पराह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धि बुद्धेरात्मा महान्परः ॥[6]

श्वेताश्वतरोपनिषद के ईश्वरवाद और भक्ति तथा उपासना के महत्त्व को गीता ने ग्रहण किया है।

---

१ क० १ २ १९।
२ क० १ २ ७।
३ क० १ २ १५।
४ ई० २।
५ मु० II. १ ४।
६ क० I ३ १०-११।

परन्तु एक स्थान पर गीता और उपनिषद के विचार मे अन्तर भी मिलता है। कठोपनिषद मे जो 'अश्वत्थ' वृक्ष का वर्णन किया गया है।[1] ठीक वैसा ही वर्णन गीता के पन्द्रहवें अध्याय मे किया गया है। परन्तु जहाँ कठोपनिषद ने अश्वत्थ वृक्ष को ब्रह्म माना है और सद् मानने के कारण उसका नाश असभव माना है वहाँ गीता ने उसको ससार और असद् माना है और इसीलिए उसको उखाड फेंकने का उपदेश दिया है।

गीता और उपनिषद में विरोध

यहाँ यह ध्यान रखने की बात है कि गीता मे उपनिषदों की पुनरावृत्ति मात्र न होकर उनसे आगे विकास किया गया है। यदि गीता मे उपनिषदो की ही बातें हैं तो फिर उसके रचने की क्या आवश्यकता थी। वास्तव मे गीता और उपनिषदों के तरीकों मे भेद है उपनिषदो का शास्त्रार्थ गीता मे नही दिखलाई पडता है। उपनिषदो मे बहुधा परस्पर विरुद्ध वाक्यों के कारण तत्व को समझना कठिन हो जाता है। गीता मे उपनिषदों के विभिन्न तत्वो का यथोचित समन्वय करके साधक को स्पष्ट बातें समझाई गई हैं। यही गीता का तात्पर्य भी था। गीता के प्रारम्भ मे अर्जुन श्रीकृष्ण से निश्चित मार्ग बतलाने की प्रार्थना करता है और अन्त मे अपने कर्त्तव्य का स्पष्ट ज्ञान प्राप्त करके कर्म मे प्रवृत्त हो जाता है। उपनिषदो में ज्ञान, कर्म और भक्ति तीनो मार्गो मे वितरण होने पर भी प्रथम पर ही अधिक जोर दिया गया है। गीता उपनिषदो से अधिक व्यावहारिक और समन्वयवादी है उसमे कर्म और भक्ति पर विशेष जोर है। उसमे प्रवृत्ति और निवृत्ति का समन्वय किया गया है। डा० राधाकृष्णन के शब्दो मे "गीता परस्पर विरोधी तत्वों का समन्वय करके उन्हें एक पूर्ण मे मिलाती है।"

उपनिषदों से गीता की विशेषता

गीता का महत्व

महाभारत मे गीता का वर्णन करने के पश्चात् महर्षि वेदव्यास अन्त मे कहते हैं—

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैं शास्त्र विस्तरैं।
या स्वय पद्मनाभस्य मुख पद्माद्विनिसृत ॥

अर्थात् श्री गीता को भली प्रकार पढकर अर्थ और भाव सहित अन्त करण मे धारण कर लेना मुख्य कर्तव्य है जो कि स्वय श्री पद्मनाभ विष्णु भगवान के मुखारविन्द से निकली हुई है फिर अन्य शास्त्रो से क्या प्रयोजन है? पाश्चात्य विद्वान विलियम वॉन हम्बोल्ट (William Von Humloldt) ने गीता

---
१ क II ६ १ ।

को "किसी ज्ञात भाषा में उपस्थित गीतों में संभवतः सबसे अधिक सुन्दर और दार्शनिक गीत" कहा है।

आधुनिक युग में गीता की उपादेयता

आधुनिक युग विज्ञान का युग है। अतः कुछ लोगों को यह शंका हो सकती है कि क्या आधुनिक युग में भी गीता की उपादेयता है? सच पूछा जाय तो गीता की यथार्थ आवश्यकता तो आधुनिक युग में ही है। यदि यह कहा जाय तो अतिशयोक्ति नहीं होगी कि आज के मानव की सब जब सभी समस्याएँ गीता का अनुसरण करने से सरल हो जाएँगी। काल के साथ-साथ मानव स्वभाव परिवर्तित नहीं होता। गीता का आधार मानव स्वभाव के मौलिक तत्वों पर है अतः मानव को सदा ही गीता से प्रेरणा मिलेगी। आधुनिक युग के अनेक दार्शनिक राजनीतिक और वैज्ञानिकों ने गीता से प्रेरणा पाई है। महात्मा गांधी कहा करते थे कि जिस प्रकार मेरी पत्नी मेरे लिये इस संसार में सबसे सुन्दर स्त्री है उसी प्रकार भगवद्गीता भी सभी उपदेशों में सर्वाधिक दैवी सपीन है। यंग इण्डिया में गांधी जी लिखते हैं "मैं भगवद्गीता में एक ऐसी शक्ति पाता हूँ जो मुझे 'पर्वत पर उपदेश' (Sermon on the Mount) में भी नहीं मिलती। जब निराशा मेरे सम्मुख उपस्थित होती है और नितान्त एकाकी मैं प्रकाश की एक किरण भी नहीं देख पाता तब मैं भगवद्गीता की ओर लौटता हूँ। मुझे यहाँ अथवा वहाँ एक श्लोक मिल जाता है और मैं तत्काल ही अत्यधिक दुःखों के बीच में मुस्कराने लगता हूँ। लोकमान्य तिलक ने आधुनिक युग को गीता द्वारा प्रकाश देने के लिये ही 'गीता रहस्य' की रचना की। एनीबेसेन्ट और श्री अरविन्द ने भी आधुनिक युग की दृष्टि से गीता की व्याख्या की।

विश्व बन्धुत्व का संदेश

आज के युग में जबकि विश्वशान्ति के समस्त उपाय बालू की भीत पर खड़े दिखाई पड़ते हैं गीता का विश्वबन्धुत्व का उपदेश संसार का मार्गदर्शन कर सकता है। गीता का चरम साधन लोक संग्रह है। उसमें मानव ही नहीं बल्कि समस्त भूतप्राणियों के हित (सर्वभूतहितेरता) की कामना है। गीता के उपदेशों में वह उदारता है जो हिन्दू विचार की एक विशेषता है। गीता में सबमें भगवान को देखने का उपदेश देकर स्वार्थ और परार्थ का अद्वित समन्वय किया गया है।

प्रवृत्ति और निवृत्ति का समन्वय

आधुनिक युग में गीता के प्रथम से भिन्न परिस्थिति है। गीता के प्रसंग में अर्जुन निवृत्ति की ओर उन्मुख था। आज का मानव अत्यधिक प्रवृत्तिशील है। परन्तु फिर भी आज का मानव भी अर्जुन के समान ही एकांगी है अतः सन्तु-लन रखने के लिये उसे भी गीता की उतनी ही आव

श्यकता है गीता मे सर्वांग पूर्णतावाद का उपदेश है। उसमें **'प्रावृति से निवृति नहीं बल्कि प्रवृति में निवृति'** का उपदेश दिया गया है। इसी मे समाज और व्यक्ति दोनो का ही कल्याण है। प्रो० हिरियाना के शब्दो मे "हमारा युग आत्मदमन नही बल्कि आत्मगौरव (Self Assertion) का युग है। लोग सन्यासी बनने के लिये अपना कर्तव्य छोडने वाले नही हैं जैसा कि अर्जुन कहना चाहता था। खतरा दूसरी ओर से है। अपने अधिकारो का दावा और उपयोग करने की उत्सुकता मे हम अपने कर्त्तव्यो की अवहेलना कर सकते हैं। अत गीता के उपदेशो की आवश्यकता सदा की तरह अत्यधिक है। कालान्तर मे उसका मूल्य घटा नही है और यही उसकी महानता का चिह्न है।"
वास्तव मे गीता देशकाल से परे हैं। उसके सभी प्रकार के स्वभावो को शान्ति मिल सकती है। राजा, रक, सन्त, योद्धा सभी उससे प्रकाश पा सकते हैं। एनीबेसेन्ट के शब्दो मे "वह सगीत केवल अपनी जन्मभूमि मे ही नही बल्कि सभी भूमियो पर गया है और उसने प्रत्येक देश मे भावुक हृदयों मे वही प्रतिध्वनि जगायी है।"

मुख्य उपदेश (Central Teaching)

भारतीय दर्शन मे कोई भी विषय इतना स्पष्ट और साथ ही साथ इतना विवादास्पद नही रहा है जितना कि गीता का मुख्य उपदेश। गीता को सर्वाधिक महत्वपूण श्रुति मे से एक माना गया है अत अधिकाश महान दार्शनिकों ने उसका भाष्य किया और उसके उपदेशो से अपने अपने मत की पुष्टि की। इस प्रकार गीता के मुख्य उपदेश को लेकर भारी मतभेद उपस्थित हो गया। इससे कुछ लोग यह अर्थ लगाते हैं कि यथार्थ में गीता मे कोई एक मुख्य उपदेश ही नही है और अनेक समान मार्गों को बिना समन्वय किये ही उपस्थित कर दिया गया है। परन्तु ऐसा सोचने वाले यह भूल जाते हैं कि यदि ऐसा होता तो फिर उपनिषदो के रहते गीता की क्या आवश्यकता थी। दूसरे गीता के उपदेश का तो प्रयोजन ही मोहित-बुद्धि अर्जुन को निश्चित और स्पष्ट मार्ग बतलाया था तथा अर्जुन ने गीता को सुनने के पश्चात् यह माना भी है कि उसके समस्त सन्देह दूर हो गये तब फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि गीता का कोई एक मुख्य उपदेश ही नही था। हाँ, इस बात मे इतना सत्य अवश्य है कि गीता ने ज्ञान, भक्ति अथवा कर्म में से किसी को मुख्य नही ठहराया है बल्कि निष्काम कर्मयोग' के नाम से एक ऐसा मार्ग उपस्थित किया है जिसमे ज्ञान, भक्ति तथा कर्म, बुद्धि, भावना तथा सकल्प की चरम परिणति है। यह 'निष्काम कर्मयोग' ही गीता का मुख्य उपदेश है परन्तु इसका अर्थ क्या है, यह विचारणीय विषय है। इसका विचार करने से पूर्व गीता के मुख्य उपदेश के विषय मे उपस्थित भिन्न-भिन्न मतो का विवेचन कर लेना अधिक

उपयुक्त है ताकि यह सिद्ध हो सके कि गीता का मुख्य उपदेश क्या है। यह सत्य है कि सरसरी दृष्टि से देखने पर गीता में अनेक परस्पर विरुद्ध वाक्य मिल सकते हैं जिनको लेकर विभिन्न भाष्यकारों ने अपने अपने मत खड़े किये हैं। परन्तु समन्वयवादी आध्यात्मिक दृष्टिकोण से देखने पर ये सभी परस्पर विरोधी वाक्य परस्पर पूरक दिखाई पड़ेंगे। पूर्ण दृष्टिकोण में परस्पर विरोधी आंशिक मत एक दूसरे के पूरक ही दिखलाई पड़ते हैं।

विभिन्न मत

शंकर के अनुसार गीता का मुख्य उपदेश ज्ञान है। वे कर्म और भक्ति को ज्ञान के लिये आवश्यक नहीं मानते और उनको ज्ञान से गौण मानते हैं। उनके अनुसार केवल तत्वज्ञान से ही मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है।[1] दूसरी ओर रामानुज ज्ञान और कर्म की अपेक्षा भक्ति को श्रेष्ठ मानते हैं और भक्ति में ज्ञान तथा कर्म को आवश्यक भी नहीं मानते। मध्वाचार्य के अनुसार भी गीता का मुख्य उपदेश भक्ति मात्र ही है। वल्लभाचार्य का कहना है कि "ईश्वर के प्रति भक्ति मोक्ष प्राप्त करने का एकमात्र साधन है।" निम्बार्काचार्य भी इसी मत का समर्थन करते हैं। महात्मागांधी भी भक्ति को महत्व देते हैं परन्तु साथ ही उन्होंने नैतिक मूल्यों पर भी बड़ा जोर दिया है इन सब के अतिरिक्त अन्य महत्वपूर्ण मतों का आगे समयानुसार उल्लेख किया जाएगा।

लोकमान्य तिलक का मत

उपरोक्त मतों में ज्ञान अथवा भक्ति पर जोर दिया गया है। 'गीता रहस्य' के प्रणेता लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक के अनुसार गीता का मुख्य उपदेश 'कर्मयोग' है।[2] और ज्ञान तथा भक्ति दोनों गौण हैं। गीता के आधुनिक भाष्यकारों में भी अरविन्द के समान तिलक का स्थान भी सर्वश्रेष्ठ है। अतः उनके तर्कों का विस्तृत विवेचन करना उपयोगी होगा। अपने मत को सिद्ध करने के लिए तिलक ने 'गीता रहस्य' में किसी ग्रन्थ का मुख्य उपदेश पता लगाने के लिये न्यायदर्शन का निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किया है।

> उपक्रमोपसंहारौ अभ्यासोऽपूर्वता फलम्।
> अर्थवादोपपत्ती च लिंगं तात्पर्य निर्णये॥

---

१ "ज्ञानात् तत्व ज्ञानादपि मोक्ष प्राप्तिः"—गीता—शांकर भाष्य।

२ वास्तव में गीता में हमें जीवन का अर्थ सुलझाने के लिये नहीं बल्कि अपना कर्तव्य खोजने के लिये और कर्म करने के लिये तथा कर्म की सहायता से जीवन की पहेली पर अधिकार करने के लिये कहा गया है।
—J W Hawyer—Hibbert Journal.

अर्थात् किसी ग्रन्थ के तात्पर्य का निर्णय करने के लिये ये सात चिह्न हैं:— उपक्रम, उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद और उपपत्ति। तिलक के अनुसार इन सातों चिह्नों से गीता का मुख्य उपदेश 'कर्मयोग' ही ठहरता है।

गीता के उपदेश का प्रसंग

जिस प्रसंग में गीता का उपदेश दिया गया है वह अत्यन्त महत्वपूर्ण है। वह एक युद्ध का प्रसंग था। प्रो० हिरियाना के शब्दों में "जिस अवसर पर इसके (गीता के) उपदेश की आवश्यकता पड़ी वह अत्यन्त गम्भीर था जबकि केवल देश का ही नहीं बल्कि स्वयं नैतिकता (Righteousness) का भाग्य खतरे में था।" अतः गीता को दार्शनिक समस्याओं के विवेचन का ग्रन्थ समझना अप्रासंगिक है। उस प्रसंग में गीता का मुख्य प्रयोजन अर्जुन को युद्ध करने अर्थात् कर्म करने को तैयार करना था। कर्म के विषय में अर्जुन के मोहित हो जाने से ही गीता की आवश्यकता हुई। अतः गीता का तात्पर्य कर्ममार्ग को स्पष्ट करना है।

गीता के उपदेश का परिणाम

गीता के उपदेश के पश्चात् अर्जुन युद्ध करने को तैयार हो गया। तिलक इस तथ्य की ओर संकेत करते हैं कि गीता के उपदेश के उपरान्त अर्जुन न तो संन्यासी होकर जंगल को चला गया और न भक्त बनकर कीर्तन आदि में लग गया बल्कि कमर कसकर युद्ध को प्रस्तुत हो गया। अतः इससे तिलक इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि गीता का प्रयोजन ज्ञान अथवा भक्ति न होकर कर्म है।

कर्म के आदेश की पुनरावृत्तियाँ

समस्त गीता में श्रीकृष्ण ने कर्म करने का आदेश बारंबार दोहराया है। श्रीमती एनीबेसेन्ट के शब्दों में "चाहे कोई भी तर्क क्यों न हो प्रत्येक में बराबर यह आदेश दिया गया है कि इसलिए लड़ो।"

गीता की अपूर्वता

जैसा कि पहले कहा जा चुका है गीता में उपनिषदों से नवीन दृष्टिकोण उपस्थित किया गया है। यदि ज्ञान और भक्ति तात्पर्य होता तो फिर उपनिषदों से ही काम चल सकता था। गीता की नवीनता है उसका कर्मयोग का आदेश। अतः गीता का मुख्य उपदेश भी यही है।

फल, अर्थवाद और उपपत्ति

इसी प्रकार फल की दृष्टि से भी गीता का प्रयोजन कर्म योग ही ठहरता है। गीता में विश्वरूप दर्शन, क्षर और अक्षर का भेद आत्मा का वर्णन, नित्य, नैमित्तिक और काम्य कर्मों का विवरण इत्यादि सभी बातें इसी कर्मयोग की सहायक हैं। इसी प्रकार प्रारम्भ से अन्त तक

श्रीकृष्ण ने युद्ध करने के आदेश को ही भिन्न भिन्न तर्कों से स्पष्ट करने की चेष्टा की है। प्रारंभ में उन्होंने उससे कहा कि मरने से स्वर्ग पाओगे और जीतने से पृथ्वी का राज्य भोग करोगे परन्तु जब इस व्यावहारिक बात का उस पर कोई प्रभाव न पड़ा तब श्रीकृष्ण ने अर्जुन को आत्मा की अमरता का उपदेश दिया। इसी प्रकार के अन्य अनेक तर्कों के बाद भी जब अर्जुन का समाधान न हुआ तब श्रीकृष्ण ने उसे साक्षात विश्वरूप का दर्शन कराके यह बात समझा दी कि वास्तविक कर्ता स्वयं परमात्मा है और उसके हाथों में एक यन्त्र मात्र है और परमात्मा द्वारा निश्चित कर्तव्य करने में ही उसका कल्याण है।

तिलक का मत भी एकांगी है

उपरोक्त तथ्यों के नितान्त सत्य होते हुए भी उनसे लोकमान्य तिलक ने जो परिणाम निकाला वह समन्वयवादी न होकर शंकर और रामानुज आदि अन्य भाष्यकारों के समान एकांगी है। गीता में निश्चय ही कर्म करने का उपदेश है परन्तु यह कर्म सामान्य कर्म न होकर निष्काम कर्म है। निष्काम का अर्थ कामना रहित अथवा तटस्थ न होकर भगवान की इच्छा के अनुसार कर्म करना है। भगवान की इच्छानुसार कर्म भगवान से तादात्म्य की स्थिति में ही हो सकता है अतः निष्काम कर्मयोग का अर्थ ईश्वर से तादात्म्य करके उसके हाथ के सजग कर्मी यन्त्र बनकर कर्म करना है। इससे कर्म का बन्धन न होगा। परन्तु यह स्थिति केवल कर्म करने से संभव नहीं है। भक्ति और पूर्ण आत्मसमर्पण के बिना ईश्वर से तादात्म्य असंभव है। पूर्ण सर्वांगीण तन्मयता में बुद्धि का भी योगदान आवश्यक है अतः ज्ञान की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। इस प्रकार गीता में वर्णित स्थित प्रज्ञ की अवस्था पर पहुँचने के लिये ज्ञान भक्ति और कर्म विचार भावना और संकल्प सभी का समन्वय करके ईश्वर से तादात्म्य करके अपने कर्म किये जाना है। ये कर्म कर्म के लिये नहीं बल्कि ईश्वर के लिये हैं क्योंकि वर्णव्यवस्था तथा कर्मों को ईश्वर ने ही निर्धारित किया है। इस सर्वांगीण तादात्म्य से मानव का दैवी रूपान्तर होगा जिससे वह संसार में दैवी प्रयोजन सिद्ध करने का सजग कर्मी बन सकेगा।

गीता में आध्यात्मिक समन्वय है

वास्तव में आध्यात्मिक दृष्टिकोण सदा ही पूर्ण और समन्वयवादी दृष्टिकोण होता है। उसमें विरोधी पूरक हो जाते हैं। प्रो० हिरियन्ना के शब्दों में "गीता का उद्देश्य प्रवृत्ति और निवृत्ति कर्म और ज्ञान के दो आदर्शों में स्वर्णिम मध्यम मार्ग निकालना है। यही गीता के कर्मयोग का यथार्थ तात्पर्य है। निष्काम कर्मयोग ज्ञान भक्ति और कर्म का

आध्यात्मिक समन्वय है। यह समन्वय इन तीनो पक्षों का व्यावहारिक समझौता नही है। यह अरस्तू के स्वर्णिम मध्य माग (Golden Mean) से भिन्न है। नाही इनमे अवयवीय सम्बन्ध (Organic Relation) है। यह आध्यात्मिक एकता की स्थिति है। बौद्धिक प्रत्ययो से इसे नही समझाया जा सकता। केवल यह कहा जा सकता है कि इसमे सकल्प, विचार और भावना सभी एक रस, सभी रूपान्तरित, सभी दैवी (Divine) हो जाती है। डा० राधाकृष्णन के शब्दो मे "कर्म मार्ग (गीता का मुख्य उपदेश) हमे एक ऐसी अवस्था पर ले जाता है जहाँ भावना, ज्ञान और सकल्प सभी उपस्थित हैं।"

"ब्रह्मविद्यायां योग शास्त्र"

अभी तक गीता के मुख्य उपदेश को विभिन्न भाष्यकारों के मतो की विवेचना द्वारा समझने का प्रयत्न किया गया है। परन्तु स्वय मूल गीता ग्रथ के श्लोको का विवेचन किये विना यह विषय अधूरा ही रह जाएगा। गीता के प्रत्येक अध्याय की समाप्ति पर गीता को "ब्रह्म विद्याया योगशास्त्र' अर्थात् ब्रह्म विद्या पर आधारित योग का शास्त्र कहा गया है। अत गीता योगशास्त्र है। शास्त्र का अर्थ होता है किसी विषय का व्यवस्थित अध्ययन। गीता में ज्ञान, भक्ति अथवा कर्म का नहीं वल्कि 'योग' का व्यवस्थित अध्ययन किया गया हैं। अत गीता का मुख्य उपदेश है "योग"। ब्रह्मविद्या अथवा ज्ञान उसका आधार है जो कि आवश्यक है यद्यपि मुख्य नही है। इस प्रकार गीता का नीति शास्त्र आध्यात्मिक ज्ञान पर आधारित है।

'योग' का अर्थ

अत गीता को समझने के लिए 'योग' शब्द का अर्थ समझना अत्यावश्यक है। यहाँ पर भी अनेक मत उपस्थित होते हैं। उन सबमें सत्य को पकड़ने के लिए मूल गीता पर बराबर दृष्टि रखना चाहिये। 'योग' शब्द 'युज' धातु से वना है जिसका अर्थ है मिलना अथवा 'सयोग' अथवा तादात्म्य। इसी को लेकर रामानुज ने जीव और ईश्वर के सयोग पर जोर दिया है। रामानुज का यह मत असत्य नही है केवल उसमे यह कहना आवश्यक है कि पूर्णयोग में तादत्म्य होता है, आत्मा और परमात्मा एक हो जाते हैं और रामानुज इस पूर्ण तादात्म्य को नही मानते। दूसरे गीता में जैसा कि आगे दिखलाया जाएगा योग मे कर्म आवश्यक है अत एकमात्र भक्तिमार्गी व्याख्या एकागी हो जाएगी।

योगेश्वर श्रीकृष्ण के अनुसार "कर्मो में कौशल (पूर्णता) ही योग है" (योग कर्म सुकौशल)। अत शकर अथवा रामानुज की व्याख्या अनुपयुक्त प्रतीत होती है। साथ ही योग का अर्थ पातजलि का योग भी नहीं मालूम होता

क्योंकि अर्जुन तो पहले ही संन्यासी होकर जंगल में जाना चाहता था और इसी से श्रीकृष्ण ने उसको रोका है । यह सत्य है कि गीता में मन को वश में करने के लिए पातंजलि योग की क्रियाओं को उपयोगी माना गया है परन्तु इस प्रकार से केवल साधन मात्र है । गीता के योग में प्रवृत्ति का विरोध नहीं है । एनीबेसेन्ट के शब्दों में "इस योग शास्त्र में सब जगह घोर कर्म का उपदेश है । पातंजलि योग के उपदेश के लिए युद्ध क्षेत्र नहीं बल्कि जंगल ही अधिक उपयुक्त स्थान होता ।

कर्म सन्यास से कर्म-योग श्रेष्ठ है

अतः गीता ने कर्म सन्यास से कर्म योग को श्रेष्ठ माना है । गीताकार के अनुसार कर्म सन्यास और कर्म योग दोनों से मोक्ष मिल सकता है परन्तु फिर भी कर्म सन्यास से कर्म योग श्रेष्ठ है ।[1] परन्तु इससे यह अर्थ नहीं लगाया जा सकता कि गीता का मुख्य उपदेश कर्म है । गीता का उपदेश इस विषय में बिल्कुल स्पष्ट है । "तपस्वी से योगी बड़ा है, ज्ञानी से भी योगी बड़ा है कर्मी से भी योगी श्रेष्ठ है अतः हे अर्जुन तू योगी हो ।"[2] इन शब्दों से जहाँ यह स्पष्ट है कि योगी तपस्वी ज्ञानी और कर्मी से श्रेष्ठ है वहाँ यह भी स्पष्ट है कि योग तपस्या ज्ञान अथवा कर्म से भिन्न है । योग कर्म नहीं बल्कि कर्म में कौशल (कुशलता) है । यह कौशल क्या है ?

योग का अर्थ दैवी शक्ति से तादात्म्य

योग का अर्थ समझाते हुए आगे श्रीकृष्ण ने कहा है कि "युक्त आहार, युक्त विहार, युक्त चेष्टा और कर्म तथा युक्त स्वप्न और बोध के रूप में योग दुःख का नाशक है ।[3] एक अन्य स्थान पर योग को 'समत्व' कहा गया है । यहाँ पर युक्त अथवा समत्व का अर्थ सन्तुलित (Balanced) नहीं है क्योंकि यदि ऐसा हो तो फिर 'मन्मनाभव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु' इत्यादि वाक्यों का कोई अर्थ नहीं होता । साथ ही इससे गीता में वर्णित 'स्थित प्रज्ञ' की अवस्था तक भी नहीं पहुँचते । गीता में 'स्थित प्रज्ञ' योगी को ही कहा गया है । 'स्थित प्रज्ञ' का अर्थ 'दैवी प्रज्ञा में स्थित' अर्थात् जिसको जागृति स्वप्न सुषुप्ति सभी अवस्थाओं खाते पीते और कर्म करते हाथी कुत्ते और ब्राह्मण तथा चाण्डाल सभी में ईश्वर दिखाई

---

१ संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते । IV २ ।

२ तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥ VII ४६ ।

३ युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥

पड़े, सभी अवस्थाओं में ईश्वर से तादात्म्य रहे। 'युक्त' तथा 'समत्व' का यही अर्थ है। इस प्रकार योग का अर्थ दैवी शक्ति से अविच्छिन्न तादात्म्य रखना है। इसी से गीता के परम श्रेय भगवद् प्राप्ति और लोक संग्रह की एक ही साथ सिद्धि हो सकती है। लोक संग्रह भगवद् प्राप्ति का ही एक पक्ष है और भगवद् प्राप्ति के बाद लोक में भगवान के कार्य का यन्त्र बनाना ही मानव की परमावस्था है।

गीता का मुख्य उपदेश निष्काम कर्मयोग है

अतः गीता का मुख्य उपदेश निष्काम कर्मयोग है। अब तक के विवेचन से निष्काम कर्मयोग का अर्थ स्पष्ट हो गया होगा। निष्काम का अर्थ है वैयक्तिक कामना से नहीं बल्कि विश्वात्मा (जो कि हमारी आत्मा का ही उच्च पक्ष है) की कामना से कर्म करना, भगवद् कर्म के [illegible] यन्त्र बनना। कर्म का अर्थ अपने अपने वर्ण-धर्मानुसार अथवा स्वभाव और शक्ति के अनुसार देव गुरु और पितरों के प्रति अपने कर्तव्य करना है। गीता ने वर्णाश्रम के धर्म को जन्म नहीं बल्कि स्वभाव के आधार पर माना है। इस अर्थ में यह नियम आज भी अत्यन्त वैज्ञानिक है। श्रमविभाग (Division of Labour) को गीता ने दैवी स्वीकृति प्रदान की है। इसका अर्थ किसी प्रकार की वर्ग-व्यवस्था न होकर समाज का सुचारु रूप से संचालन था क्योंकि वर्णधर्म का पालन जन्मसिद्ध अधिकार समझकर नहीं बल्कि भगवान का आदेश समझ कर उसकी दी हुई शक्तियों को उसी के काम के लिए उपयोग करने के लिये है। योग का अर्थ ईश्वर मे तादात्म्य है और यही गीता का परम श्रेय है। वास्तव में जैसा कि डा० राधाकृष्णन ने कहा है "गीता एक सामूहिक आक्रमण की प्रभावोत्पादकता मे विश्वास करती है।" निष्काम कर्म योग मानव की शारीरिक मानसिक आध्यात्मिक प्रकृति के अनुकूल है। उससे स्वार्थ और परार्थ व्यक्ति तथा समाज इह लोक तथा परलोक सभी का कल्याण साधन होता है। इस प्रकार गीता ने दैवी प्रज्ञा मे स्थित एक ऐसे योगमय जीवन का उपदेश दिया है जिसमे कि अन्य समस्त धर्मों को छोडकर दैवी आदेश का यन्त्र बनकर जीवन बिताना ही एकमात्र धर्म बन जाता है।[१] सारे तर्क देने के बाद श्री कृष्ण ने अर्जुन को यही उपदेश दिया है कि सब धर्मों को छोडकर मेरी शरण

१ श्री अरविंद के शब्दों में "गीता हमें कर्मों को कामना रहित होकर करना नहीं सिखाती बल्कि सर्व धर्मों को छोडकर दैवी जीवन का अनुसरण करना, एकमात्र परम में शरण लेना सिखाती है और एक बुद्ध, एक राम कृष्ण और एक विवेकानन्द का दैवी कर्म उसके उपदेश से पूर्ण सामंजस्य में है।"

—Essays on the Gita.

मैं आ जा। मैं तुझे समस्त पापों से छुड़ा दूँगा। चिन्ता मत कर।[1] यही कृष्ण ही सर्वव्यापी विश्वात्मा है। अतः गीता का प्रयोजन मानव का दैवी रूपान्तर करके उसे निष्काम कर्मयोग द्वारा जगत में ईश्वर के कार्य का साधक बनाना है।

तत्त्व विचार

ईश्वरवाद और सर्वेश्वरवाद

भगवद्गीता के अनुसार संसार में दो प्रकार के तत्त्व हैं यथा क्षर और अक्षर, अथवा प्रकृति और आत्मा। इन दोनों से परे है पुरुषोत्तम भगवान। वह परात्पर है परन्तु फिर भी पूर्ण है। वह नित्य सच्चिदानन्द और जगत का पिता माता धाता पितामह, प्रभु, साक्षी भर्ता, निवास और शरण है।[2] वह क्षर और अक्षर दोनों का आधार है। गीता में विशेषतः 'विश्वरूप दर्शन' नाम के अध्याय में सर्वेश्वरवाद (Pantheism) मिलता है। ईश्वर को अक्षर परम ब्रह्म जगत का परम निधान अव्यय धर्म गोप्ता सनातन पुरुष आदि देव पुराण पुरुष तथा अनन्त कहा गया है। इस प्रकार सर्वेश्वरवाद के साथ-साथ गीता में सब कहीं ईश्वरवाद (Theism) भी मिलता है। ईश्वर परम ब्रह्म है परन्तु साथ ही परम पुरुष भी है। वह ज्ञान का विषय है परन्तु उसकी भक्ति का भी उपदेश किया गया है। वह जगत से परे है परन्तु फिर भी आत्मा के रूप में सबमें व्यापक है। वह पुरुष सर्वशक्तिमान सर्वज्ञ सर्वव्यापी अनिर्वचनीय और जगत का सृष्टा पालक और संहारक है। वह स्वयं ज्योति स्वरूप है। वह अपने भक्तों पर कृपा करता है।

---

१ सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥ XVIII ६६।

२ पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्॥
द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतान्यि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥
यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥
गीता IX. १७-१८ XV १६. १८।

परम ब्रह्म ही जगत के दृष्टिकोण से ईश्वर है। डा० राधाकृष्णन के शब्दो में

गीता में भक्ति का उपदेश

"नित्य शक्ति को गीता मे इतना दार्शनिक विचार का ईश्वर नही माना गया है जितना कि कृपालु भगवान माना गया है जिसको आत्मा और हृदय की आवश्यकता है और जिसे वे खोजते हैं।" भगवान भक्तो को समस्त धर्मो को छोडकर उनकी शरण मे जाने का उपदेश देते हैं। यह भक्ति आत्म समर्पण (Self Surrender) चाहती है। जितना ही पूर्ण आत्म समर्पण होगा उतना ही अधिक मानव भगवान के समीप पहुँच सकेगा। भगवान को भजने से दुराचारी मनुष्य भी मोक्ष प्राप्त कर सकता है।[1]

अवतारवाद

गीता अवतारवाद में विश्वास करती है। ईश्वर अज, अनन्त और परात्पर होने पर भी अपनी अनन्तता को अपनी माया शक्ति से सीमित करके शरीर धारण करता है। अवतार का अर्थ ईश्वर का मानव के स्तर पर उतरना है मानव का ईश्वर के स्तर तक आरोहण नही। अधर्म और अन्याय को मिटा कर, मानव हृदयो को शुद्ध करके धरती पर स्वर्ग का राज्य स्थापित करने को स्वय भगवान मानव शरीर धारण करके पृथ्वी पर अवतरित होते हैं। अवतार सदैव ही एक नवीन युग का सदेश लेकर आते हैं। गीता के अनुसार जब कभी धर्म का पतन होने लगता है तब तब उसका उत्थान करने के लिए भगवान अवतार लेते हैं। उनका उद्देश्य साधुओ का परिमाण, दुष्टो का विनाश और धर्म की स्थापना करना है।[2] हिन्दू लोग श्रीकृष्ण को इसी प्रकार का अवतार मानते हैं।

ईश्वरवाद और सर्वेश्वरवाद का सामञ्जस्य

कुछ लोग यह प्रश्न उठाते हैं कि यदि गीता सर्वेश्वरवादी है तो उसमें ईश्वर-वाद कैसे रह सकता है ? गीता के सर्वेश्वरवाद और ईश्वरवाद मे कोई विरोध नहीं है क्योंकि वहाँ सर्वेश्वरवाद का अर्थ यह नहीं है कि जगत से परे ईश्वर नहीं है। जगत ईश्वर अवश्य हैं परन्तु ईश्वर केवल जगत नहीं है। भगवद्गीता मे दसवें अध्याय के अन्त में श्रीकृष्ण ने स्पष्ट कहा है कि ईश्वर समस्त जगत मे सूक्ष्मरूप से व्याप्त है और जगत उसके एक 'अश' से स्थित है।[3] इस प्रकार सर्वव्यापी होकर भी ईश्वर परम-पुरुष के रूप मे अवतार ले सकता है। इसका अर्थ यह नही कि उसको सर्वव्यापी अथवा

---

१ अपि चेत्सुदुराचारो भजते माम न न्यमाक्।
साधुरिव स मन्तव्य सम्यग व्यवसितो हि स ॥

२ दैवी ह्येषा गुणामयी मम माया दुरत्यया। गीता VII १४

अवतारं रूप में से कोई मनुष्य है। वास्तव में मानवीय बौद्धिक तर्क से आध्यात्मिक विषय नहीं समझाये जा सकते। प्रत्येक तत्व का अपना अपना तर्क होता है। दैवी तत्व जड़ तत्व से भिन्न है अतः उस पर बौद्धिक तर्क (Intel lectual Logic) के सिद्धान्त नहीं लागू हो सकते। वह सर्वेश्वर और ईश्वर दोनों ही रूप में एक ही साथ पूर्ण हो सकता है। वह अन्तरस्थ भी है और परात्पर भी वह सब कुछ होते हुये भी सबसे परे है। यह कैसे हो सकता है? यह आध्यात्मिक अपरोक्षानुभूति से ही समझ में आ सकता है। गीता में विश्वरूप दर्शन से पहले अर्जुन भी इस रहस्य को नहीं समझ सका था। यह रहस्यमय अनुभूति (Mystic ealiz tion) का विषय है।

प्रकृति जगत का उपादान कारण है। ईश्वर उसका निमित्त कारण है। वह प्रकृति का नियंत्रण करता है। ईश्वर की प्रकृति के दो पक्ष हैं—परा और अपरा। अपरा अथवा निम्न प्रकृति में पृथ्वी जल अग्नि वायु, आकाश मानस और बुद्धि सम्मिलित है। वे भौतिक दैविक और मनोवैज्ञानिक जगत का उपादान कारण है। परा प्रकृति सीमित सशरीर आत्माओं का पालन करती है अपरा प्रकृति अचेतन और परा चेतन है। दोनों ही ईश्वर की शक्तियाँ है। अतः वास्तव में ईश्वर ही जगत का उपादान और निमित्त कारण है। प्रकृति ईश्वर की माया है। यह माया सत्व रजस और तमस तीन गुणों से बनी है। माया मिथ्या नहीं बल्कि यथार्थ शक्ति है।[1] ईश्वर जीवों के कर्म तथा अकर्म के अनुसार सभी अपनी प्रकृति से उत्पन्न करता है। प्रकृति और पुरुष दोनों ही नित्य और अज है।

प्रकृति

जीव ईश्वर के सनातन अंश है। शरीर देशकाल से सीमित है वह जन्म लेता और मरता है। आत्मा अजन्मा अमर और देशकाल से परे है। वह अपार अनन्त और नित्य है। वह अनिर्वचनीय अपरिवर्तनीय सर्वव्यापी स्थिर और क्रियाहीन है। वह मन बुद्धि और इन्द्रियों से परे है। वह इस शरीर के पहले भी थी और बाद में भी रहेगी। शरीर के व्यर्थ हो जाने पर वह उसे छोड़कर नवीन शरीर धारण कर लेती है। वह सत्व रजस और तमस से परे है। सुख दुःख प्रेम सवेग तृष्णा मन बुद्धि अहंकार और इन्द्रियाँ इन्हीं गुणों से उत्पन्न होती है। इनके विषय भी गुणो से ही उत्पन्न होते है। आत्मा गुण और उनकी वृत्तियों से परे निष्क्रिय और साक्षी है। गुणातीत होने से व्यक्ति सुख दुःख आदि से दूर होकर तटस्थ द्रष्टा मात्र हो जाता है। यही गीता का

जीवात्मा

[1] ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः। गीता XV ७.

स्थित प्रज्ञ है। ज्ञान आत्मा का सार है। इन्द्रियों को मन मे मन को और बुद्धि से बुद्धि को आत्मा से सयमित करने से आत्मलाभ और भगवद्प्राप्ति मे सहायता मिलती है।

आत्मसमर्पण में ही सकल्प की स्वतन्त्रता है

परन्तु भगवद् प्राप्ति बिना आत्मसमर्पण के नही हो सकती। इसमे व्यक्ति दैवी शक्ति के हाथ मे 'निमित्त' मात्र बन जाता है। यह ईश्वर के लिये नही बल्कि उसके यत्र के रूप मे कार्य करता है। गीता मे लोक सग्रह 'भूतहित' के लिये है परन्तु अन्त मे ये दोनो ही ईश्वर मे स्थित व्यक्ति का स्वभाव बन जाते हैं। इसलिए वास्तव मे गीता नीति से परे उठकर धर्म के क्षेत्र मे पहुँच जाती है। इससे भी आगे बढ़कर आध्यात्म का क्षेत्र है जिसमे नैतिक स्तर की समस्त कशमकश और धार्मिक स्तर का समस्त द्वैत समाप्त हो जाता है और दैवी प्रज्ञा मे स्थित व्यक्ति स्वभावत ही शुभ कर्म किए चलता है। यहाँ पर यह शका उठ सकती है कि इससे व्यक्ति की सारी स्वतन्त्रता चली जाती है। परन्तु यह शका ईश्वर और आत्मा के विषय मे द्वैतवादी विचार पर आधारित है। स्वतन्त्रता का अर्थ अनियन्त्रण नहीं बल्कि आत्मनियन्त्रण है और जब यह आत्मा ही ईश्वर है अथवा जब ईश्वर ही आत्मा के रूप मे व्यक्ति मे उपस्थित है तब ईश्वर के यत्र बनने मे ही वास्तविक स्वतन्त्रता है। केवल इसमे सकल्प का अहकार नही रहता। इस प्रकार ईश्वर के प्रति आत्मसमर्पण का अर्थ पूर्ण आत्मलाभ (Self Realization) ही है जो समस्त भारतीय दर्शन, धर्म और नीतिशास्त्र का मूलमन्त्र है।

गीता का रहस्य सर्वांग आध्यात्मवाद है

इस प्रकार दर्शन, धर्म, नीति आदि सभी क्षेत्रो मे गीता का रहस्य सर्वांग आध्यात्मवाद है। एकागी आध्यात्मवाद कर्मसन्यास तथा जगत को छोडकर ईश्वर साक्षात्कार पर जोर देता है। दूसरी ओर जडवाद दुख को जीवन का अनिवार्य अग मानकर प्रवृत्तियो को अधिकाधिक सतुष्ट करने पर जोर देता है। सर्वांग आध्यात्मवाद मे इहलोक और परलोक स्वार्थ और परार्थ, शरीर मन तथा बुद्धि सभी का सन्तोष है। यह दैवी स्थिति, दैवी रूपान्तर और परमानन्द की ओर ले जाता है। यही दृष्टिकोण आज के युग मे मानव के स्वभाव का रूपान्तर तथा व्यक्ति और समाज का सामजस्य करके समस्त मानव जाति को आध्यात्मिक शान्ति तथा आनन्द दे सकता है जिसमें भौतिक और मानसिक उत्कर्ष की भी चरम परिणति है।

प्रथम—अध्याय

चार्वाक दर्शन

भारतीय दर्शन में किसी न किसी रूप में जड़वाद अति प्राचीन काल से प्रचलित है। वेद बौद्ध ग्रंथों पुराणों तथा सर्व दर्शन संग्रह इत्यादि दार्शनिक ग्रंथों में भी इसका उल्लेख पाया जाता है। इस दर्शन का अपना कोई स्वतंत्र ग्रंथ न होने के कारण इसका विशेष परिचय अन्य दर्शनों की पुस्तकों में चार्वाक मत अथवा जड़वाद के खंडन से ही मिलता है। चार्वाक जड़वादी है। वस्तुतः प्राचीन भारतीय साहित्य में जड़वादी को ही चार्वाक कहा गया है।

चार्वाक जड़वादी है

जड़वाद के अनुसार जड़ ही एकमात्र तत्त्व है और उसी से मन अथवा चैतन्य की उत्पत्ति होती है। प्रबोध चन्द्रोदय नामक रूपक के द्वितीय अंक में कृष्णपति मिश्र ने जड़वादी दर्शन का इस प्रकार परिचय दिया है "लोकायत ही एक मात्र शास्त्र है प्रत्यक्ष ही एक मात्र प्रमाण है पृथ्वी जल अग्नि और वायु ही एकमात्र तत्त्व है सुखोपभोग ही मानव सत्ता का एकमात्र ध्येय है मानस जड़ की एक उत्पत्ति मात्र है। कोई परलोक नहीं है मृत्यु का अर्थ निर्वाण है। इसी प्रकार 'सर्वदर्शन संग्रह' के प्रथम अध्याय में चार्वाक दर्शन का निम्न शब्दों में वर्णन किया गया है "कोई स्वर्ग नहीं है, कोई अन्तिम मोक्ष नहीं है न ही परलोक में कोई आत्मा है न चारों वर्णों के कर्म व्यवस्थाओं इत्यादि का कोई यथार्थ फल होता है।[1] अग्निहोत्र तीनों वेद तपस्वी की तीन अवस्थाएँ और अपने आप में राख लपेटना प्रकृति ने उन लोगों के जीविका हेतु बनाए थे जिनमें ज्ञान और पौरुष नहीं है।[2] यदि ज्योतिष्टोम यज्ञ में बलिदान किया हुआ पशु स्वयं स्वर्ग को जाएगा तब होती

---

१ न स्वर्गो नापवर्गो वा नैवात्मा पारलौकिकः ।
नैव वर्णाश्रमादीनां क्रियाश्च फलदायिकाः ॥

२ अग्निहोत्रं त्रयोवेदास्त्रिदण्डं भस्म गुण्ठनम् ।
बुद्धि पौरुष हीनानां जीविकेति बृहस्पतिः ॥

स्वयं अपने पिता को क्यो नही भेंट चढ़ाता है ?[१] 'यदि हमारे यहाँ श्राद्ध करने से स्वर्ग में जीवो को तृप्ति मिलती है तब उनको मकान के नीचे ही भोजन क्यों नही देते हैं जो कि मकान की छत पर खडे हैं ?[२] जब तक जीवन चलता है तब तक मनुष्य को सुख से रहना चाहिए, ऋण ले करके भी घी पीना चाहिए, जब शरीर एक वार राख वन जाता है तो फिर वह फिर यहाँ कैसे लौट सकता है ?"[३] उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट है कि तत्व, ज्ञान और नीति सभी मे चार्वाक दर्शन जडवादी है।

चार्वाक शब्द का अर्थ

'चार्वाक' शब्द की उत्पत्ति के विषय मे निश्चित रूप से ज्ञात नही है। कुछ विद्वानो के अनुसार महाभारत मे वर्णित चार्वाक नाम के ऋषि ने इस मत को चलाया था इस कारण इसका नाम चार्वाक पडा। कुछ अन्य लोगों के अनुसार मूल रूप मे "चार्वाक" उस शिष्य का नाम था जिसको उसके प्रणेता ने सर्वप्रथम यह दर्शन वतलाया।[४] चार्वाक शब्द 'चर्व' धातु से निकला है। 'चर्व' का अर्थ चबाना अथवा खाना है। अत खान पान पर अधिक जोर देने के कारण इस मत का नाम 'चार्वाक' पडा।[५] चार्वाक दर्शन सर्वसाधारण जनो को सुनने में प्रिय लगता है। अत कुछ विद्वानो के अनुसार मधुर वचन (चारुवाक्) बोलने के कारण यह मत चार्वाक कहलाया। पुण्य, पाप तथा परोक्ष को मानने वाला मत भी चार्वाक कहलाया। चार्वाक मत को 'लोकायत मत' भी कहा गया है क्योकि वह लोगों मे फैला हुआ (लोक+आयत) है। डा० दास गुप्ता (Das Gupta) के अनुसार "यह कहना कठिन है कि चार्वाक शब्द किसी यथार्थ व्यक्ति का नाम था अथवा लोकायत मत के अनुयायियो का एक विशेषण मात्र था।"[६] वास्तव मे 'चार्वाक' 'जडवादी' और 'लोकायत मत' भारतीय दार्शनिक ग्रथो में पर्यायवाची रूप मे प्रयोग किये गये हैं।

---

१ गच्छतामिहि जन्तूनां वृथा पाथेय कल्पना।
गेहस्यकृत श्राद्धेन पार्थतृप्ति रवारिता॥

२ पशुश्चेन्निहत स्वर्ग ज्योतिष्ठोमे गमिष्यति।
स्वपिता यजमानेन तत्र कस्मान्न हिंस्यते॥ १,२,३,४

३ 'यावज्जीवेत् सुख जीवेत् ऋण कृत्वा घृत पिवेत।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमन कुत॥

४ See Six Systems of Indian Philosophy By F Max Muller P 99 (Collected works Vol XIX)

यथा 'पिव, खाद च वरलोचने—सर्वदर्शन समुच्चय—लोकायतमतम्

६. History of Indian Philosophy Vol III P 533.

प्रमाण विचार

प्रत्येक दर्शन का तत्व-विचार एवं ज्ञानशास्त्र अन्योन्याश्रित होता है। चार्वाक जड़वादी है। उनके अनुसार पृथ्वी जल वायु और तेज ये ही चार तत्त्व हैं। इन चारों का ज्ञान प्रत्यक्ष से ही होता है। अत चार्वाक मत के अनुसार प्रत्यक्ष ही एकमात्र प्रमाण है।[1] प्रारम्भ में ये लोग आँख से देखने को ही प्रत्यक्ष कहते थे परन्तु फिर बाद में पाँच इन्द्रियों के आधार पर पाँच प्रकार का प्रत्यक्ष मानने लगे। प्रत्यक्ष के और भी दो भेद किये गये हैं यथा बाह्य प्रत्यक्ष और आन्तरिक प्रत्यक्ष। बाह्य प्रत्यक्ष इन्द्रियों और वस्तुओं के संसर्ग से होता है। आन्तरिक प्रत्यक्ष बाह्य प्रत्यक्ष पर निर्भर है। बाह्य प्रत्यक्ष द्वारा मिली हुई सामग्री पर ही मानसिक क्रियाएँ निर्भर हैं। परन्तु सभी प्रत्यक्ष ज्ञान भी प्रामाणिक नहीं हैं। कुछ प्रत्यक्ष भ्रम भी होते हैं।

प्रत्यक्ष ही एकमात्र प्रमाण है

प्रत्यक्ष को ही एकमात्र प्रमाण मानने के कारण चार्वाक दर्शन में अन्य प्रमाणों का खंडन किया गया है। अनुमान को अप्रामाणिक सिद्ध करने के लिये चार्वाक दर्शन के निम्नलिखित तर्क हैं—

अनुमान अप्रामाणिक है

न्यायदर्शन से अनुमान व्याप्ति पर निर्भर है। चार्वाक दार्शनिकों के अनुसार व्याप्ति असम्भव है क्योंकि एक तो वह प्रत्यक्ष पर आधारित नहीं है और दूसरे उसमें प्रत्यक्ष से अप्रत्यक्ष का अनुमान किया जाता है। कुछ स्थानों पर आग के साथ धूआँ देखने से यह सामान्य सिद्धांत नहीं बनाया जा सकता कि जहाँ आग है वहाँ धूआँ है। पाश्चात्य अनुभववादी दार्शनिक ह्यू म के समान चार्वाक का कहना है कि एक सामान्य अनिवार्य नियम तभी बनाया जा सकता है जब कि हमने उस प्रकार की सभी घटनाओं को प्रत्यक्ष देखा हो। संसार में सब समय और स्थानों की आग को देखे बिना यह नियम नहीं बनाया जा सकता कि सभी जगह आग के साथ धूआँ अवश्य होता है। और क्योंकि यह सम्भव नहीं है अतः व्याप्ति असंभव है। अतः प्रत्यक्ष के द्वारा व्याप्ति की स्थापना नहीं की जा सकती।

(१) व्याप्ति असंभव है

व्याप्ति का ज्ञान न तो बाह्य प्रत्यक्ष से हो सकता है और न आन्तरिक प्रत्यक्ष से ही। व्याप्ति प्रतिज्ञा और उपनय की सभी घटनाओं का पारस्परिक अनिवार्य सम्बन्ध है। परन्तु प्रतिज्ञा और उपनय के सम्बन्ध की सभी घटनाओं को बाह्य इन्द्रियों की सहायता से नहीं जाना जा सकता। न ही व्याप्ति को आन्तरिक प्रत्यक्ष से जाना जा सकता है क्योंकि आन्तरिक प्रत्यक्ष बाह्य प्रत्यक्ष पर निर्भर है।

---

१ प्रत्यक्षमेव प्रमाणम्—बृहस्पति

(ब) अनुमान के द्वारा भी व्याप्ति की स्थापना नही की जा सकती क्योंकि फिर यह अनुमान भी तो व्याप्ति पर निर्भर होगा और उस व्याप्ति के सिद्ध करने के लिए भी प्रत्यक्ष की आवश्यकता होगी। व्याप्ति अनुमान पर निर्भर है और अनुमान व्याप्ति पर निर्भर है, इसमें अन्योन्याश्रय दोष हो जाता है।

(स) शब्द के द्वारा भी व्याप्ति की स्थापना नही की जा सकती क्योंकि शब्द की प्रामाणिकता भी तो अनुमान पर ही निर्भर है। दूसरे यदि अनुमान शब्द प्रमाण पर निर्भर है तो फिर प्रत्येक व्यक्ति को अनुमान के लिए सदैव ही किसी अन्य व्यक्ति के शब्द पर निर्भर करना होगा और इस शृखला का कहीं अन्त न होगा क्योकि अन्त केवल अन्योन्याश्रय की अवस्था मे ही हो सकता है।

(द) हेतु की व्यापकता विना प्रत्यक्ष के नही मानी जा सकती। जाति या सामान्य को वाह्य अथवा आन्तरिक किसी भी प्रत्यक्ष से नही जाना जा सकता। वह्नि और धूम की सभी घटनाओं को देखे विना ही नैयायिक 'वह्नित्व' और 'धूमत्व' मे अनिवार्य सम्वन्ध स्थापित करने की चेष्टा करते हैं। धूमत्व के ज्ञान के लिये भी सभी विशेष धूमों के प्रत्यक्ष की आवश्यकता है और क्योंकि यह असभव है अत धूमत्व केवल उन धूमवान पदार्थों के सामान्य समझा जा सकता है जिनका प्रत्यक्ष वह है। स्पष्ट है कि धूमत्व अनिवार्य नही है और उससे व्याप्ति ज्ञान नही हो सकता।

(इ) तुलना के आधार पर भी व्याप्ति की स्थापना नही की जा सकती। क्योकि तुलना शब्दो और वस्तुओ के अनिवार्य सामान्य सम्वन्ध पर निर्भर है और यह अनिवार्य सामान्य सम्वन्ध प्रत्यक्ष का विषय नही है।

(उ) व्याप्ति निरुपाधि है परन्तु किसी अनुमान की घटना की समस्त उपाधियो को कभी भी जाना नही जा सकता। मुख्य प्रतिज्ञा और उपनय का सम्वन्ध उपाधियो की अनुपस्थिति पर निभर है परन्तु अनुपस्थिति का ज्ञान होने से पूर्व उस उपाधि का ज्ञान होना चाहिए और क्योकि समस्त उपाधियो का ज्ञान नहीं हो सकता अत उनकी अनुपस्थिति का ज्ञान और इसलिये व्याप्ति का निश्चय असंभव है।[1]

(२) कार्यकारण सम्वन्ध की स्थापना नहीं की जा सकती

पाश्चात्य अनुभववादी दार्शनिक डेविड ह्यूम के समान चार्वाक कार्यकारण सम्बन्ध को अनिवाय नही जानते क्योकि वह भी व्याप्ति पर ही आधारित है। किसी दो वस्तुओ को साथ साथ देखकर उनमे कार्यकारण सम्वन्ध की स्थापना नही की जा सकती क्योकि उन दोनो वस्तुओं के साहचय की सभी उपाधियां हमे ज्ञान

---

१ "अविनाभावस्य दुर्बोधतया नानुमानाद्यवकाश"—सर्वदर्शन सग्रह प्रथम अध्याय

नहीं है। आग के साथ कई बार धुँआ देखने मात्र से उनमें कार्यकारण सम्बन्ध स्थापित करने से दोष की संभावना रह जाती है क्योंकि उसमें उपाधि की अपेक्षा हो जाती है यथा ईंधन की आर्द्रता । लकड़ी गीली होने से ही धुँआ देती है। सभी उपाधियों को जाने बिना कार्यकारण सम्बन्ध की स्थापना नहीं हो सकती और सभी उपाधियों का व्यापक प्रत्यक्ष संभव नहीं है। उपाधि निरास के लिये अनुमान अथवा शब्द की सहायता नहीं ली जा सकती क्योंकि वे स्वयं अप्रामाणिक हैं। कितनी ही बार दो वस्तुओं का पूर्व और अपर देखने पर भी उनमें अनिवार्य कार्यकारण सम्बन्ध अथवा व्याप्ति की स्थापना नहीं की जा सकती। अतः अनुमान प्रमाणित नहीं हो सकता।

अनुमान के खंडन के लिए चार्वाक दार्शनिकों के निम्नलिखित तर्क उपस्थित

अनुमानविरोध के तर्क

किए हैं। (१) क्योंकि यह तीन विशेषताओं युक्त हेतु (Middle term) पर निर्भर है क्योंकि एक मिथ्याज्ञान के समान अप्रामाणिक है। "हमारी इन्द्रियाँ दूसरों के उपयोग के लिए हैं क्योंकि वे एक कुर्सी के समान संयुक्त वस्तुएँ हैं। यहाँ पर हेतु में तीनों विशेषताएँ होते हुए भी यह अनुमान गलत है। यह पक्ष (Minor term) में उपस्थित है । यह उन अवस्थाओं में उपस्थित है जिनमें साध्य (Major term) उपस्थित है। यह उन अवस्थाओं में नहीं है जिनमें साध्य नहीं है।

(२) क्योंकि उपनय में तीनों हेतुओं की उपस्थिति अनुमान का साधन नहीं हो सकती। उपनय के दो हेतुओं के समान यहाँ भी उपस्थित होती है वहाँ पर कोई अनुमान नहीं होता।

(३) क्योंकि प्रत्येक अनुमान में उसका विरोध संभव है । साध्य पक्ष में नहीं रह सकता क्योंकि स्वयं निगमन के समान यह अनुमान के लिये आवश्यक सभी शर्तों का एक भाग है।

(४) क्योंकि एक परिणाम पर पहुँचने वाला अनुमान एक अन्य प्रामाणिक अनुमान से बाधित किया जा सकता है । "शब्द अनित्य है क्योंकि वह घट के समान एक उत्पन्न वस्तु है? इस अनुमान का इस अनुमान से खंडन होता है कि "शब्द नित्य है क्योंकि वह आकाश का गुण है जो कि नित्य है।

(५) क्योंकि प्रत्येक अनुमान में एक ऐसे अनुमान का पाया जाना संभव है जो कि साध्य के विरोधी के साथ अनिवार्य रूप से सम्बन्धित हो। यह अनुमान कि "शब्द अनित्य है क्योंकि यह घट के समान एक उत्पन्न वस्तु है" इस अनुमान

से खंडित होता है कि "शब्द नित्य है क्योंकि वह शब्द की जाति के समान कर्ण गोचर है ।" अतः अनुमान अप्रामाणिक है ।[१]

एक प्रसिद्ध चार्वाक पुरन्दर (700 A D) अनुमान को लौकिक जगत मे प्रामाणिक और अलौकिक जगत मे अप्रामाणिक मानते है। परन्तु अन्य चार्वाक लौकिक और अलौकिक दोनो ही विषयो मे अनुमान को अप्रामाणिक मानते है। इसका अर्थ यह नही है कि अनुमान सदैव असत्य होता है। चार्वाक यह मानते हैं कि व्यवहार मे कभी कभी अनुमान सफल भी होता है। परन्तु यह केवल यादृच्छिक है। अनुमान सदैव ही सत्य नही होता यद्यपि उसके सत्य हो जाने की संभावना से इनकार नही किया जा सकता। अनुमान काकतालीय न्याय से अकस्मात सत्य हो सकता है परन्तु प्रामाणिकता उसका स्वाभाविक धर्म नही है। आगमन सन्दिग्ध है और निगमन मे अन्योन्याश्रय दोष है। अत नैयायिक अपने को अनुमान के पंक में फसा पाते है।[२]

उपरोक्त चार्वाक मत का भारतीय दर्शन के लगभग सभी मतों ने खंडन किया है क्योंकि लगभग सभी अनुमान की प्रामाणिकता

चार्वाक मत का खंडन

मानते हैं। (१) बौद्ध दार्शनिको के अनुसार चार्वाक केवल अनुमान से ही यह जानते हैं कि अन्य मतावलम्बी अनुमान को मानते है अत चार्वाक के अनुमान का खंडन स्वयं अनुमान पर आधारित है। दूसरे के विचार को इन्द्रिय प्रत्यक्ष से नही जाना जा सकता है। वह केवल अनुमान का विषय है। अत चार्वाक अनुमान का खंडन नही कर सकते।

(२) रामानुज के शिष्य वेंकट नाथ ने चार्वाक मत की आलोचना करते हुए बतलाया है कि यदि निश्चित ज्ञान के अभाव मे अनुमान को अप्रामाणिक माना जाता है तो प्रत्यक्ष को भी संदिग्ध मानना पड़ेगा क्योंकि उसमे भी निश्चित ज्ञान का अभाव है। वास्तव मे यदि अनुमान से प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनो को प्रेरणा मिलती है तो प्रत्यक्ष के विषय मे भी ऐसा ही है। अनुमान की अप्रामाणिकता न तो प्रत्यक्ष से सिद्ध होती है और न अनुमान से ही सिद्ध होती है। वास्तव में अनुमान का स्वभाव संदिग्ध नही है क्योंकि सभी लोग उसको निश्चित ज्ञान मानते हैं।

(३) हेतु की अनुपस्थिति के आधार पर चार्वाक अनुमान का खंडन करते हैं। परन्तु ऐसा करने में वे स्वयं हेतु उपस्थित करते हैं। वास्तव

---

१ तत्त्व संग्रह, तत्व संग्रह पञ्जिका, 1457-59 Vol I pp 425-26 B T by Ganga Nath Jha

२ विशेषेऽनुगमाभावात् सामान्ये सिद्ध साधनात् ।
अनुमाभंगपंकेऽस्मिन् निमग्ना वादिदन्तिन ॥

में अनुमान की अनुपस्थिति में चार्वाक स्वयं अपने मत की पुष्टि नहीं कर सकते।[1]

(४) चार्वाक का व्याप्ति के विरुद्ध यह तर्क है कि उसका सभी अवस्थाओं में निश्चय नहीं किया जा सकता। यह खंडन स्वयं तभी लागू होता है जब कि वह सब अवस्थाओं में प्रामाणिक हो जिससे व्याप्ति को मानना पड़ेगा और ऐसा न होने पर भी व्याप्ति का खंडन नहीं हुआ।

(५) चार्वाक किसी भी तर्क को निरुपाधि नहीं मानते अतः उनका यह तर्क भी निरुपाधि न होने के कारण स्वयं खंडित हो जाता है।

(६) नैयायिक उदयन के अनुसार जीवन संभावनाओं पर नहीं बल्कि उपस्थिति अथवा अनुपस्थिति के निश्चित ज्ञान पर आधारित है। वास्तव में उदयन के अनुसार जहाँ संदेह है वहाँ अनुमान है और यदि संदेह नहीं है तो अनुमान सिद्ध ही है। व्याप्ति को सोपाधि बतलाते हुए चार्वाक का तर्क है कि भविष्य काल में अथवा किसी अन्य स्थान पर जैसा है वैसा न हो। यह तर्क स्वयं अनुमान पर आधारित है क्योंकि भविष्य अथवा अन्य स्थान प्रत्यक्ष नहीं बल्कि अनुमान पर निर्भर है। वास्तव में क्रिया प्रारम्भ होने पर शंका और संभावना का स्थान निश्चित ज्ञान ले लेता है।

(७) चार्वाक के कार्य कारण सम्बन्ध के खंडन की आलोचना करते हुए उदयन का कहना है कि कार्य कारण सम्बन्ध की अनिवार्यता में संदेह का भी कोई कारण अवश्य है। यदि नहीं तो किसी भी कार्य का कोई भी परिणाम हो सकता है। वास्तव में अन्वय और व्यतिरेक के आधार पर ही व्याप्ति में सन्देह के कारण की स्थापना हो सकती है और अन्वय व्यतिरेक के आधार को मान लेने पर इसी आधार पर व्याप्ति को भी सिद्ध किया जा सकता है।

शब्द भी अप्रामाणिक है

चार्वाक के मतानुसार जहाँ तक संसार की प्रत्यक्ष वस्तुओं का सम्बन्ध है वहाँ तक विश्वसनीय व्यक्तियों के शब्दों को प्रामाणिक एवं अप्रत्यक्ष वस्तुओं का माना जा सकता है। इन शब्दों का ज्ञान भी प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं हो सकता से ही होता है। परन्तु जिन वस्तुओं का ज्ञान प्रत्यक्ष से नहीं हो सकता उनके विषय में वेद तक को प्रमाण नहीं माना जा सकता। चार्वाक के अनुसार अप्रत्यक्ष वस्तुओं की कोई सत्ता ही

---

१ न प्रमाणमिति प्राहुरनुमानं तु केचन।
विषयात्मपर्यन्तोऽपि नानिराशिन्यनुमानम् ॥ तत्त्व संग्रह, 1456.

नही है। उनके विषय मे चर्चा करने वाले धोखेबाज हैं। वेदो मे झूठ, व्याघात और पुनरुक्तियाँ भरी पड़ी है।[1] वेद उन धूर्त पुरोहितो ने बनाए हैं जिनका काम अज्ञानी और सीधे-साधे लोगो को फसाकर अपनी जीविका चलाना है। स्वर्ग का सुख धूर्तों के प्रलय जन्य सुख से भिन्न नही है। अत स्वर्ग सुख देने वाले तीनों 'वेद' वस्तुत धूर्तों का प्रलाप ही है।[2]

चार्वाक के अनुसार शब्द द्वारा ज्ञान भी एक प्रकार के अनुमान पर ही आधारित है। सभी विश्वास योग्य व्यक्तियो के अनुमान-सिद्ध होने के वाक्यो को प्रमाण मानने के सामान्य सिद्धान्त के कारण शब्द अनुमान की आधार पर हम प्रत्येक विश्वसनीय व्यक्ति के वाक्यो तरह सदिग्ध हैं को प्रमाण समझने का अनुमान लगा लेते हैं। परन्तु अनुमान स्वय प्रामाणिक नही है। तब फिर उस पर आधारित शब्द कैसे प्रामाणिक हो सकता है। अनुमान के समान ही शब्द भी कभी कभी व्यवहार में सही निकल आते हैं। परन्तु इससे शब्द को यथार्थ और अनिवार्य रूप से प्रामाणिक ज्ञान का साधन नही माना जा सकता।

नैयायिक उदयन ने चार्वाक की वेद निन्दा का जबर्दस्त खडन किया है। वेद धूर्त पुजारियो की रचना नही बल्कि उन महर्षियो चार्वाक की वेद निन्दा की आलोचना के द्वारा रचे गए हैं जिनमें किसी प्रकार का स्वार्थ, धोखेबाजी, जीवकोपार्जन की इच्छा, झूठ बोलने की आदत अथवा सासारिक सुखभोग की आकर्षण की प्रवृत्तिया बिल्कुल नही थी और जो बडे ही तपस्वी, बुद्धिमान और महान थे। अत वेदो के वाक्यो मे सन्देह नही किया जा सकता। वेंकटनाथ ने भी वेदो के पक्ष मे इसी प्रकार के तर्क दिए हैं। कहना न होगा कि चार्वाक के वेद विषयक विचार पक्षपात पूर्ण और एकागी हैं।

तत्व विचार

जैसा कि पहले कह आए हैं चार्वाक दर्शन जडवादी है। प्रत्यक्ष को एकमात्र प्रमाण मानने पर स्वभावत ही जड को एक मात्र जडवाद तत्व मानना पडता है। ईश्वर, आत्मा, स्वर्ग, परलोक, जीवन की नित्यता, तथा अदृष्ट आदि तत्व अप्रत्यक्ष हैं और इस कारण चार्वाक को मान्य नही हैं।

---

१ 'तदप्रामाण्यम् अनृतव्याघात पुनरुक्त दोषेभ्य'—न्याय सूत्र ıı 2 56, Calcutta 1916

२ 'धूर्तप्रलापस्मयी स्वर्गोत्पादकत्वेन विशेषाभावात्'

भारतीय दार्शनिकों ने जड़ जगत की उत्पत्ति पाँच भूतों पृथ्वी जल वायु, अग्नि और आकाश से मानी है। जड़वादी चार्वाक इनमें से आकाश को नहीं मानते क्योंकि आकाश का ज्ञान प्रत्यक्ष द्वारा न होकर अनुमान के द्वारा होता है। संसार चार प्रकार के जड़ तत्वों से बना है।[1]

संसार चार प्रकारके जड़ तत्वों से निर्मित है

इन्हीं से जड़ और चेतन समस्त जगत की उत्पत्ति हुई है। इन्हीं से प्राणियों का जन्म होता है और मृत्यु के पश्चात् वे इन्हीं में मिल जाते हैं।

जड़वादी होने के कारण चार्वाक शरीर से पृथक किसी अप्रत्यक्ष अपरिवर्तनीय और अमर आत्मा में विश्वास नहीं करते। चैतन्य वस्तुतः शरीर का ही गुण है। शरीर से बाहर अथवा पृथक उसकी कोई सत्ता नहीं। हम चेतन शरीर के अतिरिक्त और किसी आत्मा को प्रत्यक्ष द्वारा नहीं जानते। अतः चेतन शरीर को ही आत्मा कहना चाहिए।[2] पंच भूतों के संगठन को शरीर, इन्द्रिय अथवा विषय नाम दिया गया है।[3] इन्हीं भूतों के संगठन से चैतन्य उत्पन्न होता है।[4] यहाँ पर यह प्रश्न हो सकता है कि जड़ पदार्थों से जीव अथवा चैतन्य की उत्पत्ति कैसे हो सकती है? चार्वाक का उत्तर है कि जिस प्रकार किण्व आदि द्रव्य के संगठन से मादक शक्ति उत्पन्न होती है[5] अथवा जिस प्रकार पान सुपारी और चूने के योग से लाल रंग प्रकट होता है[6] उसी प्रकार इन भूतों के संगठन से विज्ञान अथवा चैतन्य उत्पन्न होता है। वास्तव मे आत्मा के जो-जो कार्य बतलाये जाते हैं वे शरीर के ही कार्य हैं। दैनिक व्यवहार में भी हम आत्मा और शरीर को एक ही मानकर चलते हैं। "मैं मोटा हूँ" "मैं लँगड़ा हूँ" इत्यादि वाक्य यही सिद्ध करते हैं साधारण लोग शरीर को ही आत्मा मानते हैं। वस्तुतः चार्वाक के अनुसार सभी को साधारण लोगों के मार्ग का अनुसरण करना चाहिए।[7] ज्ञान क्रिया चेतना स्मृति सकल्प और अनुभूतियाँ आत्मा नहीं बल्कि चेतन शरीर के ही गुण हैं। सुख दुख शरीर के धर्म हैं।

चेतन शरीर ही आत्मा है

---

१ 'पृथिव्यापस्तेजो वायुरिति तत्वानि'—बृहस्पति
२ 'चैतन्य विशिष्टः काय पुरुषः'—बृहस्पति
३ 'तत्समुदाये शरीरेन्द्रिय विषय संज्ञा'—बृहस्पति
४ तेभ्यश्चैतन्यम्—बृहस्पति
५ 'किण्वादिभ्यो मदशक्तिवत्' चैतन्यमुपजायते—सर्व दर्शन संग्रह I
६. जड़ भूत विकारेषु चैतन्यं यत् तु दृश्यते।
ताम्बूल पूगचूर्णानां योगात राग इवोत्थितम् ॥ सर्व सिद्धान्त संग्रह 27
७. 'लौकिको मार्गोऽनुसर्तव्यः'—बृहस्पति

चार्वाकों मे भी दो वर्ग थे यथा धूर्त चार्वाक तथा सुशिक्षित चार्वाक। धूर्त चार्वाक चेतन शरीर को ही आत्मा मानते हैं। शरीर के अस्तित्व के साथ ही चेतना का अस्तित्व है और शरीर के मरण पर चेतना भी समाप्त हो जाती है। शरीर के अतिरिक्त अन्य स्थान पर चेतना का अनुभव भी नही होता है। अत चेतना शरीर से प्रथक आत्मा का नही वलिक शरीर का ही गुण है। परन्तु सुशिक्षित चार्वाकों के अनुसार शरीर मे अलग भी एक आत्मा है जो कि नित्य ज्ञाता तथा सभी अनुभवों का भोक्ता है परन्तु वह शरीर के साथ ही नष्ट हो जाता है। आत्मा एक शरीर को छोडकर दूसरे शरीर मे नही जाता यदि ऐसा होता तो लोगों मे पूर्व जन्म की स्मृतियां रहनी चाहिए जैसा कि वाल्यकाल की घटनाऐं यौवन मे याद रहती है। इस प्रकार कुछ चार्वाक देहात्मवादी हैं जो कि आत्मा और देह को एक मानते हैं। कुछ अन्य इन्द्रियात्मवादी हैं क्योकि वे इन्द्रियो को ही आत्मा मानते हैं। कुछ अन्य प्राणात्मवादी हैं क्योकि वे प्राण को आत्मा मानते हैं।[1] तथा कुछ अन्य चार्वाक आत्ममनोवाद को मानते हैं क्योकि उनके अनुसार मन ही आत्मा है। सदानन्द ने अपने वेदान्त सार मे इन चार प्रकार के चार्वाको का वर्णन किया है। परन्तु ये सभी लोग इस वात पर सहमत हैं कि शरीर के मरने के पश्चात् आत्मा नही रहती। अत चार्वाक पुर्नजीवन, भविष्य जीवन, पुर्नजन्म, स्वर्ग, नरक, कर्मभोग आदि विश्वासो को निराधार मानते है।

आत्मा के विषय में धूर्त और सुशिक्षित चार्वाक में भेद

आत्मा के सम्बन्ध मे उपरोक्त चार्वाक मत की अन्य भारतीय दार्शनिको ने कटु आलोचना की है क्योकि भारतीय तत्व दर्शन में आत्मा को सदैव ही अत्यन्त महत्वपूर्ण और उच्च स्थान दिया गया है। इस विषय में मुख्य तर्क निम्न लिखित है —(१) नैयायिक वात्स्यायन के अनुसार यद्यपि चेतना शरीर में है परन्तु इससे यह आवश्यक नही है कि वह शरीर का गुण हो उदाहरण के लिए गर्म पानी हो सकता है परन्तु गर्मी पानी का नही बल्कि आग का गुण है। इसी प्रकार चेतना शरीर का नही वल्कि आत्मा का गुण है। यद्यपि वह शरीर मे भी रहती है। दूसरे शरीर कई भागो से मिलकर बना है। यदि चेतना शरीर का गुण होती तो उसे शरीर को किसी विशेष भाग मे होना चाहिये था जबकि वह शरीर के सभी भागों मे पाई जाती है।

आत्मा विषयक चार्वाक मत की आलोचना

---

१ कायादेव ततो ज्ञान प्राणापानाद्यधिष्ठितात् ॥
युक्त जायत इत्येतत् कम्वलाश्वत रोदितम् ॥—शान्तरक्षित, तत्व सग्रह, 1864

शरीर के गुण इन्द्रियों को प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष हैं परन्तु चेतना प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष दोनों प्रकार से इन्द्रियों के परे है। अतः यह शरीर का गुण नहीं है।

(२) शङ्कर के अनुसार शरीर परिवर्तनशील है अतः यदि चेतना उसका गुण है तो उसे भी परिवर्तनशील होना चाहिये और यदि चेतना परिवर्तनशील है तो फिर बाल्यकाल की घटनाएँ युवावस्था में कैसे याद रहती हैं ? यह स्मृति शरीर का कार्य नहीं है क्योंकि शरीर का कोई भाग नष्ट हो जाने पर भी उसके पिछले कर्म हमें याद रहते हैं। नाही यह शरीर के अणुओं का कार्य हो सकता है क्योंकि अप्रत्यक्ष अणुओं में होने से स्मृति का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। अतः चेतना शरीर का गुण नहीं है। वह अपरिवर्तनीय है और स्मृति आदि क्रियायें उसी के कारण हैं।

(३) जयन्त ने भी उपरोक्त तर्क उपस्थित किया है। उसके अनुसार यदि चेतना शरीर का गुण होती तो शरीर अचेतन और मृत नहीं हो सकता तथा शरीर की वृद्धि और ह्रास के साथ आत्मा की भी वृद्धि अथवा ह्रास होना चाहिये। चेतना मन अथवा इन्द्रियों का गुण नहीं हो सकती। यदि मन को स्वतन्त्र और चेतन माना जाय तो फिर उसमें और आत्मा में केवल शब्दों का भेद है। वास्तव में चेतना आत्मा का धर्म है।

(४) विज्ञानभिक्षु ने चार्वाक के चेतना की उत्पत्ति के सिद्धान्त की आलोचना की है। कुछ तत्वों के मिलने से वही वस्तु बन सकती है जो कि सूक्ष्म रूप से उनमें पहले से ही विद्यमान हो। अतः चेतना चार जड़ तत्वों के मिलने से नहीं बन सकती। फिर यदि चेतना शरीर का स्वाभाविक धर्म हो तो उसे सुषुप्ति बेहोशी और मृत्यु की अवस्था में भी रहना चाहिये क्योंकि जब तक द्रव्य रहता है तब तक गुण भी रहना चाहिये। इसके अतिरिक्त यदि चेतना शरीर का धर्म है तो उसको शरीर के पृथक पृथक भागों में भी रहना चाहिये परन्तु शरीर से पृथक अंग अचेतन हो जाता है। प्रत्येक वस्तु के गुण उसके भौतिक कारण में भी रहते हैं। अतः यदि चेतना शरीर के अंशों में नहीं है तो फिर वह पूर्ण शरीर में भी नहीं हो सकती। और शरीर में चेतना की अनेक शक्तियाँ मानने से एक ऐसी नित्य आत्मा मानना अधिक तर्क संगत है जिसका धर्म चेतना हो।

(५) शंकर और वाचस्पति मिश्र ने चार्वाक मत के खंडन में निम्नलिखित तर्क उपस्थित किये हैं —

(अ) यदि चेतना शरीर का विशेष गुण है तो उसको शरीर की सुषुप्ति इत्यादि की अवस्थाओं में भी रहना चाहिये।

(ब) यदि चेतना शरीर का गुण है तो अन्य गुणों के समान वह सबको दिखलाई क्यो नही पडती ?

(न) चेतना या तो जड है या चेतन। चार्वाक के अनुसार इस जगत में जो कुछ है वह जड है। अत चेतना भी जड है। परन्तु जड जड को नहीं देख सकती तब फिर चेतना जड को कैसे देखती है ? स्पष्ट है कि चेतना जड से भिन्न है। वह स्वय प्रकाश है और अन्य वस्तुओं का भी प्रकाशित करती है। अत वह विषय नही है।

(द) स्मृति इत्यादि परिवर्तनशील शरीर की क्रियाएँ नही हो सकती। उनकी व्याख्या नित्य आत्मा से ही की जा सकती है।

(इ) चेतना शरीर का धर्म नही है क्योकि शरीर के अचेत होने पर भी स्वप्न मे चेतना क्रियाशील रहती है।

(फ) प्रकाश के बिना देखा नहीं जा सकता परन्तु देखना प्रकाश का नही बल्कि नेत्रो का धर्म है। इसी प्रकार शरीर के बिना चेतना नहीं रहती परन्तु चेतना शरीर का नही बल्कि आत्मा का धर्म है।

(ज) विषयी विषय नही हो सकता। शरीर विषय है आत्मा विषयी। अत आत्मा शरीर से बिलकुल भिन्न है। चेतना विषयी आत्मा का धर्म है। चैतन्य ही विषयी आत्मा है।

(६) राजशेखर सूरि के अनुसार आत्मा एकरस, नित्य और दृष्टा है। शरीर को आत्मा मानने से ज्ञान की क्रिया, भिन्न भिन्न सवेदनाओ का समन्वय और स्मृति आदि को नहीं समझाया जा सकता। चेतना शरीर का नही बल्कि आत्मा का धर्म है।

(७) जैन दार्शनिक विद्यानन्दिस्वामी ने चार्वाक की चेतना की उत्पत्ति की व्याख्या की आलोचना की है। चेतना स्वनवेदन और अहकारस्पद है। अत वह जड तत्वो से भिन्न है जिनका ज्ञान इन्द्रिय प्रत्यक्ष पर निर्भर है।

(८) बौद्ध दार्शनिक अगो के अतिरिक्त पूर्ण को सत्ता नही मानते। शान्त-रक्षित और कमलशील के अनुसार चेतना शरीर का गुण नही है और न उससे उत्पन्न हुई है। शरीर के पृथक-पृथक भागो का गुण चेतना नहीं है और न वह उनसे उत्पन्न ही हो सकती है। इसलिये पूर्ण शरीर से भी चेतना की उत्पत्ति नही हो सकती क्योकि पूर्ण अगो से पृथक कुछ नहीं है। इन्द्रियाँ न पृथक-पृथक और न सामूहिक रूप से ही चेतना की सृष्टि कर सकती हैं। न इन्द्रियो के बिना शरीर चेतना की उत्पत्ति कर सकता है। शरीर के परि-वर्तन के साथ चेतना मे और चेतना के परिवर्तन के साथ शरीर मे परिवर्तन अनिवार्य नही है।

ईश्वर का विचार

ईश्वर का विचार अनावश्यक कल्पना मात्र है

सृष्टि की उत्पत्ति और ज्ञान के प्रमाणों के विषय में चार्वाक के विचारों से स्पष्ट है कि उनके मत में ईश्वर का विचार एक अनावश्यक कल्पना मात्र रह जाता है। जड़तत्व ही सृष्टि का उपादान और निमित्त कारण है। उनके स्वत संयोग से ही जगत उत्पत्ति होती है। सृष्टि रचना में किसी प्रयोजन का प्रमाण नहीं मिलता। अत जड़भूतों के अन्तर्निहित स्वभाव से ही जगत की सृष्टि होती है। यह चार्वाक मत "स्वभाववाद" अथवा 'यदृच्छावाद' कहलाता है। पृथ्वी जल वायु और अग्नि में सूक्ष्मतम भाग भूतरेणु रूप कणों में होते हैं। इन्हीं भूतरेणुओं के संघटन से संसार की भिन्न भिन्न वस्तुएँ और उनके गुणों की सृष्टि होती है। इन्हीं के संघटन विशेष से आत्मरूप चैतन्य की उत्पत्ति होती है। भूतरेणुओं के अधिक होने के कारण उनसे बने शरीर भी अधिक हैं। स्मृति आदि संस्कार के कारण हैं। ईश्वर का अस्तित्व किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं होता और न उसकी आवश्यकता ही है। अत चार्वाक नास्तिक हैं। चार्वाक के स्वभाववाद की वात्स्यायन उद्योतकर, जयन्त और वर्द्धमान इत्यादि न्याय दार्शनिकों ने कटु आलोचना की है।

नीति विचार

धर्म

भारतीय दार्शनिकों के अनुसार पुरुषार्थ चार हैं यथा धर्म अर्थ काम और मोक्ष। चार्वाक इनमें से मोक्ष और धर्म को स्वीकार नहीं करते। जैसा कि पीछे बतलाया जा चुका है चार्वाकों ने वेद की बड़ी निन्दा की है। उनके मतानुसार वैदिक कर्मकांड व्यर्थ है। स्वर्ग और नरक पुरोहितों की कल्पनाएँ हैं। परलोक का कोई प्रमाण नहीं है।

मोक्ष

दुःखों से मोक्ष केवल दुराशामात्र है। आत्मा का शारीरिक बन्धन से मुक्त होना असंभव है। जीवनकाल में भी दुःखों से पूर्ण मुक्ति की सम्भावना नहीं हो सकती। दुःख तो शरीर के साथ लगा ही रहता है। मुक्ति चाहे वह शरीर से मुक्ति हो अथवा दुःख से मुक्ति पूरी तरह केवल मरने पर ही प्राप्त हो सकती है।[1]

---

१ मरणम् एव अपवर्गः

धर्म और मोक्ष का खंडन करके चार्वाकों का कहना है कि सुख ही जीवन का परम लक्ष्य है। अर्थ काम का साधन है उसका

अत सुख ही जीवन का परम श्रेय है

उपार्जन भी अत्यावश्यक शब्द है। दुख के साथ मिला होने के कारण सुख को नहीं छोड़ा जा सकता। कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति उसको इसलिये नहीं छोड़ना कि उसमे भूसा मिला है।[1] कांटो के होने से मछली का खाना नहीं छोड़ा जा सकता। कृषि इसलिये नही छोडी जा सकती कि पशु उसे नष्ट कर देंगे। भिखारी मांगेगे, इस डर से भोजन पकाना बन्द नही किया जा सकता।[2] परलोक-सुख की झूठी आशा मे इस जीवन के सुख को नही ठुकराना चाहिये। "कल मोर मिलेगा इस आशा मे कोई हाथ मे आए कबूतर को नहीं छोड़ता।"[3] जिस सोने के मिलने मे सन्देह हो उससे कौडी ही अधिक मूल्यवान् है। हाथ मे आए धन को दूसरो के लिये छोड देना मूर्खता है। अत अधिकतम सुख ही परम श्रेय है। जिस धर्म मे सुख अधिक और दुख कम मिले वह उचित और जिससे दुख अधिक और सुख कम मिले वह अनुचित है इस प्रकार नीति विचार मे चार्वाक सुखवादी हैं

भारतीय दर्शन मे चार्वाक मत का योगदान

चार्वाक मत का लगभग सभी भारतीय दार्शनिकों ने खंडन किया है। परन्तु प्रत्येक दर्शन सत्य के किसी न किसी पक्ष को उपस्थित करता है और यही उसकी मानवता की देन है दोष केवल यही होता है कि अधिकांश दार्शनिकों ने अपने मत को सर्वश्रेष्ठ और एकमात्र सत्य माना है। श्री उमेश मिश्र के शब्दो मे "अपने-अपने स्थान से एव अपने-अपने दृष्टिकोण से सभी दर्शन परम तत्त्व को ही देखते है। मार्ग तो एक ही है। कोई आगे है कोई पीछे और कोई बीच मे भेद तो यही है फिर तो खंडन किसका ?"[4] परन्तु खंडन इस अर्थ मे आवश्यक अवश्य है कि प्रत्येक दर्शन की सीमाएँ होती हैं और उन सीमाओ को निर्धारित करना दार्शनिक जिज्ञासु का काम है। वास्तव मे चार्वाक मत मे अनेक दोष हैं जिनका निरूपण

---

१ त्याज्य सुखं विषय सगम जन्म पुसा दु खो पसृष्टमिति मूर्खविचारणैषा।
व्रीहीन् जिहासति सितोत्तमतण्डुलाढ्यान्
को नाम भोस्तुषकणोपहितान् हितार्थी। —सर्वदर्शन संग्रह

२ नहि भिक्षुका सन्तीति स्थाल्यो नाधिश्रीयन्ते। नहि मृगाः सन्तीति शालयो नोप्यन्ते। —सर्वदर्शन संग्रह

३ वरमद्य कपोत नश्वो मयूर।

४ भारतीय दर्शन पृष्ठ ६६

पीछे किया जा चुका है। इन दोषों की ओर से आँखें बन्द न करके भी यह देखना आवश्यक है कि चार्वाक मत का भारतीय दर्शन में क्या योगदान है।

डा० राधाकृष्णन् के शब्दों में "चार्वाक दर्शन युग की भूतकाल के उस बोझ से मुक्त करने का एक भीषण प्रयास है जो कि उसे दबा रहा था"[1] दार्शनिक जगत में जब कभी एक प्रकार के विचार अत्यधिक बढ़ जाते हैं तब उनके विरुद्ध जबर्दस्त प्रतिक्रिया होती है जो कि रूढ़ियों के बन्धनों और परंपरागत अन्धविश्वासों को तोड़ कर विचारों को फिर आगे बढ़ाती है। चार्वाकों ने तत्व विचार नीति प्रमाण विचार सभी में प्राचीन विचारों का निर्भीकता से खडन किया और स्वतन्त्र विचार को प्रोत्साहन दिया। उनके विचार स्वार्थ पूर्ण वासनाओं की तृप्ति के लिये तर्क मात्र नहीं थे। चार्वाक के विचार एकांगी अवश्य है फिर भी उनमें बल है और 'आत्मा' ऐसे गंभीर विषय पर भी उनके विचारों की अवहेलना नहीं की जा सकती। प्रो० हिरियाना के शब्दों में "स्वभावतः आत्मा के खंडन ने जिसका कि अन्य भारतीय मतों में महत्वपूर्ण स्थान है जबर्दस्त मतभेद उत्पन्न किया परन्तु यह मानना चाहिये कि मौलिक रूप में चार्वाक मत का खडन नहीं किया जा सकता'।[2] चार्वाक मत का खंडन करने वाले भारतीय दार्शनिकों ने भी यह माना है कि आत्मा के अस्तित्व का प्रदर्शन नहीं किया जा सकता।

चार्वाक संशयवादी है। उन्होंने प्रचलित सिद्धान्तों में दोष निकाल कर नई-नई समस्याएँ उपस्थित की हैं। इन समस्याओं पर वादविवाद से दर्शन और भी समृद्ध हुआ है। चार्वाक ने दार्शनिक हठ विश्वास को जबर्दस्त टक्कर दी। प्रमाण-विज्ञान में उन्होंने अपना पक्ष इतने सबल तर्कों के साथ उपस्थित किया कि उस पर वादविवाद द्वारा प्रमाण शास्त्र पर एक उत्तम साहित्य तैयार हो गया।

चार्वाक मत के सुखवाद की बड़ी कटु आलोचना की गई है। यद्यपि सुख को जीवन का परम लक्ष्य मानने के सिद्धान्त के विरुद्ध अनेक कठिनाइयाँ हैं परन्तु फिर भी जीवन में सुख के महत्व से इनकार नहीं किया जा सकता। वास्तव में चार्वाक के सभी सिद्धान्तों में कुछ न कुछ सत्य है। दोष केवल यह है कि वे उन सिद्धान्तों को एकमात्र और सर्वोच्च मान बैठे हैं। जैसे सुखवाद के प्रश्न पर भी जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है चार्वाकों में दो मत हैं। धूर्त चार्वाक स्थूल स्वार्थसुखवाद का समर्थन करते हैं। परन्तु वात्स्यायन जैसे

---

१ Indian Philosophy, Vol I. P 283

२. M Hiriyanna, Outlines of Indian Philosophy P 192.

सुशिक्षित चार्वाकों ने परिष्कृत और सुसंस्कृत सुखवाद की स्थापना की जिसमें पर्याप्त विचार शीलता है । लोकाल्पनिक ग्रन्थो मे राजनीति, दडनीति और वार्ता का भी विचार है। कामसूत्र के प्रेणता वात्स्यायन ने चौसठ कलाओं का उल्लेख किया है। वात्स्यायन ईश्वर और परलोक को भी मानते थे। परन्तु पुरुषार्थ मे काम को सर्वोच्च मानते थे। काम का मूल पचेद्रियों की तृप्ति है। शरीर रक्षा के लिए उदर के साथ इन्द्रियों की तृप्ति भी आवश्यक है। वात्स्यायन ने ब्रह्मचर्य, धर्म, तथा नागरिक वृत्ति को भी महत्व दिया हैं। ब्रह्मचय और वेदाध्यन के पश्चात् ही चौसठ कलाओ पर अधिकार किया जा सकता है। वात्स्यायन ने इन्द्रियो को सयत करने और प्रवृत्तियो को धर्म तथा अर्थ के अनुकूल बनाने पर जोर दिया है। सुख की अवस्थाओ और साधनो का वैज्ञानिक विश्लेषण करके ही भली प्रकार सुखोपभोग किया जा सकता है। इस प्रकार पाश्चात्य अनुभववादी (Empricists) व्यवहारवादी (Pragmalists) तथा अस्तित्ववादी (Existentialists) और लॉजिकल पाजिटिविस्ट (Logical Positivists) के समान चार्वाक दर्शन एकांगी होते हुए भी दर्शन के इतिहास मे महत्वपूर्ण स्थान रखता है।

षष्ठ अध्याय

जैन दर्शन

ज्ञान और तत्त्वविचार दोनों मे ही जैन दर्शन बहुवादी (Pluralist) तथा सापेक्षवादी (Relativist) है। तत्त्वविचार ज्ञानशास्त्र पर आधारित है। अतः पहले ज्ञान शास्त्र को समझ लेना आवश्यक है। चैतन्य जीव का लक्षण है। यह दो रूपों में प्रकट होता है यथा दर्शन और ज्ञान। दर्शन में विस्तृत ज्ञान नहीं होता। ज्ञान में विस्तार का भी पता चलता है। दर्शन सहज प्रत्यक्ष है। ज्ञान प्रत्ययों की क्रिया है। दर्शन के विशेषों में न जाकर सामान्य का ही ज्ञान होता है।

ज्ञान और उसके भेद

प्रमाण और नय

अन्य दर्शनों के समान जैन दर्शन म भी ज्ञान के सम्बन्ध मे प्रमाणों का विचार किया गया है। परन्तु नय जैन दर्शन की अपनी विशेषता है। इस प्रकार जैन दर्शन के अनुसार ज्ञान के दो रूप है प्रमाण और नय। प्रमाण का अर्थ वस्तु के सत ज्ञान से है जैसी कि वह स्वयं है और नय का तात्पर्य उस वस्तु के ज्ञाता से विशेष प्रसंग अथवा सम्बन्ध मे ज्ञान से है। नय वह दृष्टिकोण है जिससे कि हम किसी वस्तु के विषय में परामर्श (Judgem t) देते है।[1] भिन्न-भिन्न प्रयोजनों के अनुसार नय भी भिन्न भिन्न होते है। इस प्रकार प्रत्येक नय हमें सापेक्ष ज्ञान देता है। जैनों के अनुसार प्रत्येक वस्तु के अनेक धर्म होते है। उनमे से किसी एक धर्म के द्वारा वस्तु का निश्चय करने पर नय का ज्ञान होता है।[2] परन्तु जब अनेक धर्म द्वारा किसी वस्तु का अनेक रूप से निश्चय किया जाय तो यह ज्ञान प्रमाण के द्वारा होता है। इस प्रकार किसी विषय के यथार्थ ज्ञान के लिए प्रमाण और नय दोनों की आवश्यकता होती है।

---

१ एक देश विशिष्टोऽर्थो नयस्य विषयो मतः। न्यायावतार २९

२ नीयते गम्यते अर्थैक देशोऽनेनेति नयः। स्याद्वाद रत्नाकर पृ ८.
स्याद्वाद प्रविभक्तार्थ विशेषव्यञ्जको नयः। आप्तमीमांसा ४ १ ६.

अन्य दार्शनिको के समान जैनो ने भी प्रमाण जन्य ज्ञान के दो भेद किये हैं यथा अपरोक्ष और परोक्ष। परन्तु अपरोक्ष और परोक्ष मे केवल अपेक्षाकृत अन्तर है। परोक्ष अपेक्षाकृत परोक्ष है और अपरोक्ष अपेक्षाकृत अपरोक्ष। सिद्धसेन दिवाकर के अनुसार प्रमाण वह ज्ञान है जो विना किसी बाधा के स्वय को और अन्य को प्रकाशित करे। अत प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनो ही प्रमाण स्वय को और अन्य को प्रकाशित करते हैं। स्पष्ट है कि प्रत्यक्ष ज्ञान वस्तु का यथार्थ ज्ञान है। इसे जीव मन अथवा इन्द्रियो की सहायता के विना प्राप्त करता है। उमास्वाती के अनुसार 'प्रत्यक्ष" वह ज्ञान है जिसे जीव विना किसी सहायता के प्राप्त करता है। अत प्रत्यक्ष प्रमाण स्वत प्रमाण है। परोक्ष प्रमाण वह है जिसमे हेतु के द्वारा साध्य वस्तु का ज्ञान होता है। ज्ञान की इस प्रक्रिया को अनुमान कहते हैं। यहाँ पर यह ध्यान देने की बात है कि जब कि प्रारम्भ के जैन दार्शनिक इन्द्रियो और मन की सहायता के विना ज्ञान को ही प्रत्यक्ष मानते हैं बाद के जैन दार्शनिको ने व्यावहारिक दृष्टि से मन और इन्द्रियो की सहायता से हुए ज्ञान को भी प्रत्यक्ष माना है।

प्रमाण के दो भेद अपरोक्ष और परोक्ष

अत प्रत्यक्ष अथवा अपरोक्ष ज्ञान के दो भेद किये गए हैं यथा व्यावहारिक और पारमार्थिक। पारमार्थिक प्रत्यक्ष वह है जो कर्म के प्रभाव से मुक्त हो और मन तथा इन्द्रियो की सहायता विना स्वतन्त्र रूप से प्रकाशित हो। इसमे ज्ञाता और ज्ञेय का साक्षात सम्बन्ध होता है। कर्म की बाधाओं के रहते यह ज्ञान असम्भव है। अत कर्मो के नाश हो जाने पर ही पारमार्थिक प्रत्यक्ष सम्भव हो पाता है। यही वास्तविक प्रत्यक्ष है और इसी से जगत के सभी विषय प्रकाशित होते हैं। इसके विरुद्ध मन और इन्द्रियों की सहायता से हुआ प्रत्यक्ष व्यावहारिक प्रत्यक्ष अथवा लौकिक ज्ञान कहलाता है। पारलौकिक अथवा पारमार्थिक प्रत्यक्ष सभी में नही पाया जाता। परन्तु लौकिक ज्ञान सर्वसाधारण मे पाया जाता है।

अपरोक्ष ज्ञान के दो भेद, व्यावहारिक और पारमार्थिक

मति ज्ञान और श्रुत ज्ञान में निम्नलिखित भेद हैं—(१) मतिज्ञान मे प्रत्यक्ष का विषय उपस्थित रहता है परन्तु श्रुतज्ञान मे भूत, भविष्य अथवा वर्तमान किसी भी काल के विषय हो सकते हैं। (२) श्रुतज्ञान जैनागम से सम्बन्धित है। अत यह मतिज्ञान की अपेक्षा श्रेष्ठ है। (३) श्रुतज्ञान परिणाम से परे और विशुद्ध है क्योंकि वह आप्त वचन है परन्तु मतिज्ञान पर परिणाम का प्रभाव रहता है।

व्यावहारिक अपरोक्ष ज्ञान के दो भेद, मति और श्रुत

जैनों के अनुसार मतिज्ञान की उत्पत्ति निम्नलिखित क्रम से होती है—

मतिज्ञान चार प्रकार का है

(१) 'अवग्रह'—यह है जिसमें इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न प्रथम अवस्था का ज्ञान होता है। इसे सम्मुग्ध आलोचन ग्रहण और अवधारण भी कहते हैं। कहीं कहीं अवग्रह के भी दो भेद किए गए हैं यथा विज्ञानावग्रह और अर्थावग्रह। विज्ञानावग्रह में विषयी और विषय का सम्बन्ध मात्र स्थापित होता है अर्थावग्रह में विषयी को विषय का आभास होता है और संवेदना होती है।

(२) 'ईहा'—अवग्रह के बाद की अवस्था है। इसमें जीव को दृष्ट विषय के गुणों का परिचय होता है। उदाहरण के लिए जब कोई शब्द सुनाई पड़ता है तो प्रारम्भ में यह नहीं ज्ञात होता कि किसका शब्द है। यह अवग्रह है और जब यह जिज्ञासा होती है कि यह शब्द किसका है तो यह ईहा की अवस्था है।

(३) अवाय—इसमें दृष्ट वस्तु का निश्चयात्मक ज्ञान हो जाता है। उपरोक्त उदाहरण में यह वह अवस्था है जब कि यह निश्चय हो जाय कि शब्द किसका है।

(४) धारणा—यह है जिसमें दृष्ट वस्तु का पूर्ण ज्ञान होकर जीव के अन्तःकरण पर उसका संस्कार पड़ जाता है। यह प्रत्यक्ष ज्ञान की अन्तिम अवस्था है। इसमें स्मृति प्रत्यभिज्ञा और अनुमान इत्यादि सभी आ जाते हैं।

श्रुत ज्ञान

श्रुत ज्ञान शब्द ज्ञान है। इसकी उत्पत्ति सुने हुए शब्दों से होती है। यह आप्त वचनों तथा प्रामाणिक ग्रन्थों से संभव है। इसके लिए आप्तवचनों का श्रवण तथा प्रामाणिक ग्रन्थों का पाठ अति आवश्यक है। अतः श्रुत ज्ञान के लिए इन्द्रिय ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। मतिज्ञान श्रुतज्ञान से पहले आता है। तीर्थंकरों के उपदेश श्रुत ज्ञान हैं।

श्रुत ज्ञान के भेद

श्रुतज्ञान के भी दो भेद किए गए हैं यथा 'अंगबाह्य और अंगप्रविष्ट'। अंगप्रविष्ट ज्ञान वह है जिसका उल्लेख जैनों के धार्मिक साहित्य अंगों में हो। अंगबाह्य वह श्रुत ज्ञान है जिसका जैनागमों में उल्लेख न हो। इन दोनों में अंग प्रविष्ट श्रुतज्ञान अधिक श्रेष्ठ है।

पारमार्थिक अपरोक्ष ज्ञान के भेद, केवल ज्ञान और विकल ज्ञान

पारमार्थिक अपरोक्ष ज्ञान के दो भेद किए गए हैं यथा केवल ज्ञान और विकल-ज्ञान। पारमार्थिक अपरोक्ष ज्ञान जीव को इन्द्रियों अथवा मन की सहायता बिना 'घातीय' अथवा 'अघातीय' कर्मों के प्रभाव को दूर होने पर स्वयं प्राप्त होता है। यह ज्ञान जब सम्पूर्ण विषय का सम्यक ज्ञान होता है तब इसे केवल अथवा सकल

ज्ञान कहते हैं। यह ज्ञान रागद्वेष से रहित अर्हतो को ही प्राप्त होता है। यह सर्वश्रेष्ठ ज्ञान है। परन्तु जब यह ज्ञान किसी सीमित विषय का होता है तब इसे विकलज्ञान कहते हैं।

विकल पारमार्थिक ज्ञान के भी दो भेद किए गए हैं यथा अवधिज्ञान और मन. पर्याय ज्ञान। अवधिज्ञान कर्मों के अशत नष्ट होने पर होता है। इसमे मनुष्य अत्यन्त दूरस्थ, सूक्ष्म तथा अस्पष्ट द्रव्यो को भी जान सकता है। ज्ञान के आवरणो के हट जाने पर यह ज्ञान देवताओं और नारकीय जनो मे 'स्वभाव' से और मनुष्य तथा निम्नतर जीवो मे प्रयत्न से होता है। सीमित वस्तुओ का ज्ञान होने के कारण यह अवधिज्ञान कहलाता है। अवधिज्ञान सभी को प्राप्त हो सकता है परन्तु मन पर्याय ज्ञान केवल साधुओ को ही होता है। यह परिशुद्ध तथा सूक्ष्म ज्ञान है। इसमे अन्य व्यक्तियो के मन मे वर्तमान सीमित आकार की वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त होता है। यह सम्यक् चरित द्वारा ज्ञान के आवरणो के हट जाने पर प्राप्त होता है। दूसरो के मन मे प्रवेश करने के कारण यह ज्ञान मन पर्याय कहलाता है।

विकल पारमार्थिक अपरोक्ष ज्ञान के दो भेद, अवधि और मन पर्याय

मति और श्रुत द्वारा सभी द्रव्यो का ज्ञान होता है 'मूर्त' द्रव्य अवधिज्ञान का विषय हैं। सूक्ष्म द्रव्यो का ज्ञान मन पर्याय से होता है। इन चारो मे पर्यायो अथवा द्रव्यो के परिणाम से उत्पन्न विषयों का ज्ञान नही होता। पर्यायों का ज्ञान 'केवल ज्ञान' का विषय है।

परोक्ष ज्ञान

परोक्ष ज्ञान पाँच प्रकार का माना गया है—स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, तर्क, अनुमान और आगम। इनका विस्तृत विचार करना आवश्यक है।

(१) स्मृति— (Recollection)

स्मृति सस्कार के जाग्रत होने पर भूतकाल मे प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञात किसी वस्तु का स्मरण करना है। सस्कार आत्मा की एक विशेष शक्ति है। केवल भूतकालीन प्रत्यक्ष ही नही बल्कि भूतकालीन सस्कार, प्रत्यभिज्ञा, तर्क, अनुमान और आवश्यकता जीव पर सस्कार छोडने के कारण स्मृति उत्पन्न कर सकते है। जैनों के अनुसार स्मृति प्रामाणिक ज्ञान है क्योंकि वह 'धारावाहिक प्रत्यक्षकी तरह भूतकालीन प्रत्यक्ष की वस्तु का यथार्थ रूप उपस्थित करती है।

(२) प्रत्यभिज्ञा (Recognition)

प्रत्यक्ष और स्मृति द्वारा उत्पन्न सकलनात्मक ज्ञान है। इसमें तादात्म्य, समानता, भेद, तुलना, इत्यादि का ज्ञान होता है। उसमे भिन्न भिन्न जीवो अथवा अजीवो के 'सदृशपरिणाम' के रूप मे सामान्य का ज्ञान होता है। प्रत्यभिज्ञा एक विशेष

प्रकार का प्रमाण है। इसमें एक वर्तमान वस्तु को भूतकाल में प्रत्यक्ष की हुई वस्तु के रूप में देखा जाता है यथा "यह यह देवदत्त है"। प्रत्यक्ष में "यह" का ज्ञान होता है। स्मृति में 'वह' का ज्ञान होता है। प्रत्यभिज्ञा में यह ज्ञान होता है कि "यह वह है" यह एक ऐसी वस्तु का ज्ञान है जो कि किसी और तरह से नहीं जानी जा सकती। यह वस्तु का यथार्थ ज्ञान है। उसका किसी अन्य प्रमाण से विरोध भी नहीं है जैन दार्शनिक उपमान (Comparision) को एक प्रथक प्रमाण न मानकर उसे भी प्रत्यभिज्ञा में सम्मिलित कर देते हैं।

(३) तर्क

तर्क पक्ष और साध्य में व्याप्ति का ज्ञान है। यह भूत वर्तमान और भविष्य में दो वस्तुओं के साथ साथ उपस्थित और अनुपस्थित रहने के प्रत्यक्ष पर निर्भर रहता है। व्याप्ति दो प्रकार की है—अन्वय व्याप्ति और व्यतिरेक व्याप्ति। अन्वय में उपस्थिति का सम्बन्ध दिखाया जाता है और व्यतिरेक में अनुपस्थिति में व्याप्ति दिखाई जाती है। उदाहरण के लिये जहाँ आग है वहाँ धुआं है यहाँ अन्वय व्याप्ति है और जहाँ आग नही है वहाँ धुंआ नही है, वहाँ व्यतिरेक व्याप्ति है। व्याप्ति मे पक्ष और साध्य मे क्रमश: अथवा साथ साथ अविनाभाव (Universal accompamim nt) का सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध तर्क द्वारा निश्चय किया जाता है।

(४) अनुमान की प्रक्रिया के भेद, स्वार्थ और परार्थ

अनुमान 'हेतु' के द्वारा 'साध्य' वस्तु का ज्ञान है। इस अनुमान के दो भेद किए गए हैं यथा स्वार्थानुमान और परार्थानुमान। स्वार्थानुमान स्वयं को समझाने के लिए किया जाता है। अतः इसमें अधिक विस्तार की आवश्यकता नही होती। उदाहरण के लिए यदि हमने अनेक स्थानों पर धूएँ के साथ आग देखी है तो मन में यह निश्चय हो जाता है कि जहाँ आग है वहाँ धुआं अवश्य होगा। बाद में यदि कहीं धुंआ दिखाई पड़ता है तो उससे पूर्व ज्ञात 'व्याप्ति' के सम्बन्ध की सहायता से आग का अनुमान हो जाता है। यह स्वार्थानुमान है। इसमे धूऐं वाला स्थान पक्ष है। धुंआ पक्ष धर्म है। स्वार्थानुमान में व्याप्ति और पक्षधर्मता दोनों आवश्यक हैं।

परार्थानुमान के दो भेद पञ्चावयव और दशावयव

परार्थानुमान अनुमान का वह रूप है जो कि दूसरों को समझाने में प्रयोग किया जाता है। अतः उसका अधिक व्यवस्थित और विस्तृत होना स्वाभाविक ही है। पञ्चावयव परार्थानुमान में पाँच वाक्यों द्वारा निर्णय किया जाता है। ये वाक्य अनुमान के अवयव कहलाते हैं। निम्नलिखित उदाहरण में देखिये—

(१) प्रतिज्ञा—पर्वत मे आग है ।

(२) हेतु—क्योंकि पर्वत मे धुआ है ।

(३) दृष्टान्त—जहाँ धुआ है वहाँ आग है (व्याप्ति) जैसे रसोई घर मे ।

(४) उपनय—जो धुआ विना आग के नहीं रहता (अर्थात् व्याप्ति विशिष्टधूम) वह पर्वत मे है ।

(५) निगमन—इसलिए पर्वत मे आग है ।

"दशवैकालिक निर्युक्ति" मे भद्रबाहु ने दशावयव परार्थानुमान का वर्णन निम्नलिखित रूप मे किया है—

(१) प्रतीज्ञा—हिंसानिरोध सबसे बडा पुण्य है ।

(२) प्रतिज्ञा-विभक्ति—हिंसानिरोध जैन तीर्थंकरो के मत मे सबसे बडा पुण्य है ।

(३) हेतु—हिंसानिरोध सबसे बडा पुण्य है, क्योंकि जो हिंसा का निरोध करता है वह देवताओ का प्रियपात्र होता है और उनका आदर करना मनुष्यों के लिए धार्मिक कार्य है ।

(४) हेतु विभक्ति—हिंसा के निरोध करनेवालो के अतिरिक्त अन्य कोई भी पुण्य लोको मे रहने की आशा नही पाते ।

(५) विपक्ष—परन्तु जो जैन तीर्थंकरो से घृणा करते हैं और हिंसा करते हैं वे देवताओ के प्रिय हैं और उनका आदर करना मनुष्यो के लिए धार्मिक कार्य है । यज्ञो मे हिंसा करनेवाले स्वर्ग मे रहते है ।

(६) विपक्ष-प्रतिषेध—हिंसा करने वालो की जैन तीर्थंकर निन्दा करते हैं । वे उनके आदर के पात्र नही हैं और न तो वे सचमुच मे देवताओ के ही प्रियपात्र हैं ।

(७) दृष्टान्त—अर्हत और जैन साधू जन स्वय अपना भोजन इस भय से नही बनाते कि कही उसमे हिंसा हो जाय । वे लोग ग्रहस्थो के यहाँ भोजन प्राप्त करते हैं ।

(८) आशका—(दृष्टान्त की सत्यता मे सन्देह होना)—ग्रहस्थ लोग जो भोजन बनाते हैं वह तो अर्हत तथा जैन साधू लोगो के लिए भी बनाते हैं, फिर उसमे जीवहिंसा होने से उन ग्रहस्थो की तथा अर्हत और जैन साधुओ को भी उस पाप का भागी होना पडेगा । इसलिए उपर्युक्त दृष्टान्त ठीक नही है ।

(९) आशका प्रतिषेध—अर्हत और जैन साधु भिक्षा के लिए अपने आने का संवाद ग्रहस्थो को नहीं देते और न तो वे कभी किसी एक नियत समय मे उनके यहाँ भिक्षा के लिए जाते हैं । इसलिए उनके लिए ग्रहस्थ भोजन बनाते

है ऐसा कहना ठीक नहीं है। इसलिए इस पाप में अर्हत और जैन साधुओं का कोई भी सम्बन्ध नहीं है।

(१) निगमन—इसलिए हिंसा निरोध सबसे बड़ा पुण्य है।

अनुमान के दोष करने का आधार

अनुमान के स्वरूप में तीन पद मुख्य हैं यथा 'पक्ष' 'साध्य' और 'हेतु'। 'साध्य' को सिद्ध करना होता है। उसे सिद्ध करने का आधार 'पक्ष' और कारण 'हेतु' कहलाता है। इन तीनों के परस्पर सम्बन्ध में विघटन होने पर अनुमान में दोष आ जाते हैं। वे दोष निम्नलिखित हैं:—

(१) पक्षाभास—जहाँ साध्य का आधार सिद्ध हो अथवा असंभव हो अर्थात् 'पक्ष' के समान प्रतीत होने पर भी वह वास्तव में 'पक्ष' न हो वहाँ पर पक्षाभास दोष होता है।

(२) हेत्वाभास—इसके तीन भेद हैं।

(क) असिद्ध—जो बात सिद्ध नहीं हो सकती उसमें यह दोष पाया जाता है। जैसे यह सुन्दर है क्योंकि यह वन्ध्या का पुत्र है। यह वाक्य असिद्ध है क्योंकि वन्ध्या का पुत्र नहीं होता।

(ख) विरुद्ध—जो कि प्रत्यक्ष के विरुद्ध हो यथा अग्नि तरल है क्योंकि यह द्रव्य है। यह वाक्य प्रत्यक्ष के विरुद्ध है। अग्नि तरल नहीं होती।

(ग) अनैकान्तिक—जहाँ पर परस्पर विरुद्ध वाले सत्य हों। जैसे आत्मा अनित्य है क्योंकि वह ज्ञान है और आत्मा नित्य है क्योंकि वह सत है। यहाँ प्रथम वाक्य में अनैकान्तिक दोष है क्योंकि उसका उलटा वाक्य यथार्थ है।

हेत्वाभास के दो अन्य भेद दृष्टान्ताभास और दूषणाभास भी हैं।

(३) आगम

विश्वस्त व्यक्तियों के शब्दों द्वारा वस्तु का ज्ञान है। विश्वस्त अथवा आप्त पुरुष वह है जो कि वस्तुओं को उनके यथार्थ रूप में जानता है और अपने विचारों को ठीक प्रकार से अभिव्यक्त करता है। वह आत्मदोष से मुक्त होता है। उसके शब्द वस्तु के अनुरूप होते हैं। आगम के दो रूप हैं:—लौकिक और अलौकिक। जनक इत्यादि व्यक्तियों के शब्द लौकिक हैं। तीर्थंकरों के शब्द अलौकिक हैं। जैन वेदों में विश्वास नहीं करते। वे केवल तीर्थंकरों में विश्वास करते हैं जिन्होंने पूर्णता प्राप्त करके समस्त ज्ञान प्राप्त कर लिया है। जैसे दीपक वस्तु को प्रकाशित करता है वैसे ही शब्द भी अपनी स्वाभाविक शक्ति से वस्तु को अभिव्यक्त करता है। परन्तु यह रीति रिवाजों पर निर्भर है। उसका सत्य अथवा असत्य होना वक्ता के गुण अथवा दोष पर निर्भर है।

कुछ जैनों ने आठ प्रकार का ज्ञान माना है जिसमे मति, श्रुत, अवधि, मन पर्याय और केवल तो यथार्थ ज्ञान हैं और तीन प्रकार के मिथ्या ज्ञान हैं यथा समस्या, विपर्यय और अनध्यवसाय। इनमें से प्रथम पांच का वर्णन पीछे किया जा चुका है। समस्या वह ज्ञान है जिसमें सन्देह हो। इसका प्रभाव मति और श्रुत ज्ञान पर पड़ता है। विपर्यय वह ज्ञान है जो सत्य के विपरीत हो। यह अवधि में पाया जाता है। [illegible], लापरवाही अथवा उपेक्षा के कारण मिथ्या ज्ञान होता है। जैनों के अनुसार पूर्ण ज्ञान में समस्या, विमोह और विभ्रम का नितान्त अभाव होता है।

तीन प्रकार का मिथ्या ज्ञान

ज्ञान का उपरोक्त वर्णन प्रमाण अथवा उस ज्ञान के सम्बन्ध में है जो कि स्वयं वस्तु के विषय में होता है जैसी कि वह हो। किसी वस्तु के किसी विशेष सम्बन्ध में ज्ञान को नय कहते हैं। इस सापेक्ष ज्ञान को पूर्ण समझने से नयाभास दोष होता है। नय के मुख्यतः दो भेद हैं अर्थनय और शब्दनय। अर्थ नय वह है जिसका सम्बन्ध अर्थ अथवा वस्तु विषयों से होता है। शब्द नय वे हैं जो शब्दों से सम्बन्धित हैं।

नय के दो भेद अर्थ और शब्द

अर्थ नय के चार भेद किये गए हैं। वे निम्नलिखित हैं—

(१) **नैगम नय**—सिद्धसेन के अनुसार नैगम नय तब होता है जबकि हम किसी वस्तु मे सामान्य और विशेष गुणों को जानते हुए भी उनमे अन्तर नही करते। पूज्यपाद के अनुसार वह किसी क्रिया के उस प्रयोजन से सम्बन्धित है जो उस क्रिया म आद्योपान्त उपस्थित है। उदाहरण के लिये यदि कोई व्यक्ति अग्नि, जल बर्तन आदि ले जा रहा हो तो पूछने पर ज्ञात होगा कि वह भोजन बनाने जा रहा है। यहाँ पर अन्य सभी क्रियायें हैं भोजन बनाने के लक्ष्य से की जा रही हैं।

अर्थ नय के चार भेद

(२) **सग्रह नय**—यहाँ पर सामान्य गुणो पर विशेष रूप से ध्यान दिया जाता है। यद्यपि विशेष मे प्रथक सामान्य की अपनी कोई सत्ता नही है परन्तु फिर भी सामान्यो के निरीक्षण से भी अनेक बातें ज्ञात होती हैं। यदि विशेष और सामान्य मे एक की उपेक्षा करके दूसरे पर अत्यधिक जोर दिया जाता है तो नयाभास होता है। सांख्य और अद्वैत वेदान्त ने विशेषो की उपेक्षा की है और बौद्ध सामान्यो को नही मानते। न्याय वैशेषिक दोनो को मानते हैं परन्तु उनके अन्तर को निरपेक्ष मानते हैं। जैन इस अन्तर को सापेक्ष मानते हैं। सग्रह नय के भी दो भेद किये गए हैं। पर सग्रह सर्वोच्च सामान्य दृष्टिकोण है

जिसके अनुसार सभी वस्तुएँ एक ही परमाणु का अंश हैं। अपर संग्रह नय भिन्न भिन्न जाति के सामान्यों का विचार करता है।

(३) व्यवहार नय—व्यावहारिक ज्ञान पर आधारित सर्वसाधारण का दृष्टिकोण है। इसमें वस्तुओं पर उनके मूर्तरूप में विचार किया जाता है और उनकी व्यक्तिगत विशेषताओं पर जोर दिया जाता है। जब इसमें विशेष तत्वों को ही एकमात्र सत्य मानकर सामान्यों की अवहेलना की जाती है तब नयाभास होता है जैसा कि जड़वाद अथवा पदार्थवादी बहुवाद में है।

(४) ऋजु सूत्रनय—इसमें सत्ता क्षणिक से तादात्म्य पर जोर दिया जाता है और समस्त क्रम तथा सुसम्बद्धता की उपेक्षा की जाती है। अतः यह व्यवहार नय से भी संकुचित है। इसमें किसी वस्तु की एक विशेष क्षण की प्रकृति का विचार किया जाता है। यह नय विशेष अवस्था में अत्यन्त उपयोगी है। परन्तु इसको ही परम सत्य मानने पर नयाभास हो जाता है जैसा कि बौद्ध दर्शन के क्षणिकवाद और विज्ञानवाद इत्यादि मतों में है।

उपरोक्त चार अर्थ नयों के अतिरिक्त तीन शब्द नय हैं—

शब्द नय के तीन भेद

(१) शब्द नय—इसके अनुसार प्रत्येक शब्द का एक विशेष अर्थ होता है जिसको ध्यान में रखना अत्यन्त आवश्यक है। शब्द किसी वस्तु, गुण सम्बन्ध अथवा क्रिया का परिचायक है। यहां पर यह बात रखने की आवश्यकता है कि एक शब्द के अनेक अर्थ हो सकते हैं और अनेक शब्दों का एक अर्थ हो सकता है तथा शब्द और उनके अर्थ में सापेक्ष सम्बन्ध है। यह भूल जाने पर नयाभास होता है।

(२) समभिरूढ़ नय—शब्दों को उनकी रूढ़ि के अनुसार ग्रहण करना है। उदाहरण के लिये 'पंकज' शब्द का शाब्दिक अर्थ "पंक से उत्पन्न" है परन्तु यह शब्द विशेष रूप से कमल के ही लिये प्रयोग किया जाता है।

(३) एवम्भूतनय—यह समभिरूढ़ नय से भी संकुचित है। इसके अनुसार किसी विशेष वस्तु को एक विशेष नाम से तभी पुकारा जा सकता है जब कि उस विशेष नाम की विशेष रूढ़ि के अर्थ उस पर पूरी तरह से लागू होते हों। अतः गाय को तभी 'गच्छ' कहा जा सकता है जबकि वह गतिशील हो। किसी और अवस्था में गाय को किसी और उपयुक्त शब्द से पुकारा जा सकता है।

नय विभ्रम

उपरोक्त सातों नय में से प्रत्येक अपने से पूर्व वाले से अधिक संकुचित है। इस प्रकार एवम् भूत सबसे अधिक संकुचित है और नैगम सर्वाधिक विस्तृत है। प्रत्येक नय उन अनेक दृष्टिकोणों में से एक है जिनसे किसी वस्तु को देखा जा सकता है। इनमें से किसी विशेष दृष्टिकोण को पूर्ण सत्य लेने से नया-

मास दृष्टि होता है। जैनो के अनुसार न्यायवैशेषिक, साख्य, अद्वैत वेदान्त और बौद्ध दार्शनिक क्रमश प्रथम चार नयो के दृष्टिकोण को लेकर उसको ही परम सत्य मान बैठते हैं । जैनो के अनुसार पूर्ण दृष्टि में इन सबका समन्वय होता है। इस समन्वय को उन्होंने एकीकरण मात्र के रूप में लिया है। इस पूर्ण दृष्टिकोण को वे नयनिश्चय कहते हैं। नयनिश्चय भी दो प्रकार का होता है शुद्ध निश्चय और अशुद्ध निश्चय। शुद्ध निश्चय मे शुद्ध उपाधि रहित सद वस्तु का ज्ञान होता है । अशुद्ध निश्चय मे वस्तु की सोपाधि अवस्याओ का ज्ञान होता है।

द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय

जैनो ने नय का और भी दो भागों मे विभाजित किया है यथा द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय। द्रव्यार्थिक नय वस्तु पर द्रव्य अथवा उनके नित्य स्वभाव के दृष्टिकोण से विचार करते हैं। पर्यायार्थिक नय वस्तु के पर्याय, उपाधियों अथवा सोपाधि सटा के दृष्टिकोण से विचार करते हैं।

स्याद्वाद

स्याद्वाद अथवा सप्तभगी नय जैन तर्क शास्त्र का सबसे अधिक महत्व पूर्ण अग है। स्याद् का अर्थ सभावना नही है क्योंकि स्याद्वाद न तो सशय वाद (Scepticism) है और न अज्ञेयवाद (Agnosticism)।

स्याद्वाद ज्ञान की सापेक्षता का सिद्धान्त है

वास्तव मे स्याद्वाद ज्ञान की सापेक्षता का सिद्धान्त है। प्रत्येक वस्तु अपने रूप, द्रव्य, क्षेत्र और काल के विचार से हैं और अन्य वस्तु के रूप, द्रव्य, क्षेत्र और काल के विचार से नही है।[1] अत प्रत्येक वस्तु का ज्ञान सापेक्ष है।

अनेकान्तवाद

जैनो के अनुसार सत नित्य, क्षणिक अथवा भिन्न-भिन्न रूप में नित्य और अनित्य दोनो नही है। सत सदैव परिवर्तनशील है फिर भी उसका 'अपनापन' कभी नष्ट नही होता। वह उत्पाद तथा व्यय में भी सदैव वतमान रहता है। अत प्रत्येक वस्तु के अनेक धर्म होते हैं ?[2] केवली को इन सभी धर्मो का अपरोक्ष ज्ञान हो सकता है। परन्तु साधारण मनुष्य एक समय मे एक ही दृष्टि

---

१ स्वरूप द्रव्य—क्षेत्र—काल भावै सत्व, पर रूप द्रव्य—क्षेत्र—काल—भावैस्त्व-सत्वम्। स्याद्वाद मजरी P 176—7

२ सदेव, सत्, स्यात्सदिति त्रिधार्थो मीयेत दुर्नीति—नय—प्रमाणे। अन्ययोग व्यवच्छेदिका, २८

है देख सकता है। अतः किसी तत्व पर विचार करने के लिये उसके अनेक धर्मों का विचार करना चाहिये। सत को नित्य अनित्य चेतन अचेतन कूटस्थ और क्षणिक धर्मी मानने के सिद्धान्त को अनेकान्तवाद कहते हैं। इसको परिणामिनित्यत्ववाद भी कहा गया है। स्याद्वाद इसी मत पर आधारित है।

दुर्नीति नय और प्रमाण

जैनो के अनुसार किसी वस्तु को तीन प्रकार से माना जा सकता है। जिस ज्ञान में अंश को पूर्ण मान लिया जाय उसको दुर्नीति कहते हैं। जब ज्ञान को अंश अथवा पूर्ण कुछ भी न कहकर जैसा है वैसा ही रखा जाता है तो वह नय कहलाता है। जब किसी ज्ञान के साथ यह भी ज्ञान रहता है कि वह सीमित सापेक्ष और सोपाधि है तथा उसकी भिन्न भिन्न दृष्टि कोण से पृथक पृथक व्याख्या हो सकती है तब वह 'प्रमाण' अथवा 'स्यात् सत' कहलाता है।[1] प्रमाण होने के लिये प्रत्येक नय मे स्यात् विशेषण आवश्यक है। स्यात् सत्य का लक्षण कहा जाता है। वह सापेक्ष है उसमे क्रमिक ज्ञान है।[2] वह विभिन्न दृष्टिकोणों के विरोध को हटा देता है।[3] स्याद्वाद को छोड़ने का अर्थ एकान्तवाद को ग्रहण करना है जो कि सभी अनुभवों के विरुद्ध है।[4]

हाथी और अन्धों का उदाहरण

जैनों के अनुसार परामर्श निरुपाधि और एकान्तिक नहीं हो सकता। सब परामर्शों मे स्वीकार और निषेध दोनों होते हैं। जैनों मे वस्तु का तथा उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक नित्यानित्य स्वरूप तथा अनेकान्तात्मक कह कर वर्णन किया है। द्रव्य के दृष्टिकोण से वस्तु सत्, नित्य, सार्वभौम और एक है तथा पर्याय के दृष्टिकोण से वह असत विशेष क्षणिक और अनेक है।[5] स्याद्वाद को समझाने के लिये जैनों ने हाथी और छः अन्धों का दृष्टान्त दिया है। छः अन्धे एक हाथी का आकार जानना चाहते हैं। अपने हाथों को हाथी के शरीर के भिन्न भिन्न भागो पर रखकर प्रत्येक अन्धा उसी भाग को ही पूरा हाथी समझ लेता है। इस प्रकार कोई पैर, कोई पूंछ

१ स्यात्कारः सत्यलाञ्छनः। आप्त मीमांसा, X ११२

२ क्रमभावि च यज्ज्ञानं स्याद्वादनय संस्कृतम्। हेमचन्द्र अन्ययोग ५ १ १

३ स्याद् वादं सार्वतान्त्रिकम्। अध्यात्मसार, ५१

४ त्वन्मतामृत बाह्यानां सर्वथैकान्तवादिनाम्। आप्ताभिमानदग्धानां स्वेष्टं दृष्टेन बाध्यते ॥ आप्त मीमांसा L. 7

५. अपर्ययं वस्तु समस्यमानम् अद्रव्यमेतच्च विविच्यमानम्।
आदेश भेदोदित सप्त भंगमदीदृशस्त्वं बुधरूप वेद्यम् ॥
अन्ययोगव्यवच्छेदिका, २१

दृष्टि से घडे का रग लाल है, दूसरी से लाल नही है और जब दृष्टिकोण स्पष्ट न हो तो अवक्तव्य है। इस परामर्श के अनुसार 'स्यात् है, नही है और अवक्तव्य भी है।"

किसी वस्तु मे अनेक धर्म हो सकते हैं परन्तु उसके किसी भी धर्म के विषय मे उपरोक्त सात प्रकार के परामर्श ही हो सकते ह।

वस्तुवादी सापेक्षवाद द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इनमे से किसी को भी लेकर उपरोक्त सात अवस्थाओ की कल्पना की जा सकती है। जैन दर्शन वस्तुवादी और सापेक्षवादी है। जैनो के अनुसार विचार परामर्श मानसिक प्रत्यय मात्र नही है बल्कि उनके द्वारा बाह्य वस्तुओ के वास्तविक धर्मों को जाना जा सकता है। कोई भी प्रत्यय सत्य तभी होगा जब कि वह बाह्य वस्तु के धर्म को व्यक्त करे।[1] ज्ञान सापेक्ष है परन्त फिर भी वह मन पर निर्भर न होकर वस्तुओ के धर्मों पर ही निर्भर है।

जैनो के स्यादवाद की अन्य दार्शनिक विचारको ने कटु आलोचना की है। सक्षेप मे ये आलोचनाएँ, निम्नलिखित हैं (१) बौद्ध स्यादवाद की आलोचना और वेदान्तियो ने स्यादवाद को एक मात्र विरोधी सिद्धान्त कहा है। उन्होने स्यात् शब्द का अर्थ सम्भावना लगाया है। इसी कारण यह आलोचना समव हो सकी है। एक ही वस्तु एक ही अर्थ मे है और 'नही' नही हो सकती। धर्म कीर्ति, शान्त रक्षित और शकराचार्य सभी ने स्यादवाद को पागलो का प्रलाप बतलाया है।[2] रामानुज के अनुसार सत्ता और निसत्ता के समान परस्पर विरुद्ध धर्म प्रकाश और अन्धकार के समान एकत्रित नहीं किये जा सकते।

परन्तु स्यादवाद का जो स्पष्टीकरण पीछे किया जा चुका है उससे यह स्पष्ट है कि बौद्ध और वेदान्तियो की आलोचना स्यादवाद के विषय मे अज्ञान की परिचायक है। अनेकान्त वादियो के अनुसार प्रत्येक वस्तु के अनेक धर्म हैं जबकि द्रव्य की दृष्टि से वह एक सत और नित्य है, पर्याय की दृष्टि से वही अनेक, असत और अनित्य है। अपने द्रव्य, रूप, काल और क्षेत्र के दृष्टिकोण से वस्तु को सत माना गया है और दूसरे के द्रव्य, रूप, काल और क्षेत्र की दृष्टि से असत, तब फिर उसमे विरोध की कहाँ जगह है?[3] एक वस्तु को

---

१ "यथावार्स्यतार्थ व्यवसायस्य हि सवेदन प्रमाणम्"—प्रमेय कमल मार्तण्ड पृष्ठ ४१।

२ प्रमाणवर्तिक I, १८२-१८५, तत्व सग्रह ३११-२७, शारीरक भाष्य II 2 33

३ न हि वय येनैव प्रकारेण सत्व तेनैवासत्व, येनैव चासत्व तेन सत्वमभ्युपेम। किन्तु स्वरूप द्रव्य क्षेत्र काल भावै सत्व, पर रूप द्रव्य क्षेत्र काल भावैस्त्व सत्वम्। तदा क्व विरोधावकाश?—स्यादवाद मञ्जरी 176-7

एक दृष्टिकोण से नहीं बल्कि भिन्न भिन्न दृष्टिकोण से सत असत सदासत और अनिर्वचनीय कहा गया है। इस तत्व को न समझ कर काल्पनिक विरोधों के भय से सापेक्ष को एकान्तिक मान कर मूर्ख लोग वास्तविक सत्य को भूल जाते हैं।[1]

(२) शंकराचार्य का दूसरा आक्षेप फिर भी स्याद्वाद के यथार्थ दोष की ओर इंगित करता है। वेदान्त के इस तर्क के अनुसार यदि प्रत्येक वस्तु सम्भावित मात्र है तो स्याद्वाद स्वयं भी एक संभावना मात्र है। वास्तव में अनेकान्तिकता का सिद्धान्त एकान्तिकता के बिना नहीं रह सकता। सापेक्ष निरपेक्ष पर आधारित है। एक निरपेक्ष के बिना स्याद्वाद के सातों नय बिखरे हुए रहते हैं और उनमें समन्वय नहीं हो सकता। जैन एकान्तिकता और अनेकान्तिकता दोनों को मानते अवश्य हैं परन्तु इनमें किसी प्रकार का समन्वय नहीं स्थापित करते। स्याद्वाद का समर्थन करते समय वे स्याद्वाद को भूल कर अपने मत को ही एकमात्र सत्य ठहराने लगते हैं। जैन सत्कार्यवाद की असत्कार्यवाद से और असत्कार्यवाद की सत्कार्यवाद से आलोचना करते हैं। जैन 'सकलादेश' और 'विकलादेश' में अन्तर करते हैं। बिखरे हुए आंशिक सत्य 'विकलादेश' कहलाते हैं। परन्तु एकत्रित होकर वे पूर्ण सत्य बन जाते हैं और 'सकलादेश' कहलाते हैं। यशोविजय के अनुसार जैनी दृष्टि सर्वश्रेष्ठ है क्योंकि उसमें समस्त नय एक साथ गुम्फित हो गए हैं।[2] परन्तु एकत्रीकरण मात्र को गुम्फित होना नहीं कहा जा सकता। निरपेक्ष तत्व की अनुपस्थिति में सापेक्ष तत्वों को किसी प्रकार भी गुम्फित नहीं किया जा सकता। यशोविजय आगे कहता है कि अनेकान्तवाद में निष्पक्षता है क्योंकि वह अपने बच्चों के समान सभी नयों से समान व्यवहार करता है।[3] परन्तु इस समानता में भेद को भुला दिया गया है। हेमचन्द्र के अनुसार सभी दर्शन सापेक्ष और पक्षपात पूर्ण और आपस में लड़ते हैं जबकि एकमात्र जैन दर्शन ही निष्पक्ष है क्योंकि वह समस्त नयों को समान मानता है।[4] परन्तु निरपेक्ष तत्व की अनुपस्थिति में यह समानता एकत्रीकरण मात्र रह जाती है। वास्तव में अनेकान्त

---

१ उपाधिभेदोपहितं विरुद्धं नार्थेष्वसत्त्वं सदवाच्यते च।
इत्यप्रबुध्यैव विरोधभीता जडास्तदेकान्तहताः पतन्ति॥

अन्ययोगव्यवच्छेदिका 24

२ सर्वनयैर्गुम्फिता। जैनी दृष्टि रितीद् ... ॥

—अध्यात्मसार

३ यस्य सर्वत्र समता नयेषु तनयेष्विव।
तस्यानेकान्तवादस्य क्व न्यूनाधिकशेमुषी॥ —अध्यात्मसार ६१

४ अन्योन्यपक्षप्रतिपक्षभावाद् यथा परे मत्सरिणः प्रवादाः।
नयानशेषानविशेषमिच्छन् न पक्षपाती समयस्तथा ते॥ अन्ययोग ३०

कोई कान और कोई सूंड और कोई मस्तक अथवा कोई पेट इत्यादि पकड़ता है और हाथी के विषय में अपना मत प्रकट करता है कोई हाथी के पंखे जैसा बतलाता है। कोई खम्भे जैसा कोई अजगर जैसा बतलाता है तो कोई रस्सा। जिसने पेट छुआ वह हाथी को दीवार जैसा बतलाता है तथा जिसने मस्तक छुआ वह उसे छाती जैसा बतलाता है। प्रत्येक सोचता है कि उसी का ज्ञान सब कुछ है और बाकी गलत हैं।

उपरोक्त दृष्टान्त के अनुसार सभी दर्शन एकांगी सत्य हैं

इसी प्रकार सभी दार्शनिक मन मे अपनी अपनी हॉंकते है और दूसरो के सिद्धान्त को असत्य ठहराते हैं। उपरोक्त उदाहरण में आंखो वाला व्यक्ति जानता है कि सभी अन्धे अन्धे हैं और सभी झूठे। अपने अपने दृष्टिकोण से प्रत्येक दर्शन सत्य है परन्तु दूसरे को झूठे ठहराने वाला अथवा अपने मत को ही एक मात्र सत्य समझने वाला दर्शन झूठा है। आधुनिक तथ्य वस्तु वादियो ने इसी को एकान्तवाद का दोष (Fallacy of exclusive particularity) कहा है।

स्यात् शब्द का महत्व

जैनो का यह आग्रह है कि प्रत्येक नय के प्रारम्भ मे 'स्यात्' शब्द का प्रयोग होना चाहिये। इसका अर्थ यह है कि उस वाक्य की सत्यता उस विशेष प्रसग मे ही सीमित है। अन्य प्रसगों मे यह मिथ्या भी हो सकता है। अत परामर्श (Judgment) को दोष मुक्त करने के लिये स्यात् का प्रयोग आवश्यक है।

सात प्रकार का परामर्श

जैनो ने भिन्न भिन्न दृष्किोणो सें परामर्श के सात भेद किए हैं। जिस परामश मे किसी वस्तु के साथ उसके अपने धर्म या लक्षण का सम्बन्ध जोडा जाता है उसको अस्ति-वाचक परामर्श कहते हैं। जिस परामर्श में किसी वस्तु का किसी अन्य वस्तु के धर्म या लक्षण के साथ सम्बन्धाभाव दिखलाया जाता है उसे नास्विाचक परामर्श कहते हैं। ये सात प्रकार के परामर्श निम्न-लिखित हैं —

(१) स्यात् अस्ति—प्रथम परामश है कि किसी एक दृष्टि से वस्तु की सत्ता हो सकती है। उदाहरण के लिए यदि यह कहा जाता है कि स्यात् घडा है तो इसका अर्थ यह होगा कि किसी विशेष देश काल और रूप के प्रसग मे घड़ा है।

(२) स्यात् नास्ति—परन्तु किसी दूसरे देश काल अथवा रूप के प्रसग मे घडे के विषय मे नास्ति बोधक परामर्श होगा। उदाहरण के लिए यदि घर मे रखे किसी घडे के प्रसग मे यह कहा जाता है कि वह है तो उसी घर के प्रसग मे उसका होना सिद्ध होता है। घर के बाहर उस घडे का अस्तित्व न होगा परन्तु इससे यह सिद्ध नही होता कि घर से बाहर किसी अन्य रूप का घडा

नहीं होगा। इसी प्रकार घड़ा है यह परामर्श एक विशेष काल के प्रसंग में है। कुछ काल पहले अथवा कुछ काल पश्चात् उस घड़े का होना आवश्यक नहीं है।

(३) स्यात् अस्ति च नास्ति च—एक अन्य दृष्टिकोण से उसी समय वस्तु की सत्ता हो भी सकती है और नहीं भी हो सकती। घड़े के उदाहरण में घड़ा हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता। अतः ऐसी अवस्था में "स्यात् है और नहीं है" परामर्श होगा।

(४) स्यात् अवक्तव्यं—जिस परामर्श में परस्पर-विरोधी गुणों के सम्बन्ध में एक साथ विचार करना हो उसके विषय में 'स्यात् अवक्तव्यं' परामर्श होगा। यह चौथा परामर्श माना गया है। घड़े के उदाहरण में यह परामर्श तब होता है जब कि न तो उसके होने और न 'न होने' के विषय में ही ठीक प्रकार से कहा जा सकता हो। घड़े का रूप कभी कभी ऐसा भी हो सकता है कि न उसे लाल कहा जा सके और न काला।

दार्शनिक दृष्टि से इस चौथे रूप का निम्नलिखित महत्व है —

(अ) इसके अनुसार किसी वस्तु का क्रमिक वर्णन भिन्न भिन्न दृष्टियों से हो सकता है एक साथ विरोधी धर्मों के द्वारा किसी वस्तु का वर्णन नहीं किया जा सकता। इस दृष्टि से उसको अव्यक्तव्यं कहा जायगा।

(ब) सभी प्रश्नों को हाँ या नहीं में उत्तर नहीं दिया जा सकता। ऐसे भी अनेक प्रश्न हैं जिनका कोई उत्तर नहीं हो सकता।

(स) विरोध एक दोष है। परस्पर विरुद्ध धर्म किसी एक वस्तु के लिये एक साथ प्रयुक्त नहीं हो सकते।

(५) स्यात् अस्ति च अवक्तव्यं इन तीन नयं क्रमश चौथे को पहले दूसरे तथा तीसरे नय म जोड़ने से प्राप्त होते हैं। पाँचवाँ नय पहले और चौथे को जोड़ने से प्राप्त होता है। इस प्रकार पाँचवे दृष्टिकोण से वस्तु एक ही समय में हो सकती है और फिर भी अवक्तव्य रह सकती है। किसी विशेष दृष्टि से घड़े को लाल कहा जा सकता है। परन्तु जब दृष्टि का स्पष्ट निर्देश न हो तो घड़े के रंग का वर्णन असम्भव हो जाता है। अतः व्यापक दृष्टि से घड़ा लाल है और अवक्तव्यं भी है।

(६) स्यात् नास्ति च अवक्तव्यं च—दूसरे और चौथे नयों को क्रमिक रूप से जोड़ने पर छठा नय बनता है। इसके अनुसार किसी एक विशेष दृष्टिकोण से किसी वस्तु के विषय में 'नहीं है' कह सकते हैं परन्तु दृष्टि स्पष्ट न होने पर कुछ नहीं कह सकते। अतः व्यापक दृष्टि से घड़ा लाल नहीं है और अवक्तव्यं है।

(७) स्यात् अस्ति च नास्ति च अवक्तव्यं च—इसी प्रकार क्रमशः तीसरे और चौथे नयों को जोड़कर सातवाँ नय बन जाता है। इसके अनुसार एक

दृष्टि से घडे का रग लाल है, दूसरी से लाल नही है और जब दृष्टिकोण स्पष्ट न हो तो अवक्तव्य है। इस परामर्श के अनुसार 'स्यात् है, नही है और अवक्तव्य भी है।"

किसी वस्तु मे अनेक धम हो सकते है परन्तु उसके किसी भी धर्म के विषय मे उपरोक्त सात प्रकार के परामर्श ही हो सकते है।

वस्तुवादी सापेक्षवाद द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इनमे से किसी को भी लेकर उपरोक्त सात अवस्थाओ की कल्पना की जा सकती है। जैन दर्शन वस्तुवादी और सापेक्षवादी है। जैनो के अनुसार विचार परामर्श मानसिक प्रत्यय मात्र नही है वलिक उनके द्वारा बाह्य वस्तुओ के वास्तविक धर्मो को जाना जा सकता है। कोई भी प्रत्यय सत्य तभी होगा जब कि वह बाह्य वस्तु के धर्म को व्यक्त करे।[१] ज्ञान सापेक्ष है परन्त फिर भी वह मन पर निर्भर न होकर वस्तुओ के धर्मो पर ही निर्भर है।

जैनो के स्यादवाद की अन्य दार्शनिक विचारको ने कटु आलोचना की है। सक्षेप में ये आलोचनाएँ, निम्नलिखित हैं (१) बौद्ध

स्यादवाद की आलोचना और वेदान्तियो ने स्यादवाद को एक मात्र विरोधी सिद्धान्त कहा है। उन्होंने स्यात् शब्द का अथ सम्भावना लगाया है। इसी कारण यह आलोचना सभव हो सकी है। एक ही वस्तु एक ही अथ मे है और 'नही' नही हो सकती। धर्म कीर्ति, शान्त रक्षित और शकराचार्य सभी ने स्यादवाद को पागलों का प्रलाप बतलाया है।[२] रामानुज के अनुसार सत्ता और निसत्ता के समान परस्पर विरुद्ध धर्म प्रकाश और अन्धकार के समान एकत्रित नहीं किये जा सकते।

परन्तु स्यादवाद का जो स्पष्टीकरण पीछे किया जा चुका है उससे यह स्पष्ट है कि बौद्ध और वेदान्तियो की आलोचना स्यादवाद के विषय में अज्ञान की परिचायक है। अनेकान्त वादियो के अनुसार प्रत्येक वस्तु के अनेक धर्म हैं जबकि द्रव्य की दृष्टि से वह एक सत और नित्य है, पर्याय की दृष्टि से वही अनेक, असत और अनित्य है। अपने द्रव्य, रूप, काल और क्षेत्र के दृष्टिकोण से वस्तु को सत माना गया है और दूसरे के द्रव्य, रूप, काल और क्षेत्र की दृष्टि से असत, तब फिर उसमे विरोध की कहाँ जगह है?[३] एक वस्तु को

---

१ "यथावास्यंतार्थ व्यवसायरूप हि सवेदन प्रमाणम्"—प्रमेय कमल मार्तण्ड पृष्ठ ४१।

२ प्रमाणवतिक I, १८२-१८५, तत्व सग्रह ३११-२७, शारीरक भाष्य II 2 33

३ न हि वय येनैव प्रकारेण सत्त्व तेनैवासत्त्व, येनैव चासत्त्वं तेन सत्त्वमभ्युपेम। किन्तु स्वरूप द्रव्य क्षेत्र काल भावै सत्त्व, पर रूप द्रव्य क्षेत्र काल भावैस्त्व सत्त्वम्। तदा क्व विरोधावकाश?—स्यादवाद मञ्जरी 176-7

एक दृष्टिकोण से नहीं बल्कि भिन्न भिन्न दृष्टिकोण से सत् असत् सदसत् और अनिर्वचनीय कहा गया है। इस तत्व को न समझ कर काल्पनिक विरोधों के भय से सापेक्ष को एकान्तिक मान कर मूर्ख लोग वास्तविक सत्य को भूल जाते हैं।[1]

(२) शंकराचार्य का दूसरा आक्षेप फिर भी स्याद्वाद के यथार्थ दोष की ओर इंगित करता है। वेदान्त के इस तर्क के अनुसार यदि प्रत्येक वस्तु सम्भावित मात्र है तो स्याद्वाद स्वयं भी एक संभावना मात्र है। वास्तव में अनेकान्तिकता का सिद्धान्त एकान्तिकता के बिना नहीं रह सकता। सापेक्ष निरपेक्ष पर आधारित है। एक निरपेक्ष के बिना स्याद्वाद के सातों नय बिखरे हुए रहते हैं और उनमें समन्वय नहीं हो सकता। जैन एकान्तिकता और अनेकान्तिकता दोनों को मानते अवश्य हैं परन्तु इनमें किसी प्रकार का समन्वय नहीं स्थापित करते। स्याद्वाद का समर्थन करते समय वे स्याद्वाद को भूल कर अपने मत को ही एकमात्र सत्य ठहराने लगते हैं। जैन सत्कार्यवाद की असत्कार्यवाद से और असत्कार्यवाद की सत्कार्यवाद से आलोचना करते हैं। जैन 'सकलादेश' और 'विकलादेश' में अन्तर करते हैं। बिखरे हुए आंशिक सत्य 'विकलादेश' कहलाते हैं। परन्तु एकत्रित होकर वे पूर्ण सत्य बन जाते हैं और 'सकलादेश' कहलाते हैं। यशोविजय के अनुसार जैनी दृष्टि सर्वश्रेष्ठ है क्योंकि उसमें समस्त नय एक साथ गुम्फित हो गए हैं।[2] परन्तु एकत्रीकरण मात्र को गुम्फित होना नहीं कहा जा सकता। निरपेक्ष सत्य की अनुपस्थिति में सापेक्ष सत्यों को किसी प्रकार भी गुम्फित नहीं किया जा सकता। यशोविजय आगे कहता है कि अनेकान्तवाद में निष्पक्षता है क्योंकि वह अपने बच्चों के समान सभी नयों से समान व्यवहार करता है।[3] परन्तु इस समानता में भेद को भुला दिया गया है। हेमचन्द्र के अनुसार सभी दर्शन सापेक्ष और पक्षपात पूर्ण और आपस में लड़ते हैं जबकि एकमात्र जैन दर्शन ही निष्पक्ष है क्योंकि वह समस्त नयों को समान मानता है।[4] परन्तु निरपेक्ष सत्य की अनुपस्थिति में यह समानता एकत्रीकरण मात्र रह जाती है। वास्तव में अनेकान्त

---

१ उपाधिभेदोपहितं विरुद्धं नार्थेष्वसत्वं सदवाच्यते च।
इत्यप्रबुध्यैव विरोधभीता जडास्तदेकान्तहताः पतन्ति॥
अन्ययोगव्यवच्छेदिका 24

२ सर्वनयैर्गुम्फिता। जैनी दृष्टि रितीयं सारतरता प्रत्यक्षमुपलभ्यते॥
—अध्यात्मसार

३ यस्य सर्वत्र समता नयेषु तनयेष्विव।
तस्यानेकान्तवादस्य क्व न्यूनाधिकशेमुषी॥ —अध्यात्मसार ६१

४ अन्योन्य पक्ष प्रति पक्ष भावात् यथा परे मत्सरिणः प्रवादा।
नयानशेषान् विशेष मिच्छन् न पक्षपाती समय स्तथा ते॥ अन्ययोग ३

वाद मे आशिक सत्य के साथ आशिक असत्य भी छिपा है। जब सभी सिद्धान्त एक विशेष दृष्टि से ही सत्य है तब जैन दर्शन सभी दृष्टियो से सत्य कैसे हो सकता है ? जब सभी सत्य सापेक्ष है तो जैन मत निरपेक्ष सत्य कैसे है ? जैन अनिर्वचनीय के सिद्धान्त का खडन करते हैं पर स्यादवाद के चौथे नय में अवक्तव्य अनिर्वचनीय ही है। वास्तव मे अनेक बार जैन स्वय अनेक बार निरपेक्षवाद का समर्थन करते हैं [१] परन्तु स्यादवाद की पुष्टि करते समय उसको भूल जाते है।

(३) स्यादवाद के सात नयो वाद के तीन नय पहले चार की केवल पुनरावृत्तियाँ सी प्रतीत होती है। कुमारिल भट्ट का आक्षेप है कि इस प्रकार सात के स्थान पर सौ नय भी हो सकते है। डा० चन्द्रधर शर्मा के अनुसार स्यादवाद के प्रथम चार नय बौद्ध और वेदान्त के प्रसिद्ध चतुष्कोटि न्याय से लिये गए हैं।[२]

(४) जैन दर्शन सापेक्षवाद और बहुवाद से ऊपर आकर निरपेक्षवाद और अद्वैतवाद को नही मानना चाहता है। वह भिन्न भिन्न सापेक्ष परामर्शो मे अन्तर नही करना चाहता।

(५) पूर्ण को अशो का एकत्रीकरण मात्र मान करके जैनो ने अपने केवल ज्ञान के यथार्थ स्वभाव मे भी अस्पष्टता ला दी है। केवल ज्ञान पारमार्थिक निरपेक्ष और सहज ज्ञान जन्य है । परन्तु फिर भी जैन व्यवहारिक और पारमार्थिक में स्पष्ट अन्तर मानने से इनकार करते हैं। वास्तव मे 'केवल ज्ञान' और 'स्यादवाद' परस्पर विरुद्ध मत हो गए हैं। डा० राधाकृष्णन लिखते हैं "हमारी सम्मति मे जैन तर्क एक अद्वैतवादी आदर्शवाद की ओर ले जाता है और जहाँ तक जैन उससे पीछे हटते हैं वे अपने स्वय के तर्क के प्रति असत्यवादी हैं तार्किक दृष्टि से जैन बहुवाद के सिद्धान्त का समर्थन नही कर सकते।" [३] प्रो० हिरियाना के शब्दो में "जैन दर्शन का अपूर्ण स्वभाव उनके सप्तभगी परामर्श से ही प्रकट होता है जोकि हमें कुछ एकांगी सिद्धान्त ही देकर रह जाता है और उनके विरोध को एक उपयुक्त समन्वय द्वारा दूर करने की चेष्टा नही करता।" [४] यहाँ पर यह ध्यान देने की बात है कि समन्तभद्र, हेमचन्द्र और सिद्धसेन इत्यादि कुछ जैनो ने पारमार्थिक और व्यावहारिक मे अन्तर भी किया है और बहुत कुछ वेदान्त के समीप पहुँचे हैं। वास्तव मे निरपेक्षवाद को माने बिना जैनो का सापेक्षवाद अधूरा है।

---

१ इमां समक्ष प्रतिपक्ष साक्षिणा मुदार घोषाम व घोष्णां ब्रुवे। न वीत रागात् पर मास्ति दैवत न चाप्यने कान्त मृतेनय स्थिति ।।आयोग, २८
२ Indian Philosophy P 62
३ Indian Philosophy P 305 6-8
४ Outlines of Indian Philosophy P 172, 173

जैन प्रमाण विचार
चैतन्य
ज्ञान
प्रमाण
नय
(सुखविकल्प असुखविकल्प)
अपरोक्ष
परोक्ष
अर्थ
शब्द
सप्तभंगी
स्मृति प्रत्यभिज्ञा तर्क अनुमान आगम
शब्द समभिरूढ एवंभूत
नैगम संग्रह व्यवहार ऋजुसूत्र
व्यावहारिक
(लौकिक)
पारमार्थिक
(अलौकिक)
स्वार्थ परार्थ
स्यात् अस्ति
स्यात् नास्ति
स्यात् अस्ति नास्ति
स्यात् अवक्तव्यं
स्यात् अस्ति अवक्तव्यं
स्यात् नास्ति अवक्तव्यं
स्यात् अस्ति नास्ति अवक्तव्यं
मति
श्रुत
केवल
विकल
अवग्रह ईहा अवाय धारणा
अंगबाह्य अंगप्रविष्ट
अवधि मनःपर्याय
पञ्चावयव
दशावयव (भद्रबाहु)
प्रतिज्ञा हेतु दृष्टान्त उपनय निगमन
प्रतिज्ञा प्रतिज्ञा विभक्ति हेतु हेतु विभक्ति विपक्ष विपक्ष प्रतिषेध दृष्टान्त आशंका आशंका प्रतिषेध निगमन

तत्व विचार

जैनो के अनुसार विश्व की प्राकृतिक तथा अप्राकृतिक वस्तुओ का परिणाम सात प्रकार के मूल तत्वो से माना है यथा जीव, अजीव, आश्रव, वन्ध, सम्वर, निर्जरा तथा मोक्ष। इनमे जीव और अजीव को मिलाकर अस्तिकाय भी कहते हैं। अस्तिकाय द्रव्य का एक रूप है। इस प्रकार द्रव्य के दो रूप हैं अस्तिकाय और अनस्तिकाय।

सात प्रकार के मूल तत्व

अस्तिकाय उन द्रव्यो को कहा जाता है जो हैं और काय अथवा शरीर की भाँति आकाश घेरते हैं। अनस्तिकाय का कोई शरीर नही है। अनस्तिकाय मे एकमात्र काल की ही गणना होती है।

अस्तिकाय और अनस्तिकाय द्रव्य

द्रव्य धर्मी है। उसमे जो लक्षण पाए जाते हैं वे धर्म कहलाते हैं। जैनो के अनुसार वस्तुओ मे अनेक धर्म होते हैं। मोटे तौर से इन धर्मों के दो भेद किये गए हैं यथा भावात्मक और अभावात्मक। भावात्मक वे हैं जो कि वस्तु की अपनी स्थिति और रूप इत्यादि को दिखलाते हैं। इन्हें 'स्वपर्याय' भी कहा गया है। अभावात्मक धर्म वे हैं जो कि किसी वस्तु का अन्य वस्तुओ से पार्थक्य सूचित करते हैं। इनको परपर्याय भी कहते हैं। काल के परिवर्तन के साथ इन धर्मों का परिवर्तन होता रहता है। इस प्रकार द्रव्य के धर्मों के दो भेद किये गए हैं यथा स्वरूप अथवा नित्य धर्म और दूसरे आगन्तुक या परिवर्तनशील धर्म। स्वरूप धर्मों के विना द्रव्य का अस्तित्व ही असभव है। अत वे द्रव्य मे सदैव उपस्थित रहते हैं। उदाहरण के लिये चैतन्य आत्मा का स्वरूप धर्म है और इच्छा, सकल्प, सुख, दुख आदि परिवर्तनशील धर्म हैं। स्वरूप धर्मों को गुण और आगन्तुक धर्मों को पर्याय भी कहा गया है। अत सक्षेप में द्रव्य वह है जिसमे गुण और पर्याय हो।[1] ससार द्रव्यो से वना है। अत द्रव्य के दोनो गुणो के कारण वह नित्य भी है और अनित्य भी है। इस प्रकार अद्वैत मत और वौद्ध मत दोनो एकागी हैं। द्रव्य सत् है। उसमे सत्ता के तीनो लक्षण उत्पत्ति, व्यय (क्षय) और ध्रौव्य (नित्यता) विद्यमान हैं।[2]

द्रव्य के गुण और पर्याय

---

१ गुणपर्यायवद् द्रव्यम्। तत्वार्थाधिगम-सूत्र—५।३८।

२ "उत्पत्ति-व्यय ध्रौव्य लक्षण सत्।"

जीव-तत्त्व

जैनों की परिभाषा के अनुसार चेतन द्रव्य को जीव या आत्मा कहते हैं।[1] संसार की दशा में आत्मा 'जीव' कहलाता है। उसमें प्राण और शारीरिक मानसिक तथा इन्द्रिय जन्य शक्ति है। शुद्ध अवस्था में जीव के विशुद्ध ज्ञान और दर्शन अर्थात् निर्विकल्प और सविकल्प ज्ञान रहता है। परन्तु कर्म के प्रभाव से जीव औपशमिक क्षायिक, क्षायोपशमिक औदयिक तथा पारिणामिक इन पाँच 'भाव प्राणों' से युक्त रहता है। द्रव्य रूप में परिणत होकर यही 'भावव्यापन्न प्राण' 'पुद्गल' कहलाता है। पुद्गल युक्त जीव संसारी कहलाता है। जैन दर्शन परिणामवादी है। अतः भाव द्रव्य में और द्रव्य भाव में परिवर्तित होते रहते हैं।

जीव का स्वरूप

जीव स्वयं प्रकाश है और अन्य वस्तुओं को भी प्रकाशित करता है। वह नित्य है। वह संपूर्ण शरीर में व्याप्त रहता है। शुद्ध दृष्टि से जीव में 'ज्ञान' तथा 'दर्शन' है। जीव अमूर्त, कर्ता, स्थूल शरीर के समान आकार वाला, कर्मफलों का भोक्ता सिद्ध तथा ऊर्ध्वगामी है। अनादि 'अविद्या' के कारण उसमें 'कर्म' प्रवेश करता है और वह बन्धन में बंध जाता है। अतः जीव चेतन और 'नित्य परिणामी' है। संकोच और विकास के गुणों के कारण वह जिस शरीर में प्रवेश करता है उसी का रूप धारण कर लेता है। जीव का विस्तार जड़ के विस्तार से भिन्न है। वह शरीर को घेरता नहीं परन्तु उसके प्रत्येक भाग में अनुभव होता है। एक जड़ द्रव्य में दूसरा जड़ द्रव्य प्रविष्ट नहीं हो सकता। परन्तु जड़ में आत्मा और जीव में जीव प्रविष्ट हो सकता है। जीव में रूप नहीं है, अतः उसे आँखों से नहीं देखा जा सकता। उसका अस्तित्व आत्मानुभूति से प्रमाणित होता है। मुक्त अवस्था में उसे सम्यक ज्ञान होता है। जीव में 'प्रदेश' होते हैं जो पर्याय भी कहलाते हैं। अतः जीव अस्तिकाय (प्रदेशों अथवा शरीर से युक्त) कहा जाता है। जीव प्रतिक्षण परिणामी है। उसमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य हर समय रहते हैं। यह 'काल' के प्रभाव से होता है। जीव में स्वाभाविक रूप से 'अनन्त ज्ञान' 'अनन्त दर्शन' तथा 'अनन्त सामर्थ्य' विद्यमान रहता है। आवरणीय कर्मों के प्रभाव से इसकी अभिव्यक्ति नहीं होती। जीव के विशेष गुण हैं चेतना या अनुभूति तथा उपयोग अथवा चेतना का फल। उपयोग के भी दो भेद हैं यथा 'ज्ञानोपयोग' तथा 'दर्शनोपयोग'। प्रथम को सविकल्पक तथा दूसरे को निर्विकल्पक ज्ञान कहते हैं। सविकल्पक ज्ञान आठ प्रकार के

जीव के गुण

---

१ 'चेतना लक्षणो जीवः' षड्दर्शन समुच्चय ४७ पर गुणरत्न की टीका। ४९

है—मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्याय और केवल और तीन विपर्यय यथा कुमति, कुश्रुत तथा विभंगावधि। केवल ज्ञान शुद्ध और क्षायिक है और कर्मों का नाश होने के बाद आविर्भूत होता है।

जीव के पर्याय

जीव के चार 'पर्याय' अथवा 'परिणाम' होते हैं दिव्य, मानुष, नारकीय तथा तिर्यंक। पर्याय भी दो प्रकार का होता है अर्थात् द्रव्य पर्याय और गुण पर्याय। द्रव्य पर्याय भिन्न भिन्न द्रव्यों में एकत्व बुद्धि का कारण है। परिणाम के कारण द्रव्यों के गुणों में जो परिवर्तन हो उसे गुण पर्याय कहते हैं जैसे आम आम रहते हुए भी हरे से पीला हो जाता है। द्रव्य पर्याय के भी दो भेद हैं—समान जातीय द्रव्य पर्याय और असमान जातीय द्रव्य पर्याय। पहला जड़ द्रव्यों के संगठन से उत्पन्न होता है और दूसरा जड़ और चेतन दोनों के संगठन से उत्पन्न होता है। प्रथम का उदाहरण 'स्कन्ध' है और दूसरे का मानुष शरीर। जैन 'सद्भाववादी' है। शरीर का नाश होता है परन्तु दिव्य, मानुष अथवा नारकीय कोई भी रूप धारण करने पर भी जीवत्व रूप, 'भाव' का नाश कभी नही होता। द्रव्य नित्य है परन्तु पर्याय अनित्य है। जैनों के 'अनेकान्तवाद' के सिद्धान्त मे यही बात समझाई गई है।

जीव के भेद

साधारण रूप मे जीव के दो भेद किये जाते हैं यथा बद्ध और मुक्त। बद्ध अथवा ससारी जीवो मे भी पुन दो भेद किये जाते हैं अर्थात् त्रस या जगम और स्थावर। स्थावर जीवों मे एक ही इन्द्रिय 'त्वक् इन्द्रिय' होती है। क्षित, जल, तेज, वायु और वनस्पति जगत ये सभी 'स्थावर' जीव हैं। 'त्रस' वे जीव है जिनमे एक से अधिक इन्द्रियाँ है। इस प्रकार मनुष्य, पक्षी, जानवर, देवता और नारकीय जन ये सभी 'त्रस' जीव हैं। इनमे पाँचो इन्द्रियाँ होती हैं। विभिन्न प्रकार के शरीरो के अनुसार इनके विभिन्न नाम होते हैं। पृथ्वी के स्वरूप के धारण करने वाले जैसे पत्थर इत्यादि को 'पृथिवीकाय' और जल का स्वरूप धारण करने वाले जैसे सेमार इत्यादि को 'अप्काय' कहते हैं। इसी प्रकार 'वायुकाय' तथा 'तेज काय' इत्यादि भी होते हैं।

आत्मा के अस्तित्व के प्रमाण

आत्मा के अस्तित्व के प्रमाण भी दो प्रकार के हैं अर्थात प्रत्यक्ष और परोक्ष। चार्वाक के सशयवाद की कडी आलोचना करते हुए प्रसिद्ध जैन दार्शनिक गुणरत्न ने आत्मा के अस्तित्व का प्रत्यक्ष प्रमाण उपस्थित किया है। आत्मा के गुणो को देखकर आत्मा की प्रत्यक्षानुभूति होती है। गुण को देखना द्रव्य को ही देखना है। 'मैं सुखी हूँ' इसी अनुभव से आत्मा के अस्तित्व का प्रत्यक्ष ज्ञान मुझे हो जाता है। इस प्रकार दुख, स्मृति, सकल्प,

संदेह और ज्ञान आदि धर्मों के अनुभव से ही उनके धर्मी आत्मा का प्रत्यक्ष अनुभव हो जाता है।

परोक्ष रूप से आत्मा के अस्तित्व के निम्नलिखित प्रमाण हैं —

(१) शरीर को इच्छानुसार परिचालित किया जा सकता है। अतः इसका परिचालक आत्मा भी अवश्य होना चाहिये।

(२ आँख कान इत्यादि इन्द्रियाँ ज्ञान के विभिन्न साधन हैं। बिना प्रयोजन कर्त्ता के इनसे ज्ञान नाम नहीं हो सकता। यह प्रयोजन कर्त्ता आत्मा है।

(३) घट पट आदि जड़ द्रव्यों की उत्पत्ति के लिए उपादान कारण के साथ साथ निमित्त कारण की भी आवश्यकता होती है। शरीर की उत्पत्ति का निमित्त कारण आत्मा है।

इस प्रसंग में जैनों ने चार्वाक के आत्मा सम्बन्धी मत का खंडन करने के लिये निम्नलिखित प्रमाण दिये हैं—

चार्वाक के आत्मा सम्बन्धी मत का खंडन

(१) चैतन्य की उत्पत्ति भूतों से होती है, चार्वाक के इस मत का प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं मिलता। अनुमान से भी यह बात नहीं सिद्ध होती क्योंकि शरीर और चैतन्य में व्याप्ति का सम्बन्ध नहीं दिखाई देता।

(२) शरीर और चैतन्य में कार्यकारण सम्बन्ध नहीं है क्योंकि एक की पुष्टि से दूसरे की पुष्टि और एक के ह्रास से दूसरे का ह्रास नहीं होता। जड़तत्त्व उपादान मात्र हैं। निमित्त कारण के बिना वे अपने आप चैतन्य की उत्पत्ति नहीं कर सकते। यह निमित्त कारण आत्मा है।

(३) आत्मा अपने को शरीर से पृथक इसलिये नहीं मानता कि उसका शरीर के साथ घनिष्ट सम्बन्ध है। अतः 'मैं मोटा हूँ' इत्यादि उक्तियों का लाक्षणिक अर्थ ही लेना चाहिये।

(४) जिस वस्तु का निषेध किया जाता है वह अन्यत्र किसी न किसी रूप में अवश्य विद्यमान रहती है।[1] आत्मा रहित शरीर निरर्थक है।

अजीव तत्त्व

अजीव तत्त्व के भेद

जैनों के मत में दूसरा तत्त्व है अजीव। अजीव के पाँच भेद हैं यथा धर्म अधर्म आकाश पुद्गल और काल। इनमें पहले चार में अनेक 'प्रदेश' होते हैं। इसलिये ये अस्तिकाय कहलाते हैं। काल में एक ही प्रदेश होने के कारण वह अस्तिकाय नहीं है।

---

१ "यन्निषिध्यते तत् सामान्येन विद्यते एव"

—षड्दर्शन समुच्चय पृष्ठ ४८-४९.

अजीव तत्व के गुण

सभी अजीव तत्व द्रव्य है। इनका नाश नही होता। पुद्गल के सिवाय अन्य अजीव द्रव्यो मे रूप, रस, स्पर्श और गन्ध नहीं होते। पुद्गल मे ये चारो गुण है। धर्म, अधर्म और आकाश मे से प्रत्येक एक ही एक है। पुदगल और जीव अनेक हैं। इनमे क्रिया भी है जबकि अन्य तीनो में क्रिया नही है पुदगल के गुण, अणु तथा सघातो मे भी पाए जाते हैं। अब इन अजीव तत्वो पर पृथक पृथक विचार करना उपयुक्त होगा।

धर्मास्तिकाय

यह न तो स्वय क्रियाशील है और न किसी अन्य मे क्रिया उत्पन्न करता है परन्तु क्रियाशील पुदगलो और जीवो को उनकी क्रिया मे सहायता करता है। यह लोकाकाश मे व्यापक है। इसमे रूप, रस, गन्ध, शब्द तथा स्पर्श नही है। यह परिणामी होकर भी नित्य है क्योकि उत्पाद तथा व्यय रखने पर भी यह अपने स्वरूप का परित्याग नही करता। धर्म और अधर्म क्रमश गति और स्थिति के कारण हैं।

अधर्मास्तिकाय

यह जीव तथा पुदगल को विश्राम की अवस्था मे सहायता देता है। धर्म के विपरीत होने पर भी इसमे रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श का अभाव है। यह अमूर्त, लोकाकाश मे व्यापक और नित्य है। धर्म और अधर्म एक साथ लोकाकाश में रहते हैं। दोनो नित्य, निराकार तथा गतिहीन हैं।

आकाशास्तिकाय

जीव, अजीव, अधर्म, काल तथा पुदगलो को अपनी अपनी स्थिति के लिये जो स्थान दें, वही आकाश है। इसे लोकाकाश भी कहते हैं। जहाँ इन द्रव्यो के रहने का स्थान न हो वह अलोकाकाश है। लोकाकाश मे असख्य और अलोकाकाश मे अनन्त प्रदेश हैं। आकाश का प्रत्यक्ष नही होता। यह अनुमान का विषय है। विना आकाश के अस्तिकाय द्रव्यो का विस्तार असभव है। अलोकाकाश लोकाकाश के परे है। लोकाकाश जीव तथा अन्य द्रव्यों का निवास स्थान है।

पुदगलास्तिकाय

'जिसका सयोग और विभाग हो सके'[1] अथवा जो सगटन या विघटन द्वारा परिणाम को प्राप्त करे वह पुदगल है। पुदगल का न्यूनतम अश 'अणु' है। इसका विभाग नही हो सकता दो या अधिक अणुओ के मिलने से 'सघात' या 'स्कन्ध' बनता है। इनमे हमारे शरीर तथा अन्य जड द्रव्य भी आ जाते हैं।

---

१ "पूरयान्ति गलन्ति च"—सर्वदर्शन सग्रह, ३

मन वचन तथा प्राण भी इन तत्वों से बने हैं। रूप रस, स्पर्श तथा गन्ध पुद्गल के चार गुण हैं। ये गुण अणुओं तथा संघातों में भी पाए जाते हैं। पुद्गल सीमित और मूर्त द्रव्य है। इसमें मृदु, कठिन गुरु लघु, शीत उष्ण स्निग्ध तथा रूक्ष ये आठ प्रकार के स्पर्श होते हैं। इसमें तिक्त कटु, अम्ल मधुर और कषाय ये पाँच रस होते हैं। सुरभि और असुरभि दो प्रकार की गन्ध होती है। कृष्ण नील लोहित पीत और शुक्ल ये पाँच प्रकार के 'रूप' होते हैं। अणु और स्कन्ध इसके दो आकार हैं। दो अणुओं के संघटन से 'द्विप्रदेश' और 'द्विप्रदेश तथा एक अणु' के संघटनों से 'त्रिप्रदेश' आदि क्रम से स्थूल स्थूलतर तथा स्थूलतम द्रव्य बनते हैं। अमृत चन्द्र सूरि के अनुसार इसी प्रकार सूक्ष्म सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम आकार के भी 'पुद्गल-द्रव्य' होते हैं। शब्द, बन्ध सूक्ष्म स्थूल संस्थान (आकार) भेद अन्धकार, छाया प्रकाश आतप ये सभी पुद्गल के ही परिणाम हैं। पुद्गलों के सम्पर्क से जीव गति-मान होता है। पुद्गल में स्पर्श रूप रस और गन्ध हैं परन्तु अमूर्त द्रव्यों में ये नहीं हैं।

काल

उमास्वामी के अनुसार द्रव्यों की वर्तना परिणाम क्रिया नवीनत्व या प्राचीनत्व काल के कारण ही संभव है।[1] काल पुद्गल तथा अन्य द्रव्यों के परिणामों का कारण है। यह नित्य है अतः पुद्गल में सदैव गति रहती है। काल अगोचर है अतः उसका अस्तित्व अनुमान से ही सिद्ध होता है। काल 'समय' भी कहलाता है और घंटा मिनट दिन रात आदि समय के भिन्न-भिन्न रूप हैं। समय 'परिणाममय' और 'क्षणिक' है तथा 'काल अणु' भी कहलाता है। 'काल-अणु' एक मात्र प्रदेश को व्याप्त करता है, इसलिए इसके 'काय' नहीं है। ये काल अणु समस्त लोकाकाश में भरे रहते हैं। ये परस्पर नहीं मिलते। प्रत्येक 'काल-अणु' दूसरे से पृथक रहता है। ये अदृश्य अमूर्त अक्रिय तथा असंख्य हैं। 'निश्चय काल' नित्य है और द्रव्यों के परिणाम में सहायक होता है। यह समय का आधार है। 'समय' को व्यावहारिक काल भी कहते हैं। इस प्रकार जैन दार्शनिकों ने काल के दो भेद किये हैं— पारमार्थिक काल और व्यावहारिक काल। व्यावहारिक काल का प्रारम्भ और अन्त होता है। पारमार्थिक काल नित्य तथा निराकार है। वर्तना पारमार्थिक काल के कारण होती है। अन्य परिवर्तन व्यावहारिक काल के कारण होते हैं। गुणरत्न के अनुसार कुछ जैन दार्शनिक काल को स्वतंत्र द्रव्य न मानकर अन्य द्रव्यों का ही एक पर्याय मानते हैं। अखंड द्रव्य होने के

---

१ "वर्तना-परिणाम-क्रियाः परत्वापरत्वे च कालस्य"

—तत्त्वार्थाधिगम सूत्र ५ २२।

कारण काल अस्तिकाय नही है। वह अवयवो के विना ही समस्त विश्व मे व्याप्त है।

आस्रव तत्व

'योग' के द्वारा कर्म पुद्‌गलो के जीव के शरीर में प्रवेश करने को आस्रव कहते हैं। योग काम वचन तथा मन की क्रिया है। इस प्रकार आस्रव जीव के बन्धन का एक कारण है, जीव और पुद्‌गल अनन्त काल से लोकाकाश में उपस्थित हैं। इनके साथ जीवो के 'कर्म' भी हैं। अनादि अविद्या के सम्पर्क से क्रोध, लोभ, मान तथा माया ये चार कषाय भी जीव के साथ हैं। जीव के कर्मों का फल भी सस्कार वे रूप मे पुद्‌गलो के साथ विद्यमान रहता है। जड होने के कारण कर्म पुद्‌गल स्वय जीव मे प्रवेश नही कर सकते। इसीलिए काय, वचन तथा मन की क्रिया की आवश्यकता होती है। कर्म पुद्‌गलो को जीव मे प्रवेश करने से पूर्व इन क्रियाओ के द्वारा जीव मे एक प्रकार का 'स्पन्दन' होता है। क्रियाओ के भेद से इन स्पन्दनों को क्रमश 'काययोग' 'वागयोग' और 'मनोयोग' कहते हैं।

आस्रव के भेद

आस्रव के बयालिस भेद हैं जिनमे काय योग, वागयोग, मनोयोग, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, चार कषाय तथा अहिंसा, अस्तेय, असत्य भाषण आदि पाँच व्रतों का पालन न करना, ये सत्रह आस्रव विशेष रूप से महत्वपूर्ण हैं। इनके अतिरिक्त भी पचीस छोटे-छोटे आस्रव भी होते हैं। ये सभी बन्धन के कारण हैं। आस्रव के और भी दो भेद किये गए हैं—भावास्रव और द्रव्यास्रव। कर्म पुद्‌गलो के जीव मे प्रवेश करने से पूव जीव के भावों मे जो परिवर्तन होता है उसे 'भावास्रव' कहते हैं। जीव मे 'कमपुद्‌गलों' का जो प्रवेश होता है उसे द्रव्यास्रव कहते हैं। जैसे तेल लगे शरीर पर धूल चिपक कर जमा हो जाती है उसी तरह कर्म पुदगल भी जीव पर चिपक जाते हैं। इस उदाहरण मे तेल से लिप्त होना 'भावास्रव' और उस पर धूलराशि का चिपक जाना 'द्रव्यास्रव' का उदाहरण है।

बन्ध तत्व

कषायो के कारण जीव के पुद्‌गल से आक्रान्त हो जाने को जैनो ने बन्धन अथवा बन्ध तत्व कहा है।[1] जीव का बन्धन मानसिक प्रवृत्तियो के कारण होता है। दूषित मनोभाव ही बन्धन का मूल कारण है और पुद्‌गल का आस्रव मनोभाव का एक परिणाम है।

---

१ सकषायत्वत् जीव कमणो योग्यान पुद्‌गलान् आवत्ते सम्बन्ध।

—तत्वार्थाधिगम-सूत्र, ८—२।

जीव में पुद्गलों के प्रवेश करने से पहले 'भावास्रव' उत्पन्न होता है। इसके पश्चात् जीव में जो बन्धन होता है उसे 'भावबन्ध भाव बन्ध और द्रव्य बन्ध कहते हैं। कर्म पुद्गलों के प्रवेश करने के बाद जीव' में 'द्रव्यास्रव' उत्पन्न होता है। इससे जीव में जो बन्धन हो जाता है उसे 'द्रव्यबन्ध' कहते हैं। 'आस्रव' जीव का वास्तविक स्वरूप नष्ट कर देता है और जीव बन्धन में फँस जाता है। इन दोनों तत्वों के अतिरिक्त कर्म मिथ्यात्व अविरति और तपस्या के नियमों को पालन न करना इत्यादि सभी जीव के बन्धन के कारण हैं। बन्धन की अवस्था में जीव और पुद्गल एक दूसरे में प्रविष्ट हो जाते हैं। सजीव शरीर के प्रत्येक भाग में जीव और पुद्गल विद्यमान रहते हैं। दूध में जल और गरम लोहे में अग्नि के साथ जाते के समान पुद्गल और जीव परस्पर मिल जाते हैं।

संवरतत्व

'आस्रव' तथा 'बन्ध' को जो रोकता है उसे 'संवर तत्व' कहते हैं। बन्धन से मुक्त होकर परम आनन्द पाना जैनों का परम लक्ष्य है। बन्धन से मुक्त होने के लिये जीव का कार्मिक पुद्गलों से छूटना अत्यन्त आवश्यक है। इसलिये कार्मिक पुद्गलों का जीव में प्रवेश करना और उसके कारणों को रोकना अर्थात् 'संवर' अत्यन्त आवश्यक है। राग द्वेष और मोह से छूटकर, सुख दुःख में समान भावना प्राप्त करके जीव विकारों से मुक्त हो जाता है और उसकी आत्मा में कर्म पुद्गल प्रवेश करके बन्धन नहीं उत्पन्न करते।

संवर के भेद

'संवर' में पहले जीव के राग द्वेष तथा मोह आदि विकारों का निरोध होता है। इसे 'भाव संवर' कहते हैं। इसके पश्चात् कर्म पुद्गलों का प्रवेश रुक जाता है। इसे 'द्रव्य संवर' कहते हैं। कर्म पुद्गलों का प्रवेश एक बार रुकने पर फिर सदैव के लिए रुक जाता है। जब जीव के समस्त कर्म पुद्गलों का क्षय हो जाता है तो उसे मोक्ष प्राप्त हो जाता है। कर्म के प्रवेश को रोकने के लिये जैनों ने निम्नलिखित उपाय बतलाए हैं—

(१) समितियाँ

ये कर्म को रोकने के पाँच बाह्य उपाय हैं। इनके भेद हैं 'ईर्या समिति' (चलने फिरने के नियमों का पालन) 'भाषा समिति' (बोलने के नियमों का पालन) 'एषणा समिति' (भिक्षा माँगने के नियमों का पालन) 'आदान निक्षेपणा समिति' (धार्मिक कार्य के लिए भिक्षा में से कुछ अंश को बचाना) तथा 'प्रतिस्थापना-समिति' (भिक्षा या दान को अस्वीकार करना)।

'योग' के रोकने को 'गुप्ति' कहते हैं। योग के भेद के अनुसार गुप्ति के भी तीन भेद हैं अर्थात् काय गुप्ति (शारीरिक व्यापार का निरोध) 'वाग् गुप्ति' (बोलने के व्यापार का निग्रह) तथा 'मनोगुप्ति' (संकल्प आदि मन के व्यापार का निरोध)। समिति में 'सत्क्रिया' का प्रवर्तन मुख्य है और 'गुप्ति' में 'असत् क्रिया' का निरोध मुख्य है।

(२) गुप्तियाँ

व्रतों के पालन से आत्मा में कर्म-पुद्गलों का प्रवेश रुक जाता है। ये व्रत हैं अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह।

(३) व्रत

(क) अहिंसा—अहिंसा का अर्थ है जीवों की हिंसा न करना। इसमें त्रस जीवों की ही नहीं बल्कि स्थावर जीवों की हिंसा का भी विरोध आ जाता है। साधारण गृहस्थों के लिये यह नियम कठिन है। अतः उनके लिये एकेन्द्रिय जीवों को छोड़कर अन्य की हिंसा वर्जित है। जैनों का यह सिद्धान्त इस तत्व पर आधारित है कि सभी जीव समान हैं। अहिंसा में मन, वचन तथा कर्म की अहिंसा आ जाती है।

(ख) सत्य—का अर्थ है मिथ्या वचन का परित्याग। सत्य का आदर्श है सूनृत अर्थात् सबका हितकारी और प्रिय सत्य।[1] अतः सत्य व्रत को पालन करने के लिये जहाँ एक ओर लोभ, भय और क्रोध से दूर रहने की आवश्यकता है वहाँ दूसरी ओर पर निन्दा, उपहास, वाचालता, ग्राम्यता तथा चपलता से भी बचना अनिवार्य है।

(ग) अस्तेय—अर्थात् बिना दिये हुए पर द्रव्य का ग्रहण करना। अहिंसा के साथ अस्तेय का सम्बन्ध है। जीवन का अस्तित्व धन पर निर्भर है। अतः धन सम्पत्ति का अपहरण प्राणों की हिंसा के ही समान है। अतः चोरी का निषेध है।

(घ) ब्रह्मचर्य - अर्थात् वासनाओं का परित्याग। जैनों के अनुसार इसमें इन्द्रिय सुख ही नहीं बल्कि सभी कामों का परित्याग आ जाता है। मानसिक अथवा बाह्य, सूक्ष्म अथवा स्थूल, लौकिक अथवा पारलौकिक, स्वार्थ अथवा परार्थ सभी कामनाओं का पूर्ण परित्याग ब्रह्मचर्य के लिए आवश्यक है।

(ङ) अपरिग्रह— अर्थात् विषयासक्ति का त्याग। इसके अन्तर्गत सभी प्रकार के शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध आ जाते हैं। मोक्ष प्राप्ति के लिए सांसारिक विषयों से अनासक्ति की आवश्यकता है।

जैनों ने दस धर्म बतलाए हैं जिनके पालन से कर्म आत्मा में प्रवेश नहीं करते। ये दस धर्म हैं क्षमा, मृदुता, सरलता, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, औदासीन्य और ब्रह्मचर्य।

(४) धर्म

---

१ प्रिय पथ्य वचस्तथ्यं सूनृत व्रतमुच्यते।

मोक्ष प्राप्त करने के लिए जैनों के अनुसार श्रावकों को बारह 'अनुप्रेक्षाओं' अर्थात् भावनाओं से युक्त रहना आवश्यक है। ये

(५) अनुप्रेक्षाएँ

बारह अनुप्रेक्षाएँ हैं 'अनित्य' (धर्म को छोड़कर सभी वस्तु को अनित्य मानना) 'अशरण' (सत्य को छोड़कर दूसरा कोई भी शरण नहीं है) 'संसार' (जीवन मरण की भावना) 'एकत्व' (जीव अपने कर्मों का एकमात्र भागी है), अन्यत्व (आत्मा को शरीर से भिन्न मानना) 'अशुचि' (शरीर और शारीरिक वस्तुओं को अपवित्र मानना) 'आस्रव' (कर्म के प्रवेश की भावना) 'संवर' (कर्म के प्रवेश के निरोध की भावना), 'निर्जरा' (जीव में प्रविष्ट कर्म पुद्गलों को बाहर निकालने की भावना) 'लोक' (जीवात्मा शरीर तथा जगत की वस्तुओं की भावना) 'बोधिदुर्लभत्व' (सम्यक् ज्ञान सम्यक् चरित्र को दुर्लभ समझनेकी भावना) *तथा 'धर्मानुप्रेक्षा' (धर्म मार्ग से च्युत न होना तथा उसके अनुष्ठान में स्थिरता* लाने की भावना)। इन धर्मों का सदा अनुचिन्तन करना ही 'अनुप्रेक्षा' है।

उमा स्वामी के अनुसार "मुक्ति मार्ग से च्युत न होने के योग्य और कर्मों के नाश के लिये सहन करने योग्य जो हों वे 'परीषह'

(६) परीषह

कहलाते हैं। 'संवर' में सफलता बड़ी कठोर तपस्या से मिलती है। उसके लिये श्रावकों को कठोर नियमों का पालन करना पड़ता है। ये परीषह बाईस हैं—क्षुधा, तृष्णा शीत उष्ण दंशमशक नग्नत्व (नग्नता को समभावपूर्वक सहन करना) अरति स्त्री चर्या (एकान्त वास करना) निषद्या (आसन से च्युत न होना) शय्या आक्रोश वध याचना अलाभ रोग तृणस्पर्श मल (तपस्या करने के समय में चाहे जितना मल शरीर पर जम जाय उससे न घबराना और न स्नानादि करना) सत्कार पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन

उपरोक्त परीषह के अतिरिक्त निम्नलिखित पाँच प्रकार के चरित्रों का सम्पादन करना भी आवश्यक है—'सामायिक चरित्र' (समभाव

(७) चरित्र

में रहना) दोष स्थापना (गुरु के समीप अपने पहले दोषों को स्वीकार करके *दीक्षा लेना*), 'परिहार विशुद्धि' 'सूक्ष्म सपराय' (लोभ के अंश को छोड़कर क्रोध आदि कषायों का उदय न होना) और 'यथाख्यात' (सभी कषायों का निरोध होना)।

निर्जरा तत्त्व

बन्धन के बीच कर्म पुद्गलों के नाश की प्रक्रिया को 'निर्जरा' कहते हैं। ये वे पुद्गल हैं जो आत्मा में पहले से ही चिपके हुए हैं। उपरोक्त बारह प्रकार के उपायों द्वारा आत्मा में और कर्मपुद्गलों का प्रवेश रोका जा सकता

'योग' के रोकने को 'गुप्ति' कहते हैं। योग के भेद के अनुसार गुप्ति के भी

(२) गुप्तियाँ

तीन भेद हैं अर्थात् काय गुप्ति (शारीरिक व्यापार का निरोध) 'वाग् गुप्ति' (बोलने के व्यापार का निग्रह) तथा 'मनोगुप्ति' (संकल्प आदि मन के व्यापार का निरोध)। समिति में 'सत्क्रिया' का प्रवर्तन मुख्य है और 'गुप्ति' में 'असत् क्रिया' का निरोध मुख्य है।

व्रतों के पालन से आत्मा में कर्म पुद्गलों का प्रवेश रुक जाता है। ये व्रत हैं

(३) व्रत

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह।

(क) अहिंसा—अहिंसा का अर्थ है जीवों की हिंसा न करना। इसमें त्रस जीवों की ही नहीं बल्कि स्थावर जीवों की हिंसा का भी विरोध आ जाता है। साधारण गृहस्थों के लिये यह नियम कठिन है। अत उनके लिये एकेन्द्रिय जीवों को छोड़कर अन्य की हिंसा वर्जित है। जैनों का यह सिद्धान्त इस तत्व पर आधारित है कि सभी जीव समान हैं। अहिंसा में मन, वचन तथा कर्म की अहिंसा आ जाती है।

(ख) सत्य—का अर्थ है मिथ्या वचन का परित्याग। सत्य का आदर्श है सूनृत अर्थात् सबका हितकारी और प्रिय सत्य।[1] अत सत्य व्रत का पालन करने के लिये जहाँ एक ओर लोभ, भय और क्रोध से दूर रहने की आवश्यकता है वहाँ दूसरी ओर पर निन्दा, उपहास, वाचालता, ग्राम्यता तथा चपलता से भी वचना अनिवार्य है।

(ग) अस्तेय—अर्थात् बिना दिये हुए पर द्रव्य का ग्रहण करना। अहिंसा के साथ अस्तेय का सम्बन्ध है। जीवन का अस्तित्व धन पर निर्भर है। अत धन सम्पत्ति का अपहरण प्राणो की हिंसा के ही समान है। अत चोरी का निषेध है।

(घ) ब्रह्मचर्य- अर्थात् वासनाओ का परित्याग। जैनो के अनुसार इसमें इन्द्रिय सुख ही नही बल्कि सभी कामो का परित्याग आ जाता है। मानसिक अथवा बाह्य, सूक्ष्म अथवा स्थूल, लौकिक अथवा पारलौकिक, स्वार्थ अथवा परार्थ सभी कामनाओ का पूर्ण परित्याग ब्रह्मचर्य के लिए आवश्यक है।

(ङ) अपरिग्रह— अर्थात् विषयासक्ति का त्याग। इसके अन्तर्गत सभी प्रकार के शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध आ जाते हैं। मोक्ष प्राप्ति के लिए सांसारिक विषयो से अनासक्ति की आवश्यकता है।

जैनो ने दस धर्म बतलाए हैं जिनके पालन से कर्म आत्मा मे प्रवेश नही करते।

(४) धर्म

ये दस धर्म हैं क्षमा, मृदुता, सरलता, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, औदासीन्य और ब्रह्मचर्य।

---

१ प्रिय पथ्य वचस्तथ्यं सूनृत व्रतमुच्यते।

कर्म का सिद्धान्त

घातीय और अघातीय कर्म

पीछे मोक्ष के वर्णन में कर्म के विभिन्न भेदों का भी जिक्र आया है। अब कर्म के स्वभाव और भेदों का विस्तृत अध्ययन करना भी आवश्यक है। जैनों के अनुसार कर्म पौद्गलिक अर्थात् धूलिकण के समान जड़ पदार्थ है। कर्म के इन पौद्गलिक अणुओं को 'कर्मवर्गणा' भी कहते हैं। ये इच्छा द्वेष और भ्रम से प्रेरित मन शरीर और वाक् की क्रियाओं तथा वासनाओं से उत्पन्न होते हैं। मुख्य रूप से कर्म के दो भेद हैं—घातीय अथवा नाशवान और अघातीय जो कि नाशवान नहीं है। इसमें से दोनों के भी चार चार भेद हैं। घातीय कर्म ज्ञानावरणीय अर्थात् ज्ञान को ढँकने वाले दर्शनावरणीय अर्थात् प्रत्यक्ष में बाधक अन्तराय अर्थात् प्रगति में बाधक, और मोहनीय अर्थात् भ्रम उत्पन्न करने वाले हैं। अघातीय कर्म आयुष नाम तथा गोत्र और वेदना निश्चय करने वाले (वेदनीय) हैं।

घातीय और अघातीय के भेद

ये आठ प्रकार के कर्म निम्नलिखित रूप से बन्धन का कारण बनते हैं—

(१) ज्ञानावरणीय कर्म मति श्रुत अवधि मनःपर्याय और केवल इत्यादि पाँच प्रकार के ज्ञान में बाधक होते हैं।

(२) दर्शनावरणीय कर्म सब प्रकार के प्रत्यक्ष में बाधक है यथा चाक्षुष अर्थात् आँखों द्वारा अचाक्षुष अर्थात् नेत्रों के अतिरिक्त अवधि अर्थात् दूरस्थ वस्तु का प्रत्यक्ष केवल अर्थात् पूर्ण प्रत्यक्ष, निद्रा अर्थात् नींद, निद्रानिद्रा अर्थात् गहरी नींद प्रचला अर्थात् अशान्त नींद प्रचला प्रचला अर्थात् अत्यन्त अशान्त नींद तथा स्त्यानगृद्धि अर्थात् नींद में चलना (Somnumbulism) इत्यादि।

(३) अन्तराय कर्म आत्मा की स्वाभाविक शक्ति को रोक कर उसे संलग्न होते हुए भी शुभ कर्म नहीं करने देते। ये दान लाभ भोग उपभोग और वीर्य (शक्ति) में बाधा उत्पन्न करते हैं।

(४) मोहनीय कर्म विशेषतः दो प्रकार के हैं—दर्शन मोहनीय और चरित्र-मोहनीय। प्रथम सद्विश्वास असद्विश्वास और, सदसद विश्वास को रोकता है। दूसरा कषाय वेदनीय अर्थात् क्रोध दंभ मोह और लोभ तथा अकषाय वेदनीय अर्थात् हास्य राग द्वेष दुःख भय घृणा स्त्री कामुकता पुरुष कामुकता तथा हिजड़े की कामुकता को रोकता है।

(५) आयुष कर्म नारकीय जीवन पशु जीवन मानव जीवन तथा स्वर्गीय जीवन की अवधि निर्धारित करते हैं।

है। परन्तु मुक्ति के लिए पिछले कर्म पुद्गलों का नाश भी आवश्यक है। इसी कारण 'निर्जरा' की आवश्यकता है। इस अवस्था तक पहुँचने के लिए रागद्वेष आदि दुर्गुणों का त्याग करके निदिध्यासन की बड़ी आवश्यकता है। इससे चित्त निर्मल होता है और जीव अपने शरीर ही में स्थित 'आत्मा' का 'दर्शन कर सकता है। इससे मानव के दुःख दूर होते हैं और दर्शन, जीवन तथा धर्म के अन्तिम लक्ष्य 'आत्मसाक्षात्कार' का अनुभव होता है।

निर्जरा के भेद

निर्जरा के दो भेद हैं—'भावनिर्जरा' और 'द्रव्य निर्जरा'। मायावस्था में भावना उत्पन्न होती है तब उसे 'भावनिर्जरा' कहते हैं। इसके बाद आत्मा में प्रविष्ट उन पुद्गलों के वास्तविक नाश को 'द्रव्यनिर्जरा' कहते हैं। भाव निर्जरा के भी दो भेद हैं। भोग के बाद कर्म पुदगलों के स्वयं नाश हो जाने को सविपाक' या 'अकाम' भावनिर्जरा कहते हैं। किन्तु यदि भोग की समाप्ति के पूर्व ही उन कर्मों का नाश हो जाय तो वह अविपाक या 'सकाम' 'भावनिर्जरा' कहलाता है। अविपाक भाव निर्जरा के लिए छः बाह्य और छः अन्तरंग तपस्याएँ करनी होती हैं। अनशन, अवमोदाय (भोजन में नियन्त्रण करना), वृत्तिसंक्षेप (अल्पाहार) रस त्याग, विविक्त शय्यासन तथा कायक्लेश ये छः बाह्य तपस्याएँ हैं। प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य (साधुसेवा), स्वाध्याय, व्युत्सर्ग (विषय विराग) तथा ध्यान ये छः अन्तरंग तपस्याएँ हैं।

मोक्ष तत्व

जैनो के अनुसार जीव का पुदगल से वियोग ही 'मोक्ष' है। मोक्ष भी दो प्रकार का है—भाव मोक्ष और द्रव्य मोक्ष। तपस्या के द्वारा तथा नियमों के पालन से रागद्वेष आदि का नाश होकर और फिर 'संवर' तथा 'निर्जरा' द्वारा आस्रव का नाश होता है। इस प्रकार कर्म पुदगलो से मुक्त होकर जीव के सर्वज्ञ और सर्व दृष्टा होकर मुक्ति अनुभव करने को 'भावमोक्ष' या 'जीव मुक्ति' कहते हैं। यह वास्तविक मोक्ष के पहले की अवस्था है। इसमे चार घातीय कर्मों अर्थात् 'ज्ञानावरणीय', 'दर्शनावरणीय', 'मोहनीय' और 'अन्तराय' का नाश हो जाता है। इसके पश्चात् क्रमश चार 'अघातीय कर्मों अर्थात् 'आयु', 'नाम', 'गोत्र' तथा 'वेदनीय' का भी नाश होने पर द्रव्य मोक्ष प्राप्त होता है। तभी वह औपशमिक, क्षायोपशमिक, औदायिक तथा भव्यत्व भावो से भी मुक्त हो जाता है। फिर वह ऊर्ध्व गति होकर ऊपर लोक की सीमा पर्यन्त पहुँच जाता है। आलोकाकाश में धर्मास्तिकाय नहीं रहता। अत जीव न तो लोक के परे जा सकता है और न संसार में लौट कर आ सकता है। वह अनन्तकाल तक "सिद्धशिला" में रहता है। वह परमात्मा के साथ एक नहीं होता।

पश्चात् ही होती है। सम्यग् दर्शन के बिना सम्यग् ज्ञान नहीं हो सकता। प्रख्यात जैन दार्शनिक मणिभद्र का कहना है कि जैन मत युक्तिहीन नहीं बल्कि युक्तिप्रधान है।[1] मनन से श्रद्धा बढ़ती है और पूर्णज्ञान प्राप्त होने पर ही पूर्ण श्रद्धा हो सकती है।

(२) सम्यग् ज्ञान—सम्यग् दर्शन में जैन उपदेशों के सारांशमात्र का ज्ञान रहता है। सम्यग् ज्ञान में जीव और अजीव के मूलतत्वों का सविशेष ज्ञान होता है। यह असंदिग्ध और दोषरहित है। इसके लिये भी कर्मों का नाश आवश्यक है। कर्मों के पूर्ण विनाश के पश्चात ही केवल ज्ञान प्राप्त होता है।

(३) सम्यक् चरित्र—में अहित कार्यों का वर्जन और हितकर कार्यों का आचरण सम्मिलित है। इससे जीव कर्मों से मुक्त हो जाता है। इसके लिये निम्नलिखित क्रियायें अत्यावश्यक हैं—

(१) पंच महाव्रत का पालन। इसका विस्तृत वर्णन पीछे किया जा चुका है।

(२) चलने बोलने भिक्षादि ग्रहण करने पुरीष और मूत्र त्याग करने में सतर्कता।

(३) मन वचन तथा कर्म में गुप्ति का अभ्यास। इसका वर्णन भी पीछे किया जा चुका है।

(४) दस धर्मों का आचरण क्षमा तथा मार्दव (कोमलता) आर्जव (सरलता) सत्य शौच संयम तप (मानस और बाह्य) त्याग अकिंचनता (किसी पदार्थ से ममता न रखना) और ब्रह्मचर्य।

(५) जीव और संसार के यथार्थ तत्व के सम्बन्ध में भावना।

(६) भूख प्यास तथा गर्मी सर्दी के कष्टों का सहन।

(७) समता निर्मलता निर्लोभिता और चारित्र।

ईश्वर के विषय में जैनो का मत

जैनों का अनीश्वरवाद निम्नलिखित युक्तियों पर आधारित है: (१) प्रत्यक्ष के द्वारा ईश्वर का ज्ञान नहीं होता। जैनों ने ईश्वर

जैन अनीश्वरवादी हैं

के विषय में न्याय की उक्तियों का खंडन किया है। यदि संसार नित्य है तो उसके निर्माता का प्रश्न नहीं उठता। संसार कार्य है इसका कोई प्रमाण नहीं है। फिर यदि संसार कार्य

---

१ न मे जिने पक्षपातो न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद् वचनं यस्य तद् ग्राह्यं वचनं मम॥ —मणिभद्र
षड्दर्शन—समुच्चय ४४ पर टीका

(६) नाम कर्म आत्मा का नारकीय, पाशविक, मानव और दैवी जीवन मे आवागमन, जाति, इन्द्रियो की सख्या, भिन्न भिन्न प्रकार के शरीर, ढाँचा, नाड़ी सस्थान और शारीरिक अवयव इत्यादि का निश्चय करते हैं वे व्यक्ति की शारीरिक विशेपताएँ, गुणो, शक्तियो, चरित्र और व्यक्तित्व का निश्चय करते हैं।

(७) गोत्र कर्म उच्च अथवा निम्न परिवार मे जन्म का निश्चय करते हैं।

(८) वेदनीय कर्म सुख अथवा दुख की वेदनाएँ उत्पन्न करते हैं। वे आत्मा की स्वभाविक आनन्द की प्रकृति में वाधक हैं।

विभिन्न प्रकार के कर्मों के ससर्ग से आत्मा की भिन्न भिन्न अवस्थाएँ मानी गई हैं —

कर्म के भेद से आत्मा की विभिन्न अवस्थाएँ

(१) पारिणामिक—जबकि उसकी शुद्ध विचार क्रियाऐ है कर्म से स्वतन्त्र हो। (२) औदायिक—जबकि कर्मों का उदय और फल हो। (३) औपशमिक—जबकि नाशवान कर्मों का फल रोक दिया गया हो। (४) क्षयिक—जब कि नाशवान कर्मों का उन्मूलन हो गया हो। (५) क्षयोपशामिक—जब कि कुछ कर्मो का नाश हो गया हो, कुछ के फलो को रोक दिया गया हो और कुछ क्रिया शील हो।

मोक्ष के साधन

जैनो के अनुसार कर्म ही बन्धन का कारण है। अत मोक्ष के लिये कर्मों से छूटना अत्यन्त आवश्यक है। 'सवर' के द्वारा नये कर्म पुदगलो का आश्रव बन्द होता है। 'निर्जरा' के द्वारा पहले से उपस्थित कर्मों का नाश होता है। परन्तु मोक्ष का परम माग 'त्रिरत्न' अर्थात् सम्यग दर्शन, सम्यगज्ञान, और सम्यग चरित्र है।[1] इन तीनों के सम्मिलित होने पर ही मोक्ष मिलता हैं।

त्रिरत्न

(१) सम्यग् दर्शन—उमास्वामी के अनुसार सम्यग दर्शन का अर्थ यथार्थ ज्ञान के प्रति श्रद्धा है। कुछ लोगो मे यह स्वाभाविक होता है और कुछ इसे विद्योपार्जन और अभ्यास द्वारा सीखते हैं। परन्तु श्रद्धा का उदय अश्रद्धाजनक कर्म के 'सवर' अथवा 'निजर' से होता है। परन्तु श्रद्धा का अर्थ अधविश्वास नही है। वह पूणतया युक्तिसगत है। श्रद्धा किसी विपय के सम्वन्व मे ज्ञान के

सम्यग् दर्शन का अर्थ

१ सम्यगृदर्शन—ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्ग —उमास्वामी तत्वार्थाधिगम

पश्चात् ही होती है। सम्यग् दर्शन के बिना सम्यग् ज्ञान नहीं हो सकता। इसलिए जैन दार्शनिक मणिभद्र का कहना है कि जैन मत युक्तिहीन नहीं बल्कि युक्तिप्रधान है।[1] मनन से श्रद्धा बढ़ती है और पूर्णज्ञान प्राप्त होने पर ही पूर्ण श्रद्धा हो सकती है।

(२) सम्यग् ज्ञान—सम्यग् दर्शन में जैन उपदेशों के सारांशमात्र का ज्ञान रहता है। सम्यग् ज्ञान में जीव और अजीव के मूलतत्वों का सविशेष ज्ञान होता है। यह असंदिग्ध और दोषरहित है। इसके लिये भी कर्मों का नाश आवश्यक है। कर्मों के पूर्ण विनाश के पश्चात ही केवल ज्ञान प्राप्त होता है।

(३) सम्यग् चरित्र—में अहित कार्यों का वर्जन और हितकर कार्यों का आचरण सम्मिलित है। इससे जीव कर्मों से मुक्त हो जाता है। इसके लिये निम्नलिखित क्रियायें अत्यावश्यक हैं—

(१) पंच महाव्रत का पालन। इसका विस्तृत वर्णन पीछे किया जा चुका है।

(२) चलने बोलने भिक्षादि ग्रहण करने पुरीष और मूत्र त्याग करने में सतर्कता।

(३) मन वचन तथा कर्म में गुप्ति का अभ्यास। इसका वर्णन भी पीछे किया जा चुका है।

(४) दस धर्मों का आचरण यथा क्षमा मार्दव (कोमलता) आर्जव (सरलता) सत्य शौच संयम तप (मानस और बाह्य) त्याग आकिंचनता (किसी पदार्थ से ममता न रखना) और ब्रह्मचर्य।

(५) जीव और संसार के यथार्थ तत्व के सम्बन्ध में भावना।

(६) भूख प्यास तथा गर्मी सर्दी के कष्टों का सहन।

(७) समता निर्मलता निर्लोभता और चारित्र।

ईश्वर के विषय में जैनों का मत

जैनों का अनीश्वरवाद निम्नलिखित युक्तियों पर आधारित है: (१) प्रत्यक्ष

जैन अनीश्वरवादी हैं

के द्वारा ईश्वर का ज्ञान नहीं होता। जैनों ने ईश्वर के विषय में न्याय की युक्तियों का खंडन किया है। यदि संसार नित्य है तो उसके निर्माता का प्रश्न नहीं उठता। संसार कार्य है इसका कोई प्रमाण नहीं है। फिर यदि संसार कार्य

---

[1] न मे जिन पक्षपातः न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः॥
षड्दर्शन

भी हो तो निरवयवी ईश्वर किस प्रकार उपादानों से उसका निर्माण कर सकता है।

(२) ईश्वर के गुण भी कल्पित जान पड़ते हैं। यदि वह सर्व शक्तिमान है तो घर वतन आदि को क्यों नहीं बनाता। जब कई शिल्पी मिलकर भी एक वस्तु को बना सकते हैं तो ईश्वर को एक मानने में क्या युक्ति है। जब मुक्ति की प्राप्ति बन्धनों के नाश पर ही हो सकती है तो ईश्वर को नित्य मुक्त कैसे माना जा सकता है अतः ईश्वर को सर्वशक्तिमान, एक नित्य मुक्त और पूर्ण आदि मानने मे कोई युक्ति नहीं है।

परन्तु नास्तिक होने का अर्थ यह नहीं है कि जैनों मे धर्मोत्साह अथवा धार्मिक क्रिया कर्म की कमी हो। वास्तव मे वे ईश्वर के

तीर्थकरों की उपासना स्थान पर तीर्थ करों की उपासना करते हैं। तीर्थ-कारों में ईश्वर के सभी गुण पाए जाते ह। उनकी पूजा से मार्ग दर्शन और अन्त प्रेरणा मिलती है। उनके सदगुणों का स्मरण करने वाला भी उनके समान सिद्ध और मुक्त हो सकता है। उपासना का प्रयोजन तीर्थ करो की करुणा की प्राप्ति नहीं बल्कि उनका अनुसरण करना है। जैनो के अनुसार कल्याण की प्राप्ति तो अपने ही कर्मों से हो सकती है। जैन धर्म स्वावलम्बी है। मुक्त आत्मा को 'जिन' अथवा 'वीर' कहा जाता है। जैन धर्म मे पच परमेष्टि को माना जाता है। ये पच परमेष्टि हैं अर्हत्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु। पच परमेष्टि की पूजा धर्म परायण जैनों के दैनिक कार्य क्रम एक प्रधान अग हैं।

जैन तत्व विचार की आलोचना

जैनो के तत्व विचार को विभिन्न पक्षों की निम्नलिखित आलोचनाएँ की गई हैं —

(१) जैन तत्व विचार मे जीव और पुद्गल का सम्बन्ध समीचीन नहीं है। सांख्य के विरुद्ध वे प्रकृति और जीवों को नितान्त पृथक नहीं मानते। परन्तु फिर वे वेदान्त के विरुद्ध उनमें समुचित सम्बन्ध भी स्थापित नहीं कर कर पाते। कर्म कषाय के कारण हैं और कषाय अविद्या के कारण। परन्तु शुद्ध चैतन्य आत्मा में अविद्या कैसे हो सकती है और फिर आत्मा का पुद्गल से कर्मों द्वारा सम्बन्ध कैसे समझाया जाएगा। यदि कर्म और अविद्या जीव से भिन्न है तो फिर बन्धन कैसे है। यदि वे जीव से अभिन्न हैं तो मोक्ष की कल्पना नहीं की जा सकती। जैनो का कहना है कि हम अनुभव मे आत्मा और पुद्गल को सदैव साथ पाते हैं। परन्तु यदि यह सम्बन्ध अनादि है तो मोक्ष की आशा करना दुराशा मात्र है। वास्तव मे जैसा कि पीछे स्याद्वाद

की आलोचना में बतलाया जा चुका है, निरपेक्ष सत्ता को आधार माने बिना जैन सापेक्षवाद टिक नहीं सकता।

(२) जैनों का आत्मा विषयक मत परिमार्जित नहीं है। वे आत्मा और प्राण में अन्तर ही नहीं करते। उनके अनुसार वनस्पति में भी आत्मा है। आत्मा पूरे शरीर में व्याप्त (अस्तिकाय) है। कर्म और आत्मा में संश्लेष सम्बन्ध है। आत्मा कर्म संयुक्त है। परन्तु फिर भी आत्मा और शरीर में क्रिया प्रतिक्रिया नहीं हो सकती। आत्मा और शरीर का सम्बन्ध स्पष्ट नहीं है। सांसारिक जीव का आत्मा पुद्गल से युक्त है। परन्तु फिर अनुभव में आत्मा और पुद्गल का सम्बन्ध सर्वत्र कैसे मिलता है?

(३) नास्तिक होकर भी जैनों ने तीर्थंकर को ईश्वर के स्थान पर बैठा दिया है। वास्तव में जैन धर्म का आत्मनिर्भरता का सिद्धान्त संसार के धार्मिक इतिहास में अद्वितीय है। ईश्वर के विरुद्ध जैनों के तर्कों का बाद के नैयायिकों ने खंडन किया है। कितना भी महान होने पर भी तीर्थंकरों को ईश्वर नहीं माना जा सकता क्योंकि उनमें भी आपस में अन्तर अवश्य होगा।

(४) जैनों का अहिंसा का सिद्धान्त नैतिक दृष्टि से अत्यन्त श्रेष्ठ है परन्तु इसको उन्होंने अति की सीमा तक पहुँचा दिया है। नाक पर कपड़ा बाँधना झाड़ू लगा कर बैठना आदि अव्यवहार्य के साथ साथ अनावश्यक भी मालूम पड़ते हैं। जैनों के नैतिक नियम अत्यन्त कठोर और अव्यावहारिक हो गए हैं। उनमें अत्यधिक औपचारिकता है। नैतिक गुणों के सामाजिक पक्ष पर भी समुचित जोर नहीं दिया गया है।

(५) जैनों का अनेकान्तवाद का सिद्धान्त एकान्तवाद के बिना अधूरा है। व्यावहारिक दृष्टि से यह मानने में अधिक कठिनाई है कि प्रत्येक वस्तु के अनन्त धर्म होते हैं परन्तु इन धर्मों की अपनी पृथक कोई सत्ता नहीं है। वे वस्तु में एक हैं। इसी प्रकार जगत की अनन्त वस्तुएँ जगत की आधार परम सत्ता में परस्पर सम्बन्धित और एक हैं। जैन एकता और अनेकता के बीच की कड़ी हैं परन्तु वे दोनों में सम्बन्ध स्थापित नहीं कर पाए हैं। जब वस्तुएँ परस्पर सम्बन्धित हैं तो फिर वे अनेक कैसे हैं? वास्तव में वे एक पूर्ण के अनेक अंश हैं। यह पूर्ण आध्यात्मिक और प्रमाजन मय होगा। परन्तु जैन इस प्रकार के पूर्ण को मानने से इनकार करते हैं।

(६) इसी प्रकार जैनों का बहुवाद (Pluralism) एक अधूरा सिद्धान्त है। व्यावहारिक अनुभव से सिद्ध होने पर भी यह आध्यात्मिक अनुभव पर खरा नहीं उतरता। दर्शन में 'भेद में अभेद' एक परम सत्य है। जैन 'भेद' पर जोर देते हैं और 'अभेद' या 'एकत्व' को भूल जाते हैं। उनका कहना है

कि "यदि सभी जीवो मे एक ही आत्मा होती तब उन्हे एक दूसरे का ज्ञान न होता और न भिन्न-भिन्न भाग्यो का अनुभव होता, न ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र होते और न कीडे पक्षी, अथवा सर्प होते, सभी मानव और देवता होते। हम इस ससार मे निन्दनीय जीवन व्यतीत करने वालो और सम्यग् चरित्र का पालन करने वालो मे भेद नही करते।"[१]

जीव तत्व

जैनो के मत मे दूसरा तत्व है अजीव। अजीव के पाँच भेद हैं यथा धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और काल। परन्तु इस तर्क से केवल आत्माओ की व्यावहारिक अथवा मनोवैज्ञानिक अनेकता ही सिद्ध होती है जिससे कोई भी इनकार नही कर सकता। यदि व्यावहारिक और मनोवैज्ञानिक उपाधियाँ आत्मा का स्वभाव ही हो तो यह भेद ही परम सत्य होगा। परन्तु स्वय जीवों के अनुसार ये उपाधियाँ आत्मा का स्वभाव नहीं है और मुक्त आत्मा मे ये दोष नही होते। तब फिर उनको अभेद का अनुभव क्यों नही होगा ? वास्तव में अध्यात्म शास्त्र मे जीवों ने व्यावहारिक पक्ष पर अत्याधिक जोर देकर आध्यात्मिक पक्ष को भुला दिया है। बहुत्व व्यावहारिक सत्य अवश्य है परन्तु परम सत्य नही है। आत्मा मे वैयक्तिक और सावभौम दोनो ही पक्ष हैं। एक आत्मा ही व्यावहारिक स्तर पर अनेक भासित होता है। जैनो के ज्ञान विचार में केवल ज्ञान मे हम लौकिक ज्ञान से ऊपर उठकर अलौकिक मे पहुचते हैं। इस स्तर मे पूर्ण, सार्वभौम और निरपेक्ष सत्ता का अनुभव अनिवार्य है।

अजीव तत्व के भद

---

१ सूत्रकृताग, ii, 7 48 और 51;

जैनों का कर्म का सिद्धान्त

- घातीय (४)
  - ज्ञानावरणीय
  - दर्शनावरणीय
  - अन्तराय
  - मोहनीय
- अघातीय (४)
  - आयुष
  - कर्म
  - गोत्र
  - वेदनीय

आत्मा के विकास की अवस्थाएँ (१४)

सिद्ध
|
अयोगकेवलिन
|
सयोग केवलिन
|
क्षीण मोह
|
उपशान्त मोह
|
सूक्ष्म संपराय
|
अनिवृत्तकरण
|
अपूर्वकरण
|
अप्रमत्तविरत
|
प्रमत्तविरत
|
देशविरत
|
अविरत सम्यक्त्व
|
मिश्र
|
सासादन
|
मिथ्यात्व

आत्मा की कर्म से छूटने की अवस्थाएँ (६)

पारिणामिक
|
क्षायोपशमिक
|
मिश्र
|
क्षायिक
|
औपशमिक
|
औदयिक
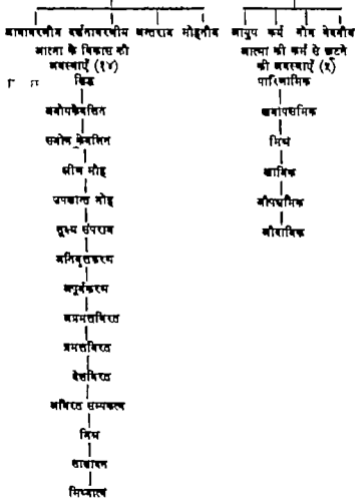
सप्तम अध्याय

बौद्ध दर्शन

प्रत्येक दार्शनिक मत मे समकालीन प्रवृत्तियाँ प्रतिबिम्बित होती है। किसी भी दर्शन को भली प्रकार समझने के लिये तत्कालीन परिस्थितियो और विचारधाराओं की क्रिया प्रतिक्रियाओ का समझना अत्यन्त आवश्यक है। कुछ त्रिपिटक ग्रन्थो से ज्ञात होता है कि बुद्ध के समय मे और उससे पूर्व आत्मा, जगत, परलोक, पाप, पुण्य और मोक्ष आदि के सम्बन्ध में घोर वाद-विवाद होते थे। राजनैतिक दृष्टि से देश भिन्न भिन्न छोटे-छोटे राज्यो मे बँटा हुआ था जिनकी प्रजा भिन्न-भिन्न भाषाएँ बोलती थी। दार्शनिक मतों का अभी व्यवस्थित रूप में उदय नहीं हुआ था। वेदो को पवित्र माना जाता था। आध्यात्मिक क्षेत्र में अधिकाश समय व्यर्थ वादविवाद मे व्यतीत होता था। नैतिक क्षेत्र मे भी व्यवहार की अपेक्षा तर्क वितर्क पर ही अधिक ज़ोर था। दर्शन की सभी समस्याओ पर अनेको परस्पर विरोधी मत-मतान्तर मौजूद थे। दर्शन सत्य की खोज न रहकर मानसिक व्यायाम, वागृजाल और वितडा बन गया था। धार्मिक क्षेत्र में भी धर्म की वास्तविक आत्मा को छोडकर चमत्कार की ओर अधिक नजर थी। नीति धर्म पर आधारित थी धर्म ईश्वर पर। अत नीति या धर्म मे मानव-प्रयत्न और उत्तरदायित्व की भावना लुप्त सी हो गई थी। सब ओर अन्धविश्वास, व्यर्थ वादविवाद और अनुत्तरदायित्व का बोलबाला था।

बुद्ध के काल की विशेषताएँ

गौतम बुद्ध ने अपने समय की कुरीतियो का दृढ़ता पूर्वक विरोध किया और एक बौद्धिक धर्म, व्यावहारिक नीतिशास्त्र तथा सीधे साधे जीवन सिद्धान्त उपस्थित किये। उनके दर्शन की मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित है—

बुद्ध के उपदेश की विशेषतायें

(१) विवादो के प्रति उदासीनता—यद्यपि बुद्ध ने अपने सिद्धान्तो को सदैव बुद्धिपूर्वक समझाने की चेष्टा की परन्तु वे वाद-विवाद से कोसो दूर रहते थे। इस अर्थ मे वे बुद्धिवादी नही थे। परन्तु अन्ध-विश्वासो की ओर उनका आधुनिक वैज्ञानिक का सा दृष्टिकोण था। उन्होने

श्रद्धा का विधाता निकलता देखकर अनुभव और प्रयत्न पर बल दिया। बौद्ध धर्म और नीति स्वावलम्बन पर आधारित है बुद्ध के उपदेश वादविवाद पर नहीं बल्कि जीवन के गहरे विश्लेषण और व्यापक अनुभव पर टिके हुए हैं। गौतम का लक्ष्य अमूर्त दार्शनिक तत्वों का विचार नहीं बल्कि दुःखों से निर्वाण था। आत्मा शरीर से भिन्न है अथवा नहीं आत्मा अमर है या नहीं संसार सान्त है अथवा अनन्तनित्य है अथवा अनित्य इत्यादि दार्शनिक प्रश्नों को सुन कर वे मौन ही रहते थे। यह मौन अज्ञान का नहीं बल्कि बुद्धिमत्ता का परिचायक था। कितने भी वादविवाद के पश्चात पूर्व अथवा पश्चिम कहीं भी दार्शनिकगण इन प्रश्नों का अन्तिम समाधान नहीं कर पाए हैं। इन दार्शनिक विषयों पर तर्क वितर्क करने से निर्वाण में कुछ भी सहायता नहीं मिलती। बुद्ध ने पूर्व प्रचलित दार्शनिक सिद्धान्तों का खोखलापन दिखलाया और दुःख निरोध की समस्या पर जोर दिया। दुःखों में फँसे व्यक्ति का आत्मा और जगत के मूल तत्वों की खोज में लगे रहना भारी मूर्खता है।

पोट्ठपाद सुत्त के अनुसार बुद्ध ने दस प्रश्नों का समाधान व्यर्थ समझा है और इसलिये उनके समाधान का प्रयत्न भी नहीं किया।

अव्याकतानि — बौद्ध धर्म के पालि साहित्य में इन प्रश्नों को "अव्याकतानि" कहते हैं। कभी कभी इनकी संख्या दस से अधिक भी मिलती है। ये प्रश्न निम्नलिखित हैं—(१) क्या यह लोक शाश्वत है? (२) क्या यह अशाश्वत है? (३) क्या यह सान्त है? (४) क्या यह अनन्त है? (५) क्या आत्मा तथा शरीर एक है? (६) क्या आत्मा शरीर से भिन्न है? (७) क्या मृत्यु के बाद तथागत का पुनर्जन्म होता है? (८) क्या मृत्यु के बाद उनका पुनर्जन्म नहीं होता? (९) क्या पुनर्जन्म होता भी है और नहीं भी होता है? (१०) क्या पुनर्जन्म होना और न होना दोनों ही बातें असत्य हैं? व्यावहारिक दृष्टि से इन प्रश्नों का उत्तर निरर्थक है और दार्शनिक दृष्टि से इनका अबाधित ज्ञान नहीं मिल सकता। अतः बुद्ध ने इनका कभी विवेचन नहीं किया।

(२) निराशावाद—बुद्ध ने संसार को दुःखमय माना है। मानव का कर्तव्य इस दुःखमय संसार से निर्वाण प्राप्त करना है। संसार में सुख की आशा करना मूर्खता है। इस अर्थ में बुद्ध के उपदेश निराशावादी कहे जा सकते हैं। परन्तु फिर भारतीय दार्शनिक परम्परा के अनुसार महात्मा बुद्ध ने भी इन दुःखों के निदानों की खोज करके दुःख निर्वाण का मार्ग प्रशस्त किया है।

(३) यथार्थवाद—बुद्ध ने वैदिक परम्परागत शास्त्रों पर अन्ध विश्वास की कटु आलोचना की। कर्म के सिद्धान्त में विश्वास करने के कारण उन्होंने ईश्वर को मानने से इनकार कर दिया। उन्होंने अपनी शिक्षाओं को

जीवन के यथार्थ अनुभवों पर आधारित किया। उन्होंने प्रयत्न अथवा बुद्धि की सीमाओ से परे किसी बात को नही माना।

(४) व्यवहारवाद—बुद्ध की शिक्षाएँ व्यावहारिक है। व्यावहारिक महत्त्व के कारण ही उन्होंने चार आर्य सत्यो पर विचार किया और कहा—"इसी प्रकार के विवेचन से लाभ हो सकता है इसी का धर्म के मूल सिद्धान्तो से सम्बन्ध है। इसी से अनासक्ति, तृष्णाओ का नाश, दु खो का अन्त, मानसिक शान्ति, ज्ञान, प्रज्ञा तथा निर्वाण सम्भव हो सकते है।[१] बुद्ध सशयवादी नही थे अन्यथा वे अपने को 'बुद्ध' न कहते। वास्तव मे उनका दृष्टिकोण निम्नलिखित दृष्टान्त से स्पष्ट होता है। एक बार जब वे शिशुप वृक्ष के तले बैठे हुए थे तब बुद्ध ने अपने हाथ मे कुछ पत्तियाँ लेकर उपस्थित शिष्यों से पूछा कि वे शिशुप वृक्ष की सभी पत्तियाँ हैं अथवा वृक्ष पर और भी पत्तियाँ हैं तो बुद्ध ने कहा "इसी प्रकार निश्चय ही मैं जो कुछ मैंने तुम्हे बतलाया है उससे अधिक जानता हूँ।" आगे बुद्ध ने कहा कि वे बातें उन्होंने इसलिये नहीं बतलाई हैं क्योंकि वे शान्ति, ज्ञान अथवा निर्वाण प्राप्त करने के लिये अनावश्यक हैं।

चार आर्य सत्य

रोग, जरा और मृत्यु को देखकर सिद्धार्थ गौतम पर बडा प्रभाव पडा और वे राजसी ठाठ-बाठ छोडकर सत्य की खोज में चल दिये। उन्होंने दुख के कारणों और निदानों का पता लगाया। वे 'बुद्ध' कहलाये। उनकी शिक्षाएँ चार आर्य सत्यों मे निहित हैं। ये चार आर्य सत्य निम्नलिखित हैं—

सर्वं दु खम्—जीवन को देखकर और उस पर मनन करके बुद्ध इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि मानव तथा मानवेतर जीवन ही दु ख है। "जन्म के साथ कष्ट होता है, नाश भी कष्टमय है, रोग कष्टमय है, मृत्यु कष्टमय है। अरुचिकर से संयोग कष्टमय है, सुखकर से वियोग कष्टमय है, जो भी वासना असतुष्ट रह जाती है वह भी कष्टमय है। सक्षेप में, राग से उत्पन्न पचस्कन्ध ही कष्टमय है।"[१] "समस्त ससार में आग लगी है, तब आनन्द मनाने का अवसर कहाँ है।"[२] "सुख मनाने से दु ख उत्पन्न होता है। भय सुख मनाने से उत्पन्न होता है।"[३] इन्द्रिय सुख के विषयों के खो जाने से भी दु ख उत्पन्न होता है।[४] महासागरों मे जितना जल है उससे अधिक आँसू मानवों ने बहाये

१. मज्झिम निकाय

१ Foundation of the Kingdom of Righteousness 5

२ धम्मपद १४६

३ धम्मपद २१३

४ विशुद्धिमग्ग, XVII

होंगे।[5] मनुष्य पृथ्वी पर कहीं भी ऐसा स्थान नहीं पा सकता जहाँ कि मृत्यु उस पर हावी न हो।[6] दुःख के तीर से घायल मनुष्य को उसे निकाल फेंकना चाहिये।[7] जीवन दुःखों से परिपूर्ण है। सभी उत्पन्न वस्तुएँ दुःख और कष्ट हैं।[8] जन्म जरा रोग मृत्यु शोक क्लेश आकांक्षा और नैराश्य सभी आसक्ति से उत्पन्न होते हैं अतः ये सभी दुःख हैं।[9] इस प्रकार आर्यों के विरुद्ध बुद्ध ने संसार के क्षणिक व्यापारों को दुःखमय माना है और उनसे निरोध का उपदेश दिया है।

(२) दुःख समुदय—दूसरा आर्य सत्य दुःखों के कारणों के विषय में है। जन्ममरण के चक्र को चलाने वाली तृष्णा दुःखों का मूल कारण है। यह तृष्णा तीन प्रकार की है—(१) काम तृष्णा—इन्द्रिय सुखों के लिये (२) भवतृष्णा—जीवन के लिये और (३) विभव तृष्णा—वैभव के लिये। "वास्तव में आवागमन को उत्पन्न करने वाली इन्द्रिय सुख के साथ कभी यहाँ और कभी वहाँ सन्तुष्टि खोजने वाली कामना अथवा तृष्णा वासनाओं की तृप्ति की तृष्णा अथवा भविष्य के जीवन की तृष्णा अथवा वर्तमान जीवन में सफलता की तृष्णा ही मूल कारण है। यह दुःख के मूल के विषय में आर्य सत्य है।[1] सभी दुःख उपाधि से उत्पन्न होते हैं जोकि अविद्या के कारण हैं। अविद्या दुःखों का मूल जीवेषणा के कारण है।
दुःख के इन कारणों को बुद्ध ने 'कारण निदान' अथवा 'प्रतीत्य समुत्पाद' के सिद्धान्त में भली प्रकार समझा है। इस प्रकार यह सिद्धान्त द्वितीय आर्य सत्य में ही सम्मिलित है। इसका वर्णन आगे करेंगे।

(३) दुःख निरोध—अर्थात् दुःख का नाश होना है। इसमें वासना तृष्णा अथवा जीवेषणा बिलकुल नष्ट हो जाती है। यह तृष्णा का त्याग उससे अलग होना उससे मुक्ति उसको कोई स्थान न देना है।[1] "वास्तव में यह इसी तृष्णा का विनाश है जिसमें कोई वासना नहीं रह जाती यह उसको अलग रख देना है उससे छुटकारा पाना उससे मुक्त होना इस तृष्णा को बिलकुल ही न रखना है। यह दुःख के विनाश के विषय में आर्य सत्य है।"[2]

---

५ संयुत्त निकाय
६ धम्मपद १२८
७. सुत्तनिपात ५९१ ५९४ ५९१ ५९२
८. धम्मपद २७८
९. दीघ निकाय
१ Foundation of the kingdom of Righteounness 6
१ मज्झिम निकाय I. १४
२ Foundation of the kingdom of Righteounness 7

नामरूप की वासना और अहकार दु'ख के कारण हैं। अहकार और जीवेषणा के नाश से राग, द्वेष, भ्रम और दु ख का विनाश हो जाता है।[३] निर्वाण शून्य के मनन पर आधारित वासना, सन्देह और इन्द्रिय सुखो का विनाश है।[४] वह नितान्त शून्यता है।[५] वह इच्छा और वासनाओं से मुक्त सागर की गहराई के समान पूर्ण शान्ति है।[६] "जो इस भयकर तृष्णा को जीत लेता है उससे दु'ख कमल पत्र से जल की बूंदो के समान दूर हो जाते हैं। तृष्णा की जडो को खोद डालो ताकि वह ललचाने वाली तुम्हे बार बार न पीसे।"[७] इस सत्य के प्रसग मे बुद्ध ने निर्वाण का विशद वर्णन किया है और उसका अर्थ समझाया है। परन्तु 'प्रतीत्य समुत्पाद' के समान ही विशेष महत्वपूर्ण सिद्धान्त होने के कारण इसका वर्णन भी प्रथक किया जाएगा।

(४) दु ख निरोधगामिनी प्रतिपद—(दु.ख निरोध मार्ग) दुखो के नाश के लिये उपाय भी हैं। बुद्ध ने केवल दु'खो के कारण ही नही बतलाए बल्कि उन कारणों को दूर करके दु ख से छुटकारा पाने का मार्ग भी बतलाया है निराशावाद मे से आशा का प्रकाश दिखाया है। इस मार्ग के आठ अग हैं। अत' इसको अष्टागपथ भी कहते हैं। इसका अनुसरण करके बुद्ध परिनिर्वाण की अवस्था तक पहुँचे और इसी का अनुसरण करके और लोग भी निर्वाण प्राप्त कर सकते हैं। वास्तव में यही बौद्ध धर्म का सार है क्योकि बुद्ध का प्रयोजन कोई दार्शनिक व्यवस्था उपस्थित करना न होकर दु खों से छुटकारा पाने का व्यावहारिक सुलझाव निकालना था। अष्टांग पथ बौद्ध नीति शास्त्र है।

अष्टांग पथ

अष्टांग पथ मध्यम मार्ग है। इसमे आत्मासक्ति और स्वय को कष्ट देना, दोनो का ही निरोध है। इस प्रकार बुद्ध ने आध्यात्मिक और नैतिक दृष्टि से मध्यम मार्ग अपनाया है। "दो ऐसी सीमाएँ हैं जो कि आगे बढ़ने वाले को कभी अनुसरण नही करनी चाहिये—एक ओर इन्द्रिय विषयो के सुखों, वासनाओ भक्ति की आदत, तृप्ति खोजने का एक निम्न और असंस्कृत मार्ग, त्याज्य, लाभहीन और जो केवल सांसारिक जनो के उपयुक्त है, और दूसरी ओर आत्मा को कष्ट देने की आदत जो भी कष्टमय, त्याज्य और व्यर्थ है। तथा-

---

३ अत्तजडसुत्त ६४४—५४

४ उपसीव माणवपुच्छा १०६६

५ कप्पमा भजव पुच्छा १०६३

६ तुवठक सुत्त, ६२०

७. वासेत्थ सुत्त ६३४, ६४३

गत ने एक मध्यम मार्ग का पता लगाया है—एक ऐसा मार्ग जो कि आँख खोलता और बुद्धि प्रदान करता है, जो शान्ति अन्तर्दृष्टि उच्च प्रज्ञा और निर्वाण की ओर ले जाता है। वास्तव में यह वही आर्य अष्टांग पथ है अर्थात् सम्यक् दृष्टि सम्यक संकल्प सम्यक् वाक्, सम्यक कर्मान्त सम्यगाजीव सम्यक व्यायाम सम्यक स्मृति और सम्यक समाधि है।[1] अब इस अष्टांग पथ का विस्तार से वर्णन किया जायगा।

(१) 'सम्मादिट्ठि' (सम्यक् दृष्टि)—अविद्या के कारण संसार तथा आत्मा के सम्बन्ध में मिथ्या दृष्टि उत्पन्न होती है और हम अनित्य दुःख और अनात्म वस्तु को नित्य सुख और आत्मरूप समझने लगते हैं। इस मिथ्या दृष्टि को छोड़कर वस्तुओं के यथार्थ स्वरूप पर ध्यान रखने को सम्यक् दृष्टि कहते हैं। इस प्रकार सम्यक् दृष्टि है चारों आर्य सत्यों का सतत ध्यान जो कि निर्वाण की ओर ले जाता है।

(२) सम्मासंकप्प (सम्यक् संकल्प)—सम्यक संकल्प का अर्थ इन्द्रिय सुखों के त्याग दूसरों की ओर बुरी भावनाओं और उनको हानि पहुँचाने वाले विचारों का समूलोच्छेदन करने का निश्चय है। आर्य सत्यों के ज्ञान से तभी लाभ हो सकता है क्योंकि उनके अनुसार जीवन व्यतीत किया जाय। सम्यक् दृष्टि सम्यक संकल्प में परिवर्तित होनी चाहिये। सम्यक संकल्प में त्याग परोपकार और करुणा सम्मिलित है।

(३) स)—सम्यक संकल्प से सबसे पहले
हमारे वचनों का नियंत्रण होना चाहिये। यह सम्यक संकल्प का ही बाह्य रूप है, उसी की अभिव्यक्ति है। इसमें मिथ्याचार निन्दा अप्रिय और असत्य वचन इत्यादि से दूर रहना चाहिये। प्रत्येक को असम्म (अशुभ) से बचकर सम्म (शुभ) ही बोलना चाहिए। सभी लोग सत्य शुभ और उचित पर स्थिर रहते हैं।[2] शत्रुता को कठोर शब्दों से नहीं अपितु अच्छी भावनाओं से दूर किया जा सकता है।[3] मन को शान्त करने वाला एक हितकारी शब्द हजारों निरर्थक शब्दों से अच्छा है।[4]

(४) सम्माकम्मन्त (सम्यक् कर्मान्त)—जीवघात चोरी कामुकता, झूठ, अति भोजन सामाजिक मनोरंजनों में नाना प्रकार आभूषण आरामदेह बिस्तरों के उपयोग तथा सोना चाँदी आदि के व्यवहार से बचना ही सम्यक्

१ Early Buddhism P 51
२ सुभाषित सुत्त
३ धम्मपद, I. ५.
४ धम्मपद, viii. I.

कर्मान्त है।[1] ये सब नियम भिक्षुओं पर लागू होते हैं। गृहस्थो के लिये केवल प्रथम पाँच नियम आवश्यक है। साधारणजनो के लिये और भी विशेष नियम है। माता पिता को अपने बच्चो को दुर्गुणो से बचाकर सद्गुणो की शिक्षा देनी चाहिये और शिक्षा के पश्चात भली प्रकार धनादि देकर विवाह कर देना चाहिये। सन्तान को अपने वृद्ध माता पिता की सेवा और पारिवारिक कर्तव्य करके योग्य सन्तान बनना चाहिये और मृत्यु के बाद भी माता पिता की स्मृति बनाए रखना चाहिये। विद्यार्थियो को विद्याध्ययन, गुरुजनो का आदर, आज्ञा-पालन और उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति करनी चाहिये। गुरुजनो का उनसे प्रेमपूर्ण व्यवहार करना चाहिये और उनमे सद्गुण उत्पन्न करके, कलाओं और विज्ञानो मे पारगत करके खतरो से बचाना चाहिये। पति को पत्नी का आदर करना चाहिये, उसके प्रति वफादार रहना चाहिये और उसे वस्त्राभूषण देने चाहिये। पत्नी को पति से प्रेमपूर्ण व्यवहार करना चाहिये, गृहस्थी का निपुणता से प्रबन्ध करना चाहिये, अतिथि सम्बन्धियो का आदर सत्कार करना चाहिये और पति के प्रति वफादार रहना चाहिये। इसी प्रकार बुद्ध ने स्वामी और सेवक, मित्रजन, गृहस्थी और भिक्षुजन आदि के परस्पर व्यवहारो के नियमों का विशद वर्णन किया है। सबको निस्वार्थ वृत्ति, उदारता और करुणा का उपदेश दिया है[2] और व्यक्ति तथा समाज के सुख के नियम बतलाए हैं। इन नियमो को देखकर कोई भी बुद्ध को निराशावादी अथवा पलायनवादी नही कह सकता। बुद्ध के उपदेश सरल, व्यवहार्य, सुखदायक और भूतल को स्वर्ग बना देने वाले हैं। बौद्धधर्म ससार के महानतम धर्मो मे से है। बुद्ध के उपदेश ही आज के पथभ्रष्ट मानव को राह दिखा सकते हैं।

(५) सम्मा-आजीव (सम्यक् आजीविका)—सम्यक् आजीविका का अर्थ शुद्ध उपायो से जीविकोपार्जन करना है। यही साम्यवाद और समाज-वाद का मूल आधार है। सम्यक् आजीविका के बिना सम्यक् कर्मान्त पर पूरी तरह आचरण नही किया जा सकता। अस्त्रशस्त्रादि, पशु, गोश्त, शराब और जहर आदि का व्यापार वर्जित है।[3] दबाव, धोखा, रिश्वत, अत्याचार, जालसाजी, डकैती, लूट, कृतघ्नता इत्यादि बुरे उपायो से जीविकोपार्जन न करना चाहिये।[4]

---

१. धम्मिक सुत्त
२. सिगालोवाद सुत्त, तेविज्ज सुत्त ।। Rhys Davids Buddhism पृष्ठ १४४-४७
३ अगुत्तर निकाय, ५
४ दीघकाय पृष्ठ २६६

(६) सम्मा वायाम (सम्यक् व्यायाम)—उपरोक्त नियमों का पालन करने के साथ साथ कुसंस्कारों को रोकना और बुरे भावों से बचना भी आवश्यक है। इसके लिये प्रयत्नों को सम्यक् व्यायाम कहते हैं। इसमें आत्म संयम इन्द्रिय निग्रह बुरे विचारों को रोकने शुभ विचारों को जाग्रत करने और मन को सर्वसुविहित पर जमाये रखने का सतत प्रयत्न करना सम्मिलित है। बुरे विचारों को रोकने के लिये ये पाँच तरीके बतलाये गये हैं– (१) किसी शुभ विचार का चिन्तन करो (२) बुरे विचार के कर्म में परिवर्तित हो जाने के परिणामों को देखो (३) उसके कारणों का विश्लेषण करके उसके परिणामों को रोको (४) शारीरिक चेष्टा की सहायता से मन पर नियमन करो।[४] *यह प्रणाली योग की प्रतिपक्ष भावना की पद्धति के समान है।* "धर्म का पालन मन पर निर्भर है और धर्म के पालन पर बोधि की प्राप्ति निर्भर है।"[५] इस प्रकार धर्म के मार्ग में आगे बढ़े हुये व्यक्ति को भी सम्यक् व्यायाम की आवश्यकता है ताकि भविष्य में पतन के खतरे से बचा रहे।

(७) सम्मासति (सम्यक् स्मृति)—सम्यक् समाधि के लिये सम्यक् स्मृति अत्यन्त आवश्यक है।[१] इसमें शरीर की अशुद्धियों संवेदना सुख दुख और तटस्थ वृत्ति का स्वभाव लोभ घृणा और भ्रमयुक्त मनका स्वभाव धर्मों पंचस्कन्धों, इन्द्रियों इन्द्रियों के विषयों बोधि के साधनों तथा चार आर्य सत्यों का स्मरण सम्मिलित है। सम्यक् स्मृति का अर्थ शरीर चित्त वेदना या मानसिक अवस्था के उनके यथार्थ रूप में स्मरण रखना है। उनके यथार्थ रूप को भूल जाने से मिथ्या विचार मन में घर कर लेते हैं और उनके अनुसार क्रियाएँ होने लगती हैं, आसक्ति बढ़ती है और दुःख सहना पड़ता है। सम्यक् स्मृति से आसक्ति नष्ट होकर दुःखों से छुटकारा मिलता है।

महात्मा बुद्ध ने दीर्घनिकाय में सम्यक् स्मृति के विषय में विस्तार पूर्वक कहा है। उनका उपदेश है कि शरीर को मिट्टी जल अग्नि तथा वायु का बना हुआ समझना चाहिये और यह याद रखना चाहिए कि यह मांस हड्डी खाल अंतड़ी विष्ठा पित्त कफ मज्जा और पीब आदि घृणित वस्तुओं से भरा रहता है। इसे श्मशान में जाकर उसका सड़ना नष्ट होना कुत्तों तथा गिद्धों का खाना जलना और अन्त में धूलों में मिल जाना देखना चाहिये। इन सब बातों को याद रखने से अपने तथा दूसरों के शरीर के प्रति अनुराग मिट जाता है। वेदना चित्त और अशुभ वृत्तियों के प्रति भी अनुराग नहीं रहता। पूर्ण

---

४ Th Esence of Buddhism, P 170

५ 'चित्तधीनो धम्मो धम्माधीनो बोधि'—The Esence of Buddhism P 175

१ महासतिपट्ठान सुत्त ४

अनासक्ति हो जाती है और दु खो का नाश हो जाता है। इस प्रकार सम्यक् स्मृति से मनुष्य सासारिक बन्धनों से बचा रहता है।

(८) सम्मा समाधि (सम्यक समाधि)—उपरोक्त सात प्रकार के नियमो के अनुसार चलकर मनुष्य की चित्त वृत्तियाँ दूर हो जाती हैं और वह सम्यक् समाधि में प्रवेश करने योग्य हो जाता है। निर्वाण तक पहुँचने से पूर्व सम्यक् समाधि की निम्नलिखित चार अवस्थाएँ हैं।

(१) शान्त चित्त से चार आर्य सत्यो पर विचार किया जाता है। विरक्ति तथा शुद्ध विचार अपूर्व आनन्द उत्पन्न करते हैं। इस अवस्था मे मनन होता है।

(२) इसमे मनन आदि प्रयत्न दब जाते हैं तथा तर्क वितर्क अनावश्यक हो जाता है। सदेह दूर हो जाते हैं और आर्य सत्यो के प्रति श्रद्धा बढ़ती है। तब समाधि की दूसरी अवस्था प्रारम्भ होती है। इसमे विचार का स्थान सहज ज्ञान ले लेता है। प्रगाढ़ चिन्तन के कारण चित्त मे शान्ति तथा स्थिरता उत्पन्न होती है और साथ-साथ आनन्द तथा शान्ति का ज्ञान भी रहता है।

(३) तीसरी अवस्था तटस्थता की अवस्था है। इसमे मन को आनन्द और शान्ति से हटा कर उपेक्षाभाव लाने का प्रयत्न किया जाता है। इससे चित्त की साम्यावस्था और साथ-साथ दैहिक सुख का भाव भी रहता है। परन्तु समाधि के आनन्द के प्रति उदासीनता आ जाती है।

(४) चौथी अवस्था पूर्ण शान्ति की अवस्था है जिसमें सुख दु:ख नष्ट हो जाते हैं।[२]

इसमे चित्त की साम्यावस्था, दैहिक सुख और ध्यान का आनन्द, किसी कभी ध्यान नही रहता। इसमें चित्त की वृत्तियों का निरोध हो जाता है। यह पूर्ण शान्ति, पूर्ण विराग और पूर्ण विरोध की अवस्था है। इनमें दुखों का सर्वथा निरोध होकर अर्हत पद अथवा निर्वाण प्राप्त हो जाता है। यह पूर्ण प्रज्ञा की अवस्था है।

शील, समाधि और प्रज्ञा बुद्ध के अष्टांगिक मार्ग के तीन प्रधान अग हैं। प्रज्ञा पदार्थ ज्ञान है। परन्तु इससे बुद्ध को बुद्धिवादी

शील, समाधि और प्रज्ञा (Intellectualist) नहीं कहा जा सकता। वास्तव में प्रज्ञा का स्थान बौद्धिक ज्ञान से ऊँचा है।

यथार्थ ज्ञान के बिना सदाचार असभव है। साथ ही साथ ज्ञान की पूर्णता भी सदाचार के बिना संभव नहीं। इस प्रकार भारतीय दर्शन की परपरा के अनुसार गौतम बुद्ध ने शक्ति और प्रज्ञा को एक दूसरे का पूरक माना है।[१]

२ महासुदस्सन सुत्त, 11

१ दीघ निकाय

प्रज्ञा से कामास्रव भवास्रव तथा अविद्यास्रव का नाश होता है।[१] प्रज्ञा का उदय अर्थात् समाधि से होता है। अष्टांग पथ के पहले सातों नियम इस समाधि की पूर्णता की ओर ले चलते हैं। इनके पालन से शील और प्रज्ञा का क्रमशः विकास होता है और फिर पूर्ण समाधि की साधना पूर्ण होने पर शील और प्रज्ञा भी पूर्ण हो जाती है। निर्वाण प्राप्त होते ही पूर्ण प्रज्ञा पूर्ण शील और पूर्ण शान्ति का उदय होता है। कहना न होगा कि निर्वाण को शून्यत्व समझना भारी भूल है। बुद्ध ने अशुभ भावना अर्थात् शरीर के दोषों का मनन करने के साथ साथ सब जीवों के प्रति 'मैत्री' दुःखी जनों के प्रति 'करुणा' सुखी जनों के प्रति 'मुदिता' तथा दुष्ट जनों के प्रति 'उपेक्षा' की भावना रखने पर जोर दिया है। ये चारों 'ब्रह्मविहार' कहलाते हैं। बुद्ध ने अपने उपदेशों में 'अहिंसा' पर बड़ा जोर दिया है। यह अहिंसा 'करुणा और मैत्री' का ही परिणाम है।

निर्वाण

बुद्ध के उपदेशों में तृतीय आर्य सत्य दुःखनिरोध है। यही निब्बान (निर्वाण) है। यही बौद्ध धर्म और नीति शास्त्र का परम ध्येय और बुद्ध के उपदेशों का सार है।

निर्वाण का अर्थ

निर्वाण का सही रूप जानने के लिये निर्वाण शब्द के अर्थ और उसकी विभिन्न व्याख्याओं का विचार आवश्यक होगा। (१) निर्वाण का शाब्दिक अर्थ है "बुझा हुआ"। व्युत्पत्ति के अनुसार कुछ लोग इसका अर्थ जीवन का अन्त समझते हैं परन्तु यह विचार भ्रमात्मक है। यदि ऐसा होता तो बुद्ध मृत्यु के पहले ही निर्वाण न प्राप्त करते। बुद्ध के मौन का यह अर्थ भी नहीं समझा जा सकता कि निर्वाण प्राप्त व्यक्ति का मृत्यु के पश्चात् कोई अस्तित्व नहीं रहता। निर्वाण का अर्थ वासना की अग्नि का बुझ जाना है। उसमें लोभ घृणा क्रोध और भ्रम की अग्नि बुझ जाती है और कामास्रव भवास्रव तथा अविद्यास्रव इत्यादि मन मल की अशुद्धियाँ अथवा नदी (आस्रव) ठण्डे हो जाते हैं।[१] यह भवनिरोध अथवा पुनर्जन्म को रोकने वाला है।[२] बौद्ध ग्रन्थों में आग के 'जलने' और 'बुझने' का बहुत जिक्र आया है। निर्वाण को 'सिसिभाव' अथवा शीतलता की अवस्था कहा गया है।[३] इसमें वासना और तज्जनित दुःखों की पूर्ण शान्ति

---

१ धम्मचक्कपवत्तन सुत्त ४

१ संयुत्तनिकाय III २५१ ९९१ १०१; ii

२ Mrs. Rhys Davids, Boddhism P 180-81

३ संयुत्तनिकाय, I; Encyclopedia of R.ligion and Ethics.

ही जाती है। वह अस्तित्व का विनाश नहीं है।[४] उसे इसी जीवन मे प्राप्त किया जा सकता है। यह अकर्मण्यता भी नहीं है। उसमे बौद्धिक और सामाजिक जीवन संभव है। स्वयं बुद्ध का जीवन इस तथ्य का प्रमाण है। निर्वाण कर्मो का नही वल्कि उनमे राग, द्वेष और भ्रम का त्याग है। उसमे शरीर रहते हुए भी तृष्णा नष्ट हो जाती है। वह उपनिषदो की जीवनमुक्ति के समान है। परन्तु निर्वाण के बाद पुनर्जन्म नही होता। वह दीपक के समान बुझ जाता है।[५] रायज डेविड्स (Rhys Davids) के शब्दो मे "निर्वाण मन की पापहीन शान्त अवस्था के समान है और उसे सबसे अच्छी तरह पवित्रता, पूर्ण शान्ति, शिवत्व और प्रज्ञा कहा जा सकता है।[६]
स्थायी रूप से प्रज्ञा प्राप्त करने के पश्चात फिर निरंतर समाधि मे मग्न रहने की आवश्यकता नहीं होती न ही फिर कर्मा मे बन्धन का भय होता है। वास्तव मे बुद्ध के अनुसार कर्म रागद्वेष और मोह आदि की उपस्थिति में बन्धन का कारण होता है परन्तु इनकी अनुपस्थिति मे उससे न तो संस्कार होते है और न पुनर्जन्म इत्यादि बन्धन। जैसे साधारण रीति से बीज बोने से पौधे की उत्पत्ति होती है परन्तु यदि बीज बोने के पहले भूज दिया जाय तो उससे पौधा नही उत्पन्न हो सकता। अत अनासक्त भाव से कर्म करने से कोई बन्धन नही होता।
निर्वाण सब प्रकार के अज्ञान से मुक्त बोधि की अवस्था है। इसमे मनुष्य का अहकार समाप्त हो जाता है क्योकि पंच स्कन्ध के नवीन व्यक्ति को उत्पन्न करने वाले उसके उपादान, क्लेष और तृष्णा पूरी तरह नष्ट हो चुकते हैं। 'अहं' का अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है। मुक्त पुरुष मे पूर्ण अन्तंदृष्टि, पूर्ण वासना हीनता, विशुद्ध शान्ति, पूर्ण संयम, शान्त मन, शान्त शब्द और शान्त क्रियाएँ होती हैं।[७]

(२) पाली ग्रंथो मे निर्वाण का एक शान्ति की अवस्था के रूप मे चित्रण किया गया है। पिटको मे निर्वाण को अमाता अर्थात अमर, अच्छुत अर्थात निरोग, अच्छन्त अर्थात परम श्रेय, अकुतोभय अर्थात जहाँ भय न हो, अनुत्तर योग क्षेम अर्थात पूर्ण सुरक्षितता"[८] इत्यादि कहा गया है। "निर्वाण पर द्वीप, अत्यन्त, अमृत, अमृतपद और नि श्रेयस है।"[९] धम्मपद मे निर्वाण

४. अगुत्तर निकाय III, ३५६

५ रजत सुत, ७,१३,

६ Buddhism P.III-12

७ धम्मपद, ६०,६४-६६

८ Mrs Rhys Davids. Buddhism P. 181-82

९ Poussion vol ix article on Nirvana

को एक आनन्द की अवस्था परमानन्द पूर्ण शान्ति लोभ घृणा तथा भ्रम से मुक्ति कहा गया है।[1] निर्वाण सुख नहीं है क्योंकि सुख एक लौकिक अनुभव है। निर्वाण आनन्द है जो कि सुख से भिन्न है।

(१) निर्वाण वर्णनातीत है। डा कीथ (Keith) कहते हैं "सब व्यावहारिक शब्द अनिर्वचनीय का वर्णन करने में अनुपयुक्त हैं।[2] डा दास गुप्त (Dasgupta) के अनुसार भी निर्वाण का लौकिक अनुभव के शब्दों में वर्णन नहीं किया जा सकता। इसे न तो निषेधात्मक कहा जा सकता है न स्वीकारात्मक।[3] यह एक अलौकिक और अवर्णनीय अवस्था है। यह तर्क और विचार के परे की अवस्था है।[3] यह सागर के समान गहरा और अगम्य है।[4] प्रसिद्ध बौद्ध धर्मोपदेशक नागसेन ने उपमाओं के सहारे राजा मिलिन्द को निर्वाण का स्वरूप समझाते हुए भी कहा था कि जिनको निर्वाण का कोई भी अनुभव नहीं है उन्हें इन उपमाओं द्वारा निर्वाण की कुछ भी अनुभूति नहीं हो सकती है।[5] निर्वाण न तो उच्छेदवाद है न शाश्वतवाद। बुद्ध का कथन है कि " 'कुछ' अजात, अभूत अकृत और असंस्कृत है। यदि कुछ अज न होता तो उत्पन्न हुए के लिये बाहर निकलने का कोई मार्ग न था।[6] ओल्डन बर्ग (Oldenberg) के शब्दों में "बौद्ध के लिए कुछ अज है" का यही अर्थ है कि जन्मा हुआ जन्म के शाप से मुक्त हो सकता है।[7] थेरिनियों (Sisters) ने दुःखहीनता सुखता नैतिक प्रयत्नों की परिपूर्णता स्वतन्त्रता, सच्चा आनन्द तृष्णा से मुक्ति, पूर्ण शान्ति पूर्ण आत्म नियंत्रण और जन्म तथा सब कष्टों के पूरी तरह बुझ जाने को निर्वाण कहा है।[8]

निर्वाण के दो रूप बतलाए गए हैं—(१) स-उपाधि-शेष निर्वाण (२) अनुपाधि शेष निर्वाण। प्रथम में पुनर्जन्म के कारण

दो प्रकार के निर्वाण

उपादान कुछ बच हुये रहते हैं। परिनिर्वाण का अर्थ "पूरी तरह बुझा हुआ" है। प्रारंभ के पाली ग्रंथ

---

१ धम्मपद २ २-३
१ Buddhist Philosophy (oxford)1993 P 129
२ History of Indian Phylosophy vol I P 109
३ संयुत्तनिकाय iii १ ६
४ संयुत्तनिकाय iv १७४
५. मिलिन्द पञ्ह
६. इतिवुत्तक, ४३
७. Psalms of the sisters, xxxi Mrs. Rhys Davids Buddhism P 185 86
८. Rhys Davids Buddhism, P 117

निर्वाण को इसी जीवन मे प्राप्त होने वाली एक नैतिक अवस्था मानते हैं। बाद के सस्कृत ग्रन्थ परिनिर्वाण अथवा अनुपाधि शेष निर्वाण जीव की मृत्यु मानते हैं जिसके बाद फिर जीवन नही होता।[८] हीनयान और महायान ने निर्वाण के अर्थ मे कुछ परिवर्तन कर दिया है।

निर्वाण का परिणाम

निर्वाण का परिणाम यह होता है कि जन्म ग्रहण के कारण नष्ट हो जाने से पुनर्जन्म और उसके दु खो की सभावना समाप्त हो जाती है। यह तो मृत्यु के बाद का परिणाम है। मृत्यु से पूर्व निर्वाण प्राप्त व्यक्ति का जीवन मृत्यु तक पूर्ण ज्ञान और शान्ति के साथ बीतता है। सासारिक सुखो अथवा साधारण अनुभवों से इसका वर्णन नही किया जा सकता। केवल यही कहा जा सकता है कि इससे मनुष्य के सभी दु ख दूर हो जाते हैं। पूर्ण निर्वाण प्राप्त करने के पूर्व भी जैसे जैसे वासनाओ का नाश होता जाता है वैसे वैसे निर्वाण के लाभ मिलने लगते हैं।

प्रतीत्यसमुत्पाद

बुद्ध के द्वितीय आर्य सत्य मे द्वादश निदान का जिक्र है। यह द्वादश निदान का सिद्धान्त 'प्रतीत्य समुत्पाद' कहलाता है। यही सिद्धान्त बुद्ध के उपदेशो का मुख्य सिद्धान्त है और शेष सभी इसी पर आधारित हैं। कर्म का सिद्धान्त, क्षणिकवाद, नैरात्म्यवाद, सघातवाद और अन्त मे 'अर्थ क्रियाकारित्व' का सिद्धान्त भी इसी पर आधारित है।

प्रतीत्य समुत्पाद का अर्थ

प्रतीत्य समुत्पाद का अर्थ है—'एक वस्तु के प्राप्त होने पर दूसरी वस्तु की उत्पत्ति' अथवा एक कारण के आधार पर एक कार्य की उत्पत्ति। उसका सूत्र है कि 'ऐसा होने पर वैसा होता है।"[१] पाली मे इसको "पाटिच्चसमुप्पाद" और अँग्रेजी मे 'Dependent Origination कहते हैं। प्रतीत्य समुत्पाद सापेक्ष भी है और निरपेक्ष भी। सापेक्ष दृष्टि से वह ससार है और निरपक्ष दृष्टि से निर्वाण। बुद्ध उसको बोधि अथवा धर्म मानते है। "जो प्रतीत्य समुत्पाद देखता है वह धर्म देखता है और जो धर्म देखता है वह प्रतीत्य समुत्पाद देखता है।" उसको भूल जाना ही दुख का कारण है उसके ज्ञान से दु खो का अन्त हो जाता है। नागार्जुन इस सिद्धान्त को सिखाने वाले बुद्ध को प्रणाम करते हैं जो सिद्धान्त प्रपच को समाप्त करके आनन्द देता है।[२]

---

१ 'अस्मिन सति इद भवति।'

२ माध्यमिक कारिका।

प्रतीत्य समुत्पाद शाश्वतवाद और उच्छेदवाद के मध्य का मार्ग है। शाश्वतवाद के अनुसार कुछ वस्तुएँ नित्य हैं जिनका न आदि है और न अन्त। इनका कोई कारण नहीं है न ये अन्य किसी वस्तु पर अवलम्बित ही हैं। उच्छेदवाद के अनुसार वस्तुओं के नष्ट हो जाने पर कुछ भी नहीं बचता। प्रतीत्य समुत्पाद इन दोनों ऐकान्तिक मतों का मध्य मार्ग (मध्यमा प्रतिपदा) है। वस्तुओं का अस्तित्व है परन्तु वे नित्य नहीं हैं। दूसरी ओर उनका पूर्ण विनाश भी नहीं होता बल्कि कुछ न कुछ शेष रह जाता है। एक वस्तु की उत्पत्ति दूसरी से होती है। बाह्य अथवा मानसिक सभी घटनाओं का कुछ न कुछ कारण अवश्य होता है। कार्यकारण की यह शृंखला स्वयं चलती रहती है।

शाश्वतवाद और उच्छेदवाद का मध्य मार्ग

रोग और जरा मरण के दुःखों को देखकर गौतम ने उनकी समस्या सुलझाने के लिए घरबार छोड़ दिया। यह सुलझाव उन्हें बुद्ध होने पर प्रतीत्य समुत्पाद के सिद्धान्त में मिला। "तब भगवान्‌ बुद्ध ने रात्रि के पहले पहर में अपना मन सीधे तथा उलटे क्रम में कारण शृंखला पर जमाया। अविद्या से संस्कार उत्पन्न होते हैं, संस्कार से विज्ञान उत्पन्न होता है विज्ञान से नाम रूप उत्पन्न होते हैं, नाम रूप से षडायतन (आँख नाक कान जिह्वा स्पर्श तथा मानस आदि छः इन्द्रियाँ) उत्पन्न होते हैं षडायतन से स्पर्श उत्पन्न होता है स्पर्श से वेदना उत्पन्न होती है वेदना से तृष्णा उत्पन्न होती है तृष्णा से उपादान उत्पन्न होता है उपादान से भव उत्पन्न होता है भव से जाति उत्पन्न होती है जाति से जरा और मरण दुःख शोक कष्ट विषाद और निराशा उत्पन्न होती है। यह समस्त दुःखों का आरम्भ है। पुनः अविद्या के नाश से जो कि वासना के पूर्ण निरोध से संभव है संस्कार नष्ट हो जाते हैं संस्कारों के नाश से विज्ञान नष्ट हो जाता है विज्ञान के नाश होने से नाम रूप नष्ट हो जाते हैं, नाम रूप नष्ट हो जाने से षडायतन नष्ट हो जाते हैं षडायतन नष्ट हो जाने से स्पर्श नष्ट हो जाता है स्पर्श नष्ट हो जाने से वेदना नष्ट हो जाती है वेदना नष्ट हो जाने से तृष्णा नष्ट हो जाती है तृष्णा नष्ट हो जाने से उपादान नष्ट हो जाते हैं उपादान नष्ट हो जाने से भव नष्ट हो जाता है भव नष्ट हो जाने से जाति नष्ट हो जाती है जाति नष्ट हो जाने से जरा मरण कष्ट शोक दुःख विषाद और निराशा नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार समस्त दुःखों का नाश हो जाता है।"[1] इस भव चक्र में भूत भविष्य और

कारण निदान

---

१ महावग्ग I, १ । ३; मिलिन्द पञ्ह II, ३ I

वर्तमान की दृष्टि से भेद किये जाते है ।[२] इस प्रकार प्रतीत्य समुत्पाद का निम्नलिखित चित्र उपस्थित होता है —

१ पिछले जीवन के कारण	१ अविद्या से सस्कार २ सस्कार से विज्ञान
२ वर्तमान जीवन के कारण	३ विज्ञान से नाम रूप ४ नाम रूप से षडायतन ५ षडायतन से स्पर्श ६ स्पर्श से वेदना ७ वेदना से तृष्णा ८ तृष्णा से उपादान ९ उपादान से भव
३ भविष्य जीवन से सम्बन्धित	१० भव से जाति ११ जाति से जरा १२ जरा से मरण

उपरोक्त शृखला मे बारह कडियाँ हैं। बुद्ध के सभी उपदेशो मे ये कडियाँ बारह नही हैं। परन्तु उपरोक्त विवरण प्रामाणिक माना जाता है। ये बारह निदान इस शृखला मे आदि से अन्त तक व्याप्त हैं। वर्तमान जीवन का कारण अतीत जीवन है और भविष्य का जीवन वर्तमान पर निर्भर है। अविद्या और सस्कार दूसरे आर्य सत्य का अग है। इस प्रकार प्रतीत्य समुत्पाद दूसरे और तीसरे आर्य सत्य मे फैला हुआ है। प्रथम अविद्या और अन्तिम जरा मरण को छोड़कर शेष दस निदान दस कर्म भी कहलाते है। अब इन बारह निदानो को जरा विस्तार से देखना भी आवश्यक है।

(१) **अविद्या**—अविद्या जीवत्व अथवा अहकार का मूल है। वह कर्म का आश्रय है। अविद्या और कर्म मिलकर जीव को बनाते हैं। अविद्या के कारण ससार का दु ख रूप छिपा रहता है। अविद्या के कारण अहकार होता है और व्यक्ति अपने को शेष ससार से पृथक समझता है। इसी से जीवेषणा है जो समस्त दु खों का मूल कारण है।

(२) **सस्कार**—सस्कार का अर्थ होता है व्यवस्थित करना अथवा तैयार करना। सस्कार का अर्थ उत्पत्ति और उत्पादक क्रिया दोनो से ही है। उसका अर्थ शुद्ध, अशुद्ध, धर्म सहित अथवा अधर्म सहित कर्म से भी है। विस्तृत अर्थों में उसका अर्थ वह सकल्प शक्ति है जो नवीन अस्तित्व को उत्पन्न करती है। जैसे सस्कार होते हैं वैसा ही उनका फल होता है। धनादि से आसक्ति के

---

२ मज्झिम निकाय १४०, महापदान सुत्तन्त. II

संस्कार भविक परिवार में जन्म के कारण होते हैं और संस्कार से मुक्ति पाने के संस्कार प्रज्ञा और निर्वाण की ओर ले जाते हैं।

(३) विज्ञान—मृत्यु के पश्चात् शरीर, संवेदना और प्रत्ययादि के विनाश हो जाने पर भी विज्ञान बनता है और नवीन जन्मों की ओर ले जाता है जब तक कि निर्वाण प्राप्त होने पर वह पूर्णतः समाप्त न हो जाय।

(४) नाम रूप—विज्ञान से नाम रूप का जन्म होता है। बिना विषयी के विषय का कोई अर्थ नहीं है। नाम-रूप और विज्ञान परस्पर आश्रित हैं।

(५) षडायतन—नामरूप और विज्ञान से षडायतन अर्थात् आँख कान, नाक जिह्वा, त्वचा और मानस ये छः इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं।

(६) स्पर्श—षडायतन से बाह्य संसार से सम्बन्ध रखने के लिये बाह्य इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। कभी कभी यह भी कहा जाता है कि आँख देखने के कारण है और कान सुनने के कारण है। इस प्रकार रूप रस शब्द तथा विचार आदि के संसार का निर्माण होता है।

(७) वेदना—जगत की वस्तुओं के स्पर्श से वेदना उत्पन्न होती है। भिन्न भिन्न वस्तुओं के स्पर्श सुख दुःख आदि भिन्न भिन्न प्रकार की वेदनाएँ उत्पन्न होती हैं।

(८) तृष्णा—वेदना से उत्पन्न तृष्णा ही संसार के सब दुःखों का मूल है। यही विज्ञान की जन्म से पुर्नजन्म में लिये फिरती है। इसी के कारण व्यक्ति अंधा होकर संसार की वस्तुओं के पीछे भागता है। तृष्णा के वशीभूत होने से विषधर रात चौगुना दुःख बढ़ता है और तृष्णा पर अधिकार करने से दुःख कमल के पुष्प से जल की बूँदों के समान दूर हो जाते हैं।[1]

(९) उपादान—तृष्णा की आग उपादान के ईंधन से जिलती रहती है। जहाँ जहाँ अग्नि होगी वहाँ ईंधन भी होगा। उपादान अथवा जगत की वस्तुओं के प्रति राग अथवा मोह से ही जीव बन्धन में पड़ता है। इस मोह के कटने पर ही मोक्ष सम्भव है।

(१०) भव—चन्द्र कीर्ति के अनुसार भव वह कर्म है जिससे पुर्नजन्म होता है।[2] उपादान से भव होता है। भव से जन्म होता है और जन्म से जरा और मरण आदि दुःख होते हैं।

(११) जाति—भव से जाति होती है, जीव संसार चक्र में फंस जाता है।
(१२) जरामरण—संसार चक्र में फंस जाने पर फिर दुःख शोक रोग बुढ़ापा विषाद, निराशा और अन्त में मृत्यु का कष्ट उठाना पड़ता है।

---

१ धम्मपद V ३३५

२ पुर्नभवजनकं कर्म—माध्यमिक वृत्ति

प्रतीत्य समुत्पाद के सिद्धान्त मे अविद्या आदि कारण है। उससे भव चक्र प्रारंभ होता है परन्तु यदि प्रत्येक निदान का कारण अवश्य है तो फिर अविद्या का क्या कारण है? इसका उत्तर बुद्ध ने नही दिया। वास्तव में मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इस कारण कार्य की श्रृंखला के विषय मे अधिक शंका नही हो सकती और अविद्या का सब दुःखो का मूल होना अन्य भारतीय दार्शनिको को भी मान्य है। बुद्ध ने अविद्या का कारण क्यों नहीं बतलाया, यह समझना भी बहुत कठिन नही है। उनकी समस्याएँ दार्शनिक न होकर व्यावहारिक ही थी। अविद्या है, यह अनुभव सिद्ध है तब यह प्रश्न निरर्थक है कि अविद्या क्यो है। मुख्य प्रश्न यही है कि अविद्या को कैसे दूर किया जाय। इसी प्रश्न का उत्तर देने मे बुद्ध लगे रहे। परन्तु फिर भी अविद्या का कारण जानने की दार्शनिक जिज्ञासा का भी अपना स्थान है। बौद्ध दर्शन मे दर्शन नीति शास्त्र के आधीन है अथवा नीति शास्त्र मुख्य है और दर्शन गौण है। परन्तु फिर भी दार्शनिक समस्यायें भी मानव मन मे सदा से उठती रही हैं और उनका सुलझाव मानव विचार की मांग है। अन्य दार्शनिक समस्याओ के समान ही बुद्ध अविद्या के कारण के विपय मे भी मौन रहे और अन्य समस्याओ के समान यहाँ भी उनके मौन का अर्थ अज्ञान नही है। वास्तव में अविद्या अनिर्वचनीय है और अनादि है जगत का स्वभाव है। बुद्ध के बाद के दार्शनिक अश्वघोष इत्यादि ने अविद्या का कारण बतलाते हुए उसे तथात् से उत्पन्न कहा है। एक विश्वमय सद् सत्ता को मानने पर ही अविद्या का कारण बतलाया जा सकता है। अविद्या उसी विश्वमय सत्ता की एक शक्ति है।

प्रतीत्य समुत्पाद की आलोचना

कर्म और पुर्नजन्म

प्रतीत्य समुत्पाद के सिद्धान्त से ही कर्मवाद की स्थापना होती है। दोनो के अनुसार मनुष्य का वर्तमान जीवन उसके भूतकालीन जीवन का परिणाम है और भविष्य वर्तमान पर निर्भर है। बौद्ध धर्म के अनुसार "अपने कर्मों मे अन्तर के कारण मनुष्य एक समान नही होते हैं, परन्तु कुछ दीर्घायु, कुछ अल्पायु, कुछ स्वस्थ और कुछ अस्वस्थ इत्यादि होते हैं।"[1]

जब एक पीडित शिष्य बुद्ध के पास आया जिसका सर फटा था और उससे रक्त बह रहा था तब बुद्ध ने कहा "हे अर्हत, उसे ऐसा ही सहन करो तुम अपने उन कर्मों का फल सहन कर रहे हो जिनके लिए तुम्हें सदियों तक नक का कष्ट सहन करना पड़ता।" कर्म के सिद्धान्त

कर्मफल अनिवार्य है

---

१ मिलिन्द पञ्ह

के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्मों का उत्तरदायी है। कर्मों का फल अवश्य होता है। प्रत्येक का भविष्य वर्तमान कर्मों पर निर्भर है।

कर्मफल कर्मी के चरित्र पर निर्भर है

कर्म के सिद्धान्त के अनुसार कर्मों का फल कर्मी के चरित्र के अनुसार होता है। यदि किसी दुश्चरित्र व्यक्ति ने कोई पाप किया तो उसके लिए उसके नर्क की यातनायें सहन करनी पड़ेंगी। परन्तु यदि किसी सुचरित्र व्यक्ति से बुरा कर्म बन पड़ता है तो उसे इसी जीवन में थोड़ा से कष्ट सेलकर ही छुटकारा मिल जायेगा। "यह ऐसा है कि यदि एक मनुष्य एक छोटे प्याले भर पानी में एक नमक का डेला रख दें तो पानी नमकीन हो जायेगा और पीने योग्य न रहेगा परन्तु यदि वही नमक का डला गंगा के पानी में रख दिया जाये तो उसमें कोई भी स्पष्ट दोष नहीं दिखलाई पड़ेगा।"[1]

कर्म यांत्रिक नहीं है

जब कर्म का सिद्धान्त सर्व शक्तिमान हो जाता है तो मानव की स्वतन्त्रता समाप्त हो जाती है। जब प्रत्येक अवस्था कर्मों के अनुसार पहले से ही निश्चित है तब व्यक्ति उसमें क्या कर सकता है? गौतम बुद्ध ने मानव की स्वतन्त्रता के विषय में कोई स्पष्ट उत्तर न देते हुए भी मुक्त कर्म और सम्पूर्ण कर्म के सिद्धान्त पर विजय की संभावना मानी है। बुद्ध के अनुसार कर्म कोई यांत्रिक सिद्धान्त नहीं है। यद्यपि वर्तमान पर भूतकाल का नियंत्रण है परन्तु भविष्य उन्मुक्त है और हमारे संकल्प पर निर्भर है। "हे पुजारियों! यदि कोई कहे कि मनुष्य को अपने कर्मों का फल अवश्य भोगना चाहिए तो उस अवस्था में कोई धार्मिक जीवन नहीं रहता न ही दुःखों के पूर्ण विनाश का ही कोई अवसर रह जाता है। परन्तु यदि कोई कहता है कि किसी मनुष्य को जो पुरस्कार मिलता है वह उसके कर्मों के अनुसार होता है तो हे पुजारियों उस अवस्था में धार्मिक जीवन है और समस्त दुःखों के नाश का भी अवसर मिलता है।"[2] वास्तव में यदि कर्म का सिद्धान्त यांत्रिक हो तो धर्म और नीति शास्त्र के लिए कोई स्थान न रह जाय। कर्म का सिद्धान्त आध्यात्मिक विकास और प्राकृतिक प्रक्रियाओं के क्षेत्र में एक व्यवस्था दिखलाता है। यह प्रयत्न अथवा उत्तरदायित्व के महत्व को कम नहीं करता। बौद्ध धर्म यदृच्छावाद के विरुद्ध है और साथ ही साथ अनिर्धारण वाद को भी नहीं मानता।

---

१ अंगुत्तर निकाय, I, २४९

२ अंगुत्तरनिकाय, iii, ९९.

शरीर के क्रम को बौद्ध धर्म मे भव चक्र कहा है। भव चक्र में कारण से कार्य श्रृंखला सदैव चलती रहती है। द्वादश निदान सिद्धान्त मे इसी मत की पुष्टि की गई है। और जन्म एक ही श्रृंखला की दो कड़ियाँ पुराने के नष्ट होने पर नवीन का जन्म होता केवल मनुष्य ही नहीं बल्कि सभी जीव प्रा इसी चक्र मे फँसे हुए हैं।

भवचक्र कर्म के सिद्धान्त पर आधारित है

परन्तु इस भवचक्र से भी निकला जा सकता है। बौद्धधर्म के अनुसार सर्वो आध्यात्मिक अवस्था मे कर्म का कोई प्रभाव न रहता। सभी पिछले कर्म और उनके परिणाम स के लिये नष्ट हो जाते हैं। मनुष्य धर्म और अ दोनो से ही ऊपर उठ जाता है। निर्वाण प्राप्त हो जाने पर कर्म समा हो जाते हैं। परन्तु इसका अर्थ निष्क्रियता नही है। वास्तव मे सभी कर्मों फल नही होता बल्कि केवल उन्ही कर्मो का फल होता है जो अविद्या ज वासनाओ से प्रेरित होते है। निर्वाण प्राप्त करने के पश्चात् कर्म तो होते परन्तु उनका फल नही होता जैसे भुजे हुऐ बीज बोने से पौधा नही उगता।

कर्म से निर्वाण

बुद्ध किसी स्थायी आत्मा मे विश्वास नहीं करते। विज्ञान एक प्रवाह है जिस प्रत्येक क्षण मे पूर्वापर सम्बन्ध है परन्तु कोई अपरि वर्तनीय कूटस्थ आत्मा नही है। अत बुद्ध दर्शन पुनर्जन्म का कोई स्थान नही है। मृत्यु के पश्च जीव के सस्कार बन जाते हैं। ये सस्कार उसके कर्मों के अनुसार होते और इन्ही के दबाव से एक जन्म से दूसरे जन्म मे स म्बन्ध बना रहता है यह सस्कार मरणासन्न व्यक्ति के अन्तिम विचार के रूप मे प्रगट होता है कर्म की इस शक्ति के साथ-साथ उपादान भी आवश्यक है। जीवेषणा अथव उपादान ही वह शक्ति है जो कि पूर्व कर्मानुसार नवीन जन्म का कारण है उसके बिना स्वय कर्म की अपनी कोई शक्ति नही। निर्वाण प्राप्त करने प मोह नष्ट हो जाता है और उपादान समाप्त हो जाता है अत पुर्नजन्म नहीं होता। पिछले और नए व्यक्ति मे कोई समानता नहीं होती, केवल यह सम्बन्ध होता है कि नया पिछले के कर्मानुसार बनता है। कभी-कभी विज्ञा को भी मृत्यु के बाद अवशिष्ट माना गया है। "जो कुछ हम हैं वह जो कुछ हमने सोचा है उसी का परिणाम है, विज्ञान को सही अर्थो मे हमारी आत्म का सार माना गया है। वास्तव में इससे विज्ञान और कर्म, विचार और सकल में दृढ़ सम्बंध ही प्रकट होता है। निर्वाण प्राप्त करने पर विज्ञान तथा क दोनो से ही छुटकारा मिल जाता है।

पुर्नजन्म नहीं होता

अनात्मवाद

अनात्मवाद भी प्रतीत्य समुत्पाद के सिद्धान्त से निकलता है। विज्ञान प्रवाह के अतिरिक्त कोई अदृष्ट स्थायी द्रव्य नहीं है। शरीर के नष्ट हो जाने पर पंचस्कंध पंचभूत में मिल जाते हैं और उपादान तथा कर्म के अतिरिक्त और कुछ शेष नहीं रहता। बुद्ध का यह सिद्धान्त अनात्मवाद कहलाता है। विलियम जेम्स के मत के समान बौद्ध भी आत्मा को विज्ञान प्रवाह मानते हैं। विज्ञान में पिछले क्षण का परिणाम वर्तमान और वर्तमान का भविष्य है। इस प्रकार एक क्षण का स्थान दूसरा लेता रहता है। पिछले क्षण का कर्म और स्मृति अगले को मिलती रहती है। वर्तमान मानसिक अवस्था का कारण पूर्ववर्ती मानसिक अवस्था है। बुद्ध ने जीवन की एक सूत्रता को बताते हुए दीपक की लौ के उदाहरण से समझाया है। जीवन की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में पूर्वा—पर और कार्य कारण सम्बंध है। जीवन क्रमबद्ध और अव्यवहित अवस्थाओं का एक प्रवाह या संतान है। इस संतति में प्रत्येक अवस्था पूर्ववर्ती पर आधारित है और आगामी अवस्था वर्तमान पर आधारित है। अतः जीवन एक रस है। दीपक की ज्योति क्षण-क्षण में बदलती रहती है। प्रत्येक क्षण की ज्योति तत्कालीन अवस्थाओं पर निर्भर होती है। परन्तु ज्योतियों के भिन्न-भिन्न होने पर भी अविच्छिन्नता के कारण वे हमें एक ही दिखाई पड़ती है।

आत्मा विज्ञान का प्रवाह है

बुद्ध आत्मा को नित्य न मानते हुए भी पुर्नजन्म और कर्म को मानते हैं। पुर्नजन्म को इस अर्थ मे कदापि नहीं मानते कि एक आत्मा एक शरीर छोड़कर दूसरे शरीर में प्रवेश करती है। परन्तु पुर्नजन्म का अर्थ यह है कि एक जन्म के बाद दूसरा जन्म आता है। अथवा एक जन्म के कारण दूसरा जन्म होता है। जैसे एक दीपक से दूसरा दीपक जलाया जा सकता है और फिर भी दोनों ज्योतियो को एक नहीं समझा जा सकता। दोनों में कार्यकारण भाव सम्बन्ध होते हुए भी दोनों एक दूसरे से पृथक है।

पुर्नजन्म और अनात्मवाद

वास्तव में बुद्ध ने अपने शिष्यों को सर्वथा आत्मा के सम्बन्ध में मिथ्या विचारों के परित्याग का उपदेश दिया है। आत्मा को नित्य समझने से उसमे आसक्ति बढ़ती है और हम उसे सुखी बनाने के चक्कर में दुःख उठाते रहते हैं। बुद्ध के अनुसार अदृष्य और अप्रमाणित आत्मा से प्रेम रखना वैसा ही हास्यास्पद है जैसा कि किसी अदृष्य, अश्रुत अथवा कल्पित सुन्दरी रमणी से प्रेम रखना हास्यास्पद है। आत्मा के प्रति अनुराग रखना

आत्मा को नित्य समझने से हानि

एक ऐसे प्रासाद पर चढ़ने के लिए सीढ़ी तैयार करना है जिसे किसी ने कभी देखा तक न हो।[1]

मनुष्य काय, चित विज्ञान का संघात है

बुद्ध के अनुसार मनुष्य केवल एक समष्टि का नाम है। जैसे चक्र, धुरी, नेमि आदि मिलकर रथ कहलाते हैं उसी प्रकार बाह्य रूप युक्त शरीर, मानसिक अवस्थाएँ और रूपहीन संज्ञा या विज्ञान का समूह अथवा संघात मनुष्य कहलाता है। यह संघात ही मनुष्य है। इसके अतिरिक्त और कोई आत्मा नहीं है। जब तक यह संघात बना रहता है तब तक मनुष्य का जीवन रहता है। इस संघात के नष्ट होने का नाम ही मृत्यु है।

पंच स्कन्ध

अन्य स्थान पर बुद्ध ने मानव को पंच–स्कन्ध बतलाया है। ये पंच स्कन्ध परिवर्तन शील तत्व हैं और मानव उनका संग्रह मात्र है। मृत्यु होने पर यह संग्रह बिखर जाता है। पंच स्कन्ध मे पहला स्कन्ध है रूप, जिसमे मानव शरीर का आकार अथवा रूप और रंग आदि आ जाते हैं। दूसरा स्कन्ध है वेदनाएँ जिनमे सुख, दुख तथा विषाद आदि के बोध आते हैं। तीसरा स्कन्ध है संज्ञा। इसमें अनेक प्रकार के ज्ञान सम्मिलित हैं। चौथा स्कन्ध संस्कार है जिसमे पूर्व जन्म के कारण उत्पन्न प्रवृत्तियाँ हैं। पाँचवाँ स्कन्ध विज्ञान अथवा चेतना है।

क्षणिकवाद

अनित्यवाद

बुद्ध के अनुसार "जितनी वस्तुएँ हैं सबो की उत्पत्ति कारणानुसार हुई है। ये सभी वस्तुएँ सब तरह से अनित्य हैं।"[2] "जो नित्य तथा स्थायी मालूम पड़ता है वह भी नश्वर हैं। जो महान मालूम पड़ता है उसका भी पतन है। जहाँ संयोग है वहाँ वियोग भी है। जहाँ जन्म है वहाँ मरण भी है।" पाँच बातें अत्यन्त आवश्यक हैं, जो वृद्ध हो सकता है उसको अवश्य वृद्ध होना चाहिए, जो रोगी हो सकता है वह अवश्य रोगी होगा, जो मृत्यु के आधीन है वह अवश्य मरेगा, जो नश्वर है उसका नाश अवश्यम्भावी है और जो अनित्य है वह अवश्य चला जायगा।"[3] इन नियमो को उल्लंघन कोई भी दैवी अथवा लौकिक शक्ति नहीं कर सकती। अनित्यवाद शाश्वतवाद और उच्छेदवाद का मध्य मार्ग है। "प्रत्येक वस्तु है यह एक एकान्तिक मत है, प्रत्येक वस्तु 'नहीं' है यह दूसरा एकान्तिक दृष्टिकोण है। इन दोनों ही एकान्तिक मतो को छोड़ कर बुद्ध मध्यम मार्ग का उपदेश देते हैं। और मध्यम सिद्धान्त का सार है कि जीवन संभूति (Bacoming) है, भावरूप है।"[4] संसार की प्रत्येक वस्तु

१ पोट्ठपाद-सुत्त २ महापरि निर्वाण सूत्र
३ अंगुत्त निकाय, ४ संयुत निकाय, १७

अनित्य धर्मों का संघात मात्र है। सब कुछ क्षणभंगुर है। संसार प्रतीत्य समुत्पाद के सिद्धान्त से नियमित है। उसका न आदि है न अन्त। इस प्रकार मनुष्य पशु, देवता पौधे वस्तुएँ शरीर, मन द्रव्य सभी कुछ अनित्य है। सभी का उत्पाद स्थिति और निरोध होता है।

बुद्ध के इस अनित्यवाद को उनके अनुयायियों ने क्षणिकवाद का रूप दे दिया।

क्षणिकवाद

वास्तव में प्रतीत्य समुत्पाद के सिद्धान्त से ही क्षणिक वाद का उपसिद्धान्त निकलता है। जो उत्पन्न होगा उसका विनाश भी अवश्य होगा और जिसका नाश होता वह स्थायी नहीं समझा जा सकता। अतः प्रत्येक वस्तु क्षणभंगुर है। क्षणिकवाद अनित्यवाद से भी आगे है। उसका अर्थ केवल यही नहीं है कि प्रत्येक वस्तु अनित्य है बल्कि उसके अनुसार प्रत्येक वस्तु एक क्षण भर को ही रहती है।

वैसे तो बाद के बौद्ध दार्शनिकों ने क्षणिकवाद के समर्थन में अनेक युक्तियाँ उपस्थित की हैं परन्तु इनमें एक तर्क अत्यधिक महत्व

अर्थ क्रिया कारित्व

पूर्ण है। वह है अर्थ—क्रिया-कारित्व का तर्क। अर्थ क्रिया—कारित्व का अर्थ है किसी कार्य को उत्पन्न करने की शक्ति। अर्थ-क्रिया-कारित्व लक्षण सत्। जो खरगोश के सींग के समान बिल्कुल असत् हो उससे कोई कार्य नहीं उत्पन्न हो सकता। इस सिद्धान्त के अनुसार जो वस्तु कार्य उत्पन्न कर सकती है उसकी तो सत्ता है और जिससे कोई कार्य उत्पन्न न हो सकता हो उसकी कोई सत्ता नहीं है। इसी प्रकार जब तक किसी वस्तु में कार्य करने की शक्ति हो तभी तक उसकी सत्ता है। जब उससे कोई कार्य नहीं होता तब उसका अस्तित्व भी नहीं है। दूसरे एक वस्तु से एक ही कार्य हो सकता है। यदि इस समय एक वस्तु से एक कार्य होता है और अगले क्षण कोई दूसरा कार्य होता है अथवा कार्य बिल्कुल नहीं होता तो उस पहले की वस्तु का अस्तित्व समाप्त हुआ समझना चाहिये। अतः एक वस्तु से एक क्षण में एक ही काम हो सकता है। उदाहरण के लिये एक बीज किन्हीं भी दो क्षणों में एक ही क्रिया नहीं उत्पन्न कर सकता। अभी उसमें पौधा नहीं उगा क्योंकि वह बोरे में है। मिट्टी में बो देने पर उससे पौधा उत्पन्न होता है। इस पौधे का क्षण-क्षण विकास होता है। विकास की क्रिया में कोई भी दो क्षण एक से नहीं हो सकते। अतः किसी भी दो क्षण के कार्य का कारण भी एक नहीं हो सकता अथवा यों कहिए कि पौधा भी क्षण-क्षण परिवर्तन शील है और उसका कारण बीज भी अर्थ क्रिया कारित्व के सिद्धान्त के अनुसार क्षण-क्षण परिवर्तन शील है।

इसी प्रकार संसार की सभी वस्तुएँ उपरोक्त बीज के समान ही क्षणिक

हैं। आत्मा भी क्षणिक है क्योंकि कोई भी मनुष्य किसी भी दो क्षणो मे एक सा नही रह सकता। यही सिद्धान्त क्षणिकवाद कहलाता है। बौद्ध का कर्म का और आत्मा का सिद्धान्त इस अनित्यता अथवा क्षणिक वाद के सिद्धान्त से अत्यधिक सम्बधित है। अत: क्षणिकवाद की आलोचना के प्रसग मे कर्मवाद और अनात्मवाद की भी आलोचना हो जायगी।

शकराचार्य ने क्षणिकवाद के विरुद्ध निम्नलिखित मुख्य तर्क उपस्थित किये हैं।

क्षणिकवाद की आलोचना

(१) यदि आत्मा क्षणिक है तो ज्ञान असभव है। बौद्ध दार्शनिक आत्मा और उसकी वृत्तियो मे अन्तर नही मानते। परिवर्तनशील वृत्ति को अन्य वृत्ति का ज्ञान नही हो सकता। परिवर्तन का ज्ञान अपरिवर्तित ज्ञाता को ही हो सकता है। शकर बोधि और प्रत्यय मे अन्तर करते हैं। प्रत्यय परिवर्तन शील है बोध नित्य है। ज्ञान के लिये एक ऐसे ज्ञाता की आवश्यकता है जो विभिन्न इन्द्रियो से आने वाले बिखरे हुए ज्ञान-अणुओ को सयुक्त कर सके। रेलगाडी को चलते हुए वही देख सकता है जो स्वय स्थित हो। प्रत्यक्ष मे बिखरी हुई सवेदनाओ को सयुक्त करना पडता है। यह आत्मा का ही कार्य है। परिवर्तन का अनुभव करने वाला स्वय परिवर्तन से परे होना चाहिये। केवल कुछ समानताओ के कारण ही कुछ अवस्थाओ को एक वस्तु की अवस्थाएँ नही कही जा सकती। उसके लिये उन समस्त अवस्थाओ मे एक सामान्य स्थायी तत्व की आवश्यकता है। इसी प्रकार आत्मा के क्षणिक होने पर तुलना, स्मरण, प्रत्यभिज्ञा आदि अन्य मानसिक क्रियायें भी असभव हैं।

(२) क्षणिकवाद के आधार पर कार्य कारण का सम्बन्ध नही समझाया जा सकता। यदि एक कारण एक ही क्षण रहता है और अगले क्षण बिल्कुल ही नही रहता तो फिर उससे कार्य की उत्पत्ति नही हो सकती क्योंकि कार्य की उत्पत्ति के लिये कारण की उपस्थिति ही पर्याप्त नही है बल्कि उसके लगातार क्रिया करने की आवश्यकता है। ऐसी अवस्था मे यदि कारण क्षण भगुर है तो कार्य शून्य से उत्पन्न हुआ माना जायगा और यदि ऐसा हो तो फिर किसी भी कारण से कोई भी कार्य उत्पन्न हुआ अथवा बिना कारण के भी कार्य उत्पन्न हुआ माना जायगा जो कि असभव है। कार्य कारण सम्बन्ध निरतरता के बिना असभव है और निरतरता क्षणिकवाद के विरुद्ध है। उत्पाद, स्थिति और विनाश तीनो एक ही क्षण मे नहीं हो सकते और यदि वे भिन्न-भिन्न क्षणों में होते हैं और यदि वे एक ही वस्तु की विभिन्न अवस्थाएँ हैं तो वस्तु को क्षणिक नही कहा जा सकता।

जैनाचार्य हेमचन्द्र ने क्षणिकवाद के विरुद्ध पाँच तर्क उपस्थित किये हैं जो कि निम्नलिखित श्लोक में आ जाते हैं।

> कृतप्रणाशाकृतकर्मभोगभवप्रमोक्षस्मृतिभंगदोषान् ।
> उपेक्ष्य साक्षात् क्षणभंगमिच्छन् अहो ! महासाहसिकः परस्ते ॥[1]

(१) कृत प्रणाश—क्षणिकवाद के आधार पर कर्म और उत्तरदायित्व को नहीं समझाया जा सकता। इससे नीति शास्त्र का भी खण्डन हो जाता है। यदि एक व्यक्ति ने कोई कर्म किया और उसके फल का भोग दूसरा व्यक्ति करता है तो उस दूसरे व्यक्ति को केवल समानता के आधार पर पहले के कर्म का फल कैसे दिया जा सकता है। राजा मिलिन्द के इस प्रश्न का बौद्धों के पास कोई उत्तर नहीं है कि यदि आत्मा क्षणिक विचारों का एक प्रवाह मात्र है तो कर्म करने वाला कौन है और किसको उसका फल मिलता है।

(२) कृत कर्म भोग—इसी प्रकार क्षणिकवाद के सिद्धान्त के आधार पर किये हुए कर्मों के भोग को भी समझाना कठिन है। यदि आत्मा क्षण-क्षण में परिवर्तन शील है तो फिर कर्मों के भोग भी परिवर्तन शील होंगे।

(३) भवभंग—क्षणिकवाद के आधार पर संसार (भव) को भी नहीं समझाया जा सकता और न उसका कोई अर्थ ही रहता है।

(४) मोक्षभंग—जब व्यक्ति क्षणिक है तो फिर दुःखों से छुटकारा पाने का प्रयास भी निरर्थक है क्योंकि दुःख भी तो क्षणिक होने चाहिये। फिर दुःखों से छुटकारा भी दूसरे ही व्यक्ति को मिलेगा क्योंकि प्रयत्न करने वाला तो क्षणिक है। इस प्रकार क्षणिकवाद के कारण बुद्ध का प्रथम आर्य सत्य और उसपर आधारित बाकी तीन आर्य सत्य भी निरर्थक हो जाते हैं। अष्टांग पथ का भी कोई अर्थ नहीं रहता और स्वयं बुद्ध धर्म ही निरर्थक हो जाता है। इस सिद्धान्त के आधार पर मोक्ष का कोई अर्थ नहीं रहता क्योंकि वह भी क्षणिक हो जाता है। वास्तव में संसार की परिवर्तन शीलता से कोई भी इनकार नहीं कर सकता परन्तु यह परिवर्तन शीलता सर्वथा व्यावहारिक है। उसको परम तत्वमान लेने पर निर्वाण निरर्थक हो जाता है। निर्वाण का कोई अर्थ तभी हो सकता है जबकि उसको पारमार्थिक और क्षणिकवाद को व्यावहारिक माना जाय। इस विषय में हीनयान मत के अनुयायियों ने कुछ सुझाव उपस्थित किये हैं परन्तु वे समीचीन नहीं हैं।

(५) स्मृति-भंग—शंकर के समान हेमचन्द्र ने भी यह आक्षेप किया है कि क्षणिकवाद के सिद्धान्त के आधार पर ज्ञान और मानस की विविध क्रियायें तथा स्मृति प्रत्यभिज्ञा आदि को नहीं समझाया जा सकता।

---

[1] अन्ययोगव्यवच्छेदिका १

वास्तव मे बौद्ध दार्शनिकों ने परिवर्तन के तत्व पर अत्यधिक जोर दिया है और आत्मा के नित्यपक्ष को बिल्कुल ही भुला दिया है। आत्मा के भी दो पक्ष हैं, परमार्थिक तथा मनोवैज्ञानिक। शकर ने इस भेद को "स्वयं सिद्ध" और 'आगन्तुक' आत्मा मे भेद करके समझाया है। व्यवहारिक अथवा मनोवैज्ञानिक या आगन्तुक आत्मा मे निरतर परिवर्तन होता है और इस तथ्य से कोई भी इनकार नही कर सकता। परन्तु इस परिवर्तन शील पक्ष के पीछे एक नित्य, स्वय-सिद्ध कूटस्थ आत्मा है जिसको माने बिना परिवर्तन-शील पक्ष निरथक हो जाता हैं। सभूति (Becoming) पर अत्यधिक जोर देने से बौद्ध दार्शनिक मत (Being) को बिल्कुल भूल जाते हैं। वास्तव में, जैसा कि उपनिषदो ने कहा है सत और सभूति दोनों ही एक परम सत्य के दो रूप हैं।

अष्टम अध्याय

बौद्ध दर्शन के सम्प्रदाय

धार्मिक सम्प्रदाय

(हीनयान तथा महायान)

बुद्ध के निर्वाण के पश्चात् उनके द्वारा स्थापित 'संघ' के लोग भिन्न-भिन्न पंथ के अनुसार बुद्ध के कथनों का भिन्न-भिन्न अर्थ लगाने लगे। इस प्रकार बौद्ध अनेक सम्प्रदायों में बँट गए। इनमें दो मुख्य थे—महासांघिक तथा स्थविरवाद।

महासांघिक तथा स्थविर वाद

महासांघिक बौद्ध तर्क से काम लेते थे। उनके मत के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति बुद्ध हो सकता है। 'स्थविरवाद' के अनुयायी परंपरा के भक्त थे। वे रूढ़िवादी थे और सब प्रकार के परिवर्तन के घोर विरोधी थे। उनके अनुसार सभी लोगों में बुद्ध बनने की शक्ति नहीं होती। यह तो तपस्या से सुलभ होती है। अत्यधिक मतभेद बढ़ने पर महासांघिकों ने स्थविर वादियों को 'हीनयान' और अपने सम्प्रदाय को 'महायान' कहना प्रारंभ किया।

हीनयान और महायान

हीनयान का अर्थ है निर्वाण पद की प्राप्ति के लिये निम्न अथवा अनुपयुक्त मार्ग। महायान का अर्थ है निर्वाण की प्राप्ति के लिये प्रशस्त मार्ग। हीनयान का अर्थ 'छोटी गाड़ी' अथवा 'छोटा पंथ' भी है अर्थात् जिसके द्वारा कम ही व्यक्ति जीवन के लक्ष्य स्थान तक जा सकते हैं। महायान का अर्थ 'बड़ी गाड़ी' या 'बड़ा पन्थ' है अर्थात् जिसके द्वारा अनेक व्यक्ति जीवन के लक्ष्य-स्थान तक पहुँच सकते हैं।

स्थूल रूप से हीनयान और महायान में निम्नलिखित भेद हैं :—

हीनयान और महायान का भेद

(१) हीनयान के साधक 'अर्हत्' पद को ही चरम लक्ष्य मानते हैं। इस पद पर पहुँच कर साधक ज्ञाननिष्ठ हो जाता है। महायान के साधक 'बोधिसत्व' की अवस्था तक पहुँचना चाहते हैं। इस पद पर पहुँच कर दूसरों का कल्याण करने की शक्ति प्राप्त होती है।

माना है। महायान के अनुसार केवल हीनात्मग्राही मिथ्या है। पारमार्थिक आत्मा अर्थात् महात्मा मिथ्या नहीं है।

(७) वास्तव में हीनयान का सम्बन्ध आदर्श की शुद्धता या स्वच्छता से है किन्तु महायान का सम्बन्ध उसकी उपयोगिता से है। हीनयान में मूल बौद्ध मत की अधिकांश बातें ज्यों की त्यों बनी रहीं। महायान के प्रसार होने के कारण उसमें अनेकानेक नवीन विचार मिल गए।

( ) परन्तु रूढ़िवादी होने के कारण हीनयान में शुष्कता कठोरतावाद संकुचितता तथा कभी-कभी अन्धविश्वास तक मिलता है। दूसरी ओर प्रगतिशील होने के कारण महायान में जगत के प्रति एक स्वस्थ और प्रसन्न दृष्टि कोण विचारों में व्यापकता और उदारता मिलती है।

दार्शनिक सम्प्रदाय

यद्यपि बुद्ध पूर्ण बुद्धिवादी थे और उन्होंने जो कुछ भी कहा उसका युक्ति से समर्थन किया तथापि कुछ दार्शनिक प्रश्नों के विषय में उनके मौन रहने और अन्य के विषय में कोई स्पष्ट बात न कहने के कारण बाद के बौद्ध दार्शनिकों ने इन विषयों पर बुद्ध के विचार के सम्बन्ध में भिन्न भिन्न मत उपस्थित किये। बुद्ध के दार्शनिक मत में ऐहिकवाद (Positiv sm) प्रतीतिवाद (Phenomenalism) तथा अनुभववाद (Empiricism) के बीज मिलते हैं। उनके मत को ऐहिकवाद कहा जा सकता है क्योंकि उनका कहना था कि हमें इस लोक में तथा इसी जीवन में ही उन्नति की चिन्ता करनी चाहिये। उसे प्रतीतिवाद कह सकते हैं क्योंकि बुद्ध के अनुसार हमें केवल उनके विषयों का निश्चित ज्ञान मिलता है जो अनुभव गोचर तथा दृश्यमान है। कुछ लोग इसे अनुभववाद भी मानते हैं क्योंकि उनके अनुसार अनुभव ही प्रमाण है। परमतत्व के विषय में कुछ दार्शनिक बुद्ध को संशयवादी (Agnostic) कुछ रहस्यवादी (Mystic) तथा कुछ अतीन्द्रियवादी (Transcenden talist) मानने लगे। अनुभववादी बुद्ध को संशयवादी मानते हैं क्योंकि उनके अनुसार अप्रत्यक्ष विषय का ज्ञान असम्भव है। बुद्ध कभी-कभी ऐसे ज्ञान का जिक्र करते थे जो अलौकिक होने के कारण तार्किक युक्तियों से नहीं जाना जा सकता। बुद्ध ने प्रज्ञा को परम ज्ञान माना है। प्रज्ञा अतीन्द्रिय है। अतः कुछ दार्शनिक बुद्ध के मत में अतीन्द्रिय सत्य मानते हैं। बुद्ध ने ऐसे ज्ञान को माना है जो अनुभव या तर्क से प्रमाणित नहीं हो सकता और न साधारण लौकिक विचारों और शब्दों द्वारा जिसका वर्णन ही हो सकता है। इस आधार पर कुछ लोग बुद्ध को रहस्यवादी मानते हैं।

> **मार्जिन टिप्पणी:** दार्शनिक विषयों में बुद्ध की अस्पष्टता के कारण विभिन्न मतों की उत्पत्ति

इस प्रकार गंभीर दार्शनिक प्रश्नों को लेकर बौद्ध दर्शन की तीस से अधिक शाखायें स्थापित हो गईं। मुख्य दो धार्मिक सम्प्रदाय हीनयान तथा महायान का वर्णन पीछे किया जा चुका है। महायान के दो मुख्य भेद हुए—शून्यवाद या आध्यात्मिक और विज्ञानवाद या योगाचार।

बौद्ध दर्शन के चार प्रमुख सम्प्रदाय

हीनयान के भी दो मुख्य भेद हुए—वैभासिक अथवा बाह्य प्रत्यक्षवादी तथा सौत्रान्तिक अथवा बाह्यानुमेय वादी। बाह्य सत्ता के अस्तित्व के प्रश्न को लेकर सौत्रान्तिक तथा वैभासिक मानसिक तथा बाह्य सभी वस्तुओं को सत्य मानते हैं और इस कारण सर्वास्तित्ववादी या सर्वास्तिवादी कहलाते हैं। ज्ञान किस प्रकार का होता है? इस प्रश्न को लेकर सर्वास्तिवादियों में मत-भेद है। सौत्रान्तिक के अनुसार बाह्य वस्तुओं का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता। वैभासिकों के अनुसार बाह्य वस्तुओं का ज्ञान प्रत्यक्ष के द्वारा भी प्राप्त होता है।

सर्वास्तिवादी सम्प्रदाय
(वैभासिक और सौत्रान्तिक)

सर्वास्तिवादी जैसा कि उनके नाम से ही प्रकट है प्रत्येक वस्तु का अस्तित्व मानते हैं। चित्त तथा बाह्य वस्तु दोनों ही का अस्तित्व है, दोनों में ही अनेक तत्व हैं। ये तत्व (Elements) धर्म कहलाते हैं। धर्म पचहत्तर प्रकार के हैं। धर्मों के सगठन को सघात कहते हैं। स्टरवस्की (Stcher batsky) ने इसी कारण सर्वास्तिवाद को "सघातवाद" कहा है। जड सघात ग्यारह प्रकार के हैं। चित्त भी एक सघात है। चैत्य-सघात छियालीस प्रकार के हैं। तीन धर्मों का सघात नहीं होता ये हैं आकाश, अप्रतिसख्या निरोध और प्रतिसख्यानिरोध। जडतत्व की इकाई अणु है, अणु चार प्रकार के हैं—पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु। पाँच प्रकार के विशेष अणुओं से पचेन्द्रियाँ बनती हैं। अणु अतीन्द्रिय हैं। उनके समुदायों का ही प्रत्यक्ष हो सकता है।

वैभासिक

वैभासिक चित्त और जड तत्व दोनों को मानते हैं। दोनों ही धर्मों से बने हैं। कोई भी नित्य आत्मा नहीं है। आकाश और निर्वाण नित्य हैं। धर्म चार हैं यथा पृथ्वी, जल, वायु और अग्नि। पृथ्वी कठोर है, जल शीतल है। अग्नि में गरमी है वायु गतिशील है। बाह्य वस्तुयें सत्य हैं। वे अणुओं के सघात (Compound) हैं। अणु में रूप, शब्द, स्वाद और आकार नहीं होता। वह अविभाज्य है, वे एक दूसरे में प्रवेश नहीं कर सकते। दृश्य

अणु अदृश्य परमाणुओं का संघात है। यहाँ पर संघात परमाणु और द्रव्य परमाणु में अन्तर किया गया है। संघात-परमाणु सम्बन्ध की सूक्ष्मतम अवस्था है। द्रव्य परमाणु में रूप नहीं होता (रूपविनं द्रव्यम) उसमें भाग नहीं होते। द्रव्य परमाणु आठ प्रकार के हैं—पृथ्वी जल अग्नि वायु, गन्ध रस रूप स्पर्श तथा काम धातु।

सौत्रान्तिक के बाह्यानुमेयवाद की आलोचना

वैभाषिक दार्शनिक सौत्रान्तिक के बाह्यानुमेयवाद की आलोचना करते हैं। वैभाषिकों के अनुसार ज्ञान से बाह्य वस्तुओं का अनुमान लगाना 'विरुद्ध माया' है। यदि सभी बाह्य वस्तुओं का अनुमान उनके ज्ञान से लगाया जाता है तो फिर किसी भी वस्तु का प्रत्यक्ष नहीं होगा। प्रत्यक्ष न होने से पक्ष और साध्य में व्याप्ति नहीं हो सकती जिसके बिना अनुमान भी असंभव है। यह यथार्थ अनुभव के विपरीत बात है। वास्तव में वस्तु दो प्रकार की हैं—ग्राह्य तथा अध्यवसेय।

अनुभव के भेद

इसी प्रकार अनुभव भी दो प्रकार के हैं यथा ग्रहण तथा अध्यवसाय। ज्ञान की प्रथम अवस्था में इन्द्रियों द्वारा निराकार रूप में जो ज्ञान होता है उसे ग्रहण कहते हैं। यह निर्विकल्प ज्ञान है। यही ज्ञान जब साकार अथवा सविकल्प रूप में ज्ञात होता है तब इसे अध्यवसाय कहते हैं। वैभाषिक बाह्य की उपस्थिति को मानते हैं। तथा उन्हें प्रत्यक्ष का विषय मानते हैं।

ज्ञान की प्रक्रिया

इन्द्रियाँ छः हैं। इन्द्रियाँ दूर से ही अपने अपने विषयों का ज्ञान प्राप्त कर लेती हैं। उनमें विषयों से बाह्य सम्बन्ध नहीं दिखाई देता। इनमें आँख कान तथा मन आते हैं। अन्य इन्द्रियों को ज्ञान के लिये विषयों से संयुक्त होना अत्यन्त आवश्यक है। ये अपने विषयों को आश्रय हैं (आश्रयावयसुराश्रय)। इस कारण इन्द्रियों के दोष से ज्ञान में भी भेद होता है। बाह्य वस्तु के सम्पर्क में आकर इन्द्रियों में एक प्रकार का संस्कार होता है। इन संस्कारों से चित्त प्रबुद्ध होता है और उसमें चैतन्य की अभिव्यक्ति होती है। इसके बाद चित्त में भिन्न भिन्न प्रकार का ज्ञान उदय होता है।

प्रमाण विचार

वैभाषिक लोगों के अनुसार 'प्रमाण' उसे कहते हैं जिसके द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञान हो। प्रमाण दो प्रकार के हैं—प्रत्यक्ष और अनुमान। ये दोनों प्रमाण 'सम्यक् ज्ञान' कहलाते हैं और इनसे ही समस्त पुरुषार्थों की सिद्धि होती है।

इस प्रकार गभीर दार्शनिक प्रश्नो को लेकर बौद्ध दर्शन की तीस से अधिक शाखायें स्थापित हो गईं । मुख्य दो धार्मिक सम्प्रदाय हीनयान तथा महायान का वर्णन पीछे किया जा चुका है। महायान के दो मुख्य भेद हुए—शून्यवाद या आध्यात्मिक और विज्ञानवाद या योगाचार ।

बौद्ध दर्शन के चार प्रमुख सम्प्रदाय

हीनयान के भी दो मुख्य भेद हुए—वैभासिक अथवा वाह्य प्रत्यक्षवादी तथा सौत्रान्तिक अथवा वाह्यानुमेय वादी । वाह्य सत्ता के अस्तित्व के प्रश्न को लेकर सौत्रान्तिक तथा वैभासिक मानसिक तथा वाह्य सभी वस्तुओ को सत्य मानते हैं और इस कारण सर्वास्नित्ववादी या सर्वास्तिवादी कहलाते हैं। ज्ञान किस प्रकार का होता है ? इस प्रश्न को लेकर सर्वास्तिवादियो में मत-भेद है। सौत्रान्तिक के अनुसार वाह्य वस्तुओ का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता। वैभासिको के अनुसार वाह्य वस्तुओ का ज्ञान प्रत्यक्ष के द्वारा भी प्राप्त होता है।

सर्वास्तिवादी सम्प्रदाय
(वैभासिक और सौत्रान्तिक)

सर्वास्तिवादी जैसा कि उनके नाम से ही प्रकट है प्रत्येक वस्तु का अस्तित्व मानते हैं। चित्त तथा वाह्य वस्तु दोनों ही का अस्तित्व है, दोनों में ही अनेक तत्व हैं। ये तत्व (Elements) धर्म कहलाते हैं। धर्म पचहत्तर प्रकार के हैं। धर्मों के सगठन को सघात कहते हैं। स्टरवस्की (Stcher-batsky) ने इसी कारण सर्वास्तिवाद को "सघातवाद" कहा है। जड सघात ग्यारह प्रकार के हैं। चित्त भी एक सघात है। चैत्य-सघात छियालीस प्रकार के हैं। तीन धर्मों का सघात नहीं होता ये हैं आकाश, अप्रतिसख्या निरोध और प्रतिसख्यानिरोध। जडतत्व की इकाई अणु है, अणु चार प्रकार के हैं—पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु। पाँच प्रकार के विशेष अणुओ से पचेन्द्रियाँ बनती है। अणु अतीन्द्रिय हैं। उनके समुदायो का ही प्रत्यक्ष हो सकता है।

वैभासिक

वैभासिक चित्त और जड तत्व दोनों को मानते हैं। दोनों ही धर्मों से बने हैं। कोई भी नित्य आत्मा नहीं है। आकाश और निर्वाण नित्य हैं। धर्म चार है यथा पृथ्वी, जल, वायु और अग्नि। पृथ्वी कठोर है, जल शीतल है। अग्नि मे गरमी है वायु गतिशील है। वाह्य वस्तुयें सत्य हैं। वे अणुओं के सघात (Compound) हैं। अणु में रूप शब्द, स्वाद और आकार नहीं होता। वह अविभाज्य है, वे एक दूसरे में प्रवेश नही कर सकते। दृश्य

है वह 'स्वभाव हेतु' कहलाता है।[४] 'स्वसत्तामात्रभावी' साध्य वह पदार्थ है जो कि अपने हेतु को करके ही विद्यमान होता है और अन्य हेतु की अपेक्षा नहीं रखता जैसे कि यह पशु है क्योंकि यह गाय है यहाँ पर 'गाय' होने के कारण ही यह पशु है।

(२) कार्य—साध्य के कार्य को देखकर उसकी उपलब्धि का अनुमान करना जैसे यहाँ अग्नि है क्योंकि यहाँ धुआँ है इस वाक्य में धुआँ 'कार्य' से अग्नि 'साध्य' का अनुमान होता है।

उपरोक्त तीनों हेतुओं में 'स्वभाव' और 'कार्य' वस्तु की उपस्थिति बतलाता है और 'अनुपलब्धि' वस्तु की अनुपस्थिति बतलाता है। परार्थानुमान के दो भेद हैं—साधर्म्यवत् और वैधर्म्यवत्। इन दोनों में केवल प्रयोग का भेद है अर्थ का कोई भेद नहीं है।

प्रमाण (२)
- प्रत्यक्ष (४)
  - इन्द्रिय ज्ञान
  - मनोविज्ञान
  - आत्म संवेदन
  - योगिज्ञान
- अनुमान (२)
  - स्वार्थ
  - परार्थ (२)
    - साधर्म्यवत्
    - वैधर्म्यवत्

तत्त्व विचार
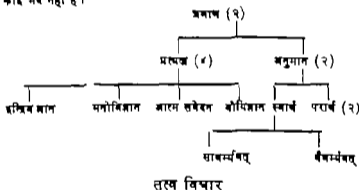
वैभाषिक मत में तत्त्वों का विचार दो दृष्टिकोण से किया गया है—विषयगत तथा विषयिगत। इनसे ज्ञान के भिन्न-भिन्न विभागों को देखने से पूर्व 'धर्म' शब्द का अर्थ जान लेना उपयोगी होगा।

धर्म

धर्म शब्द का बौद्ध दर्शन में अत्यधिक प्रयोग हुआ है। इसका अर्थ भी कुछ विचित्र है। 'धर्म' गुण और चित्त के उन सूक्ष्म तत्त्वों को कहते हैं जिनके आघात और प्रतिघात से समस्त जगत की सृष्टि होती है। इस प्रकार समस्त जगत धर्मों का संघातमात्र है। सभी धर्म सत्तात्मक हैं और हेतु से उत्पन्न हैं। सभी स्वतन्त्र हैं। प्रत्येक की

---

४ स्वभावः स्वसत्तामात्रभाविनि साध्यधर्मे हेतुः।

न्याय बिन्दु, तृतीय परिच्छेद।

प्रत्यक्ष कल्पना तथा भ्रान्ति से रहित ज्ञान है। यह चार प्रकार का होता है—

प्रत्यक्ष के भेद

(१) **इन्द्रियज्ञान**—जो इन्द्रियो के द्वारा उत्पन्न हो। (२) **मनोविज्ञान**—इसमे इन्द्रिय ज्ञान के पश्चात् 'समनन्तर प्रत्यय' के रूप मे इन्द्रियज्ञान से उत्पन्न होने वाला ज्ञान है। समनन्तर प्रत्यय वह मानमिक 'वृत्ति' है जिसके अभाव मे देखते रहने पर भी ज्ञान नही होता। मनोविज्ञान विपय और विज्ञान दोनो से उत्पन्न होता है। (३) **आत्मसवेदन**—चित्त और चैतसिक धर्म अर्थात मुख दु खादि का अपने स्वरूप मे प्रकट होना आत्मसवेदन कहलाता है। यह आत्मसाक्षात्कारि, निर्विकल्प तथा अभ्रान्त है। ४ **योगी ज्ञान**—इसमे प्रमाणो के द्वारा दृष्ट अर्थ का चरम सीमा तक ज्ञान है। प्रत्यक्ष का विषय स्वलक्षण है। स्वलक्षण वह विपय है जिसके सान्निध्य और असान्निध्य से ज्ञान के प्रतिभास मे भेद हो। उसी के द्वारा वस्तु मे अथ-क्रिया की शक्ति है। अत वही 'परमार्थ सत्' है।

अनुमान के भेद

अनुमान दा प्रकार का है—**स्वार्थ और पदार्थ**। पहले मे लिंग अनुमेय मे रहता है। उदाहरण के लिये जैसे पहाड मे अग्नि है यहाँ पर पहाड लिंग है और आग अनुमेय है। इसमे लिंग सपक्ष मे रहता है जैसे रसोईघर सपक्ष है। लिंग विपक्ष जैसे जलाशय मे नही रहता है धमकीर्ति के शब्दो मे अनुमेय निरूप लिंग से जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसे स्वार्थानुमान कहते हैं"[1] यह 'ज्ञान' है जबकि परार्थानुमान 'कथन' है। धर्म कीर्ति के अनुसार '**त्रिरूप लिंग**' के 'कथन' को 'परार्थानुमान' कहते हैं।[2] ये तीनो रूप निम्नलिखित हैं[3] —

(१) **अनुपलब्धि**—किसी वस्तु का न मिलना अनुपलब्धि कहलाता है। उदाहरण के लिये किसी एक स्थान पर स्वभावत घट की उपलब्धि पाई जाने पर भी (घट के उपलब्धि लक्षण प्राप्त होने पर भी) वहाँ उसकी अनुपलब्धि है अर्थात् घर वहाँ नही है। यहाँ पर अनुपलब्धि हेतु के कथन द्वारा अनुमान किया गया है।

(२) **स्वभाव**—धर्म-कीर्ति के अनुसार 'स्वसत्तामात्रभावी' साध्य मे जो हेतु

---

१ तत्र स्वार्थ त्रिरुपाल्लिङगाद्‌यनुमेये ज्ञानं तदनुमानम्।

—न्याय बिन्दु, द्वितीय परिच्छेद, ३।

२ त्रिरूपलिङ्गाख्यान परार्थानुमानम्।

—न्याय बिन्दु, तृतीय परिच्छेद, १।

३ अनुपलब्धि स्वभाव कार्येच।

न्याय बिन्दु, द्वितीय परिच्छेद।

(२) चित्त—चित्त इन्द्रियों तथा उनके विषयों के आघात प्रतिघात से उत्पन्न होता है। इस आघात प्रतिघात का नाश होने पर चित्त का भी नाश हो जाता है। बौद्ध दर्शन में चित्त मन तथा विज्ञान का एक ही अर्थ है। वैभाषिक दार्शनिकों के अनुसार चित्त ही एक मुख्य तत्व है। चित्त में समस्त संस्कार रहते हैं। यही लोक तथा परलोक में जाता आता है। हेतु-प्रत्यय से उत्पन्न होने के कारण इसकी सत्ता स्वतन्त्र नहीं है यह प्रतिक्षण परिवर्तनशील है। यह एक है परन्तु उपाधियों के कारण इसके अनेक भेद हो जाते हैं।

(३) चैतसिक—'चैतसिक' या 'चित्त संप्रयुक्त धर्म' चित्त से घनिष्ठ संबंध रखने वाले मानसिक व्यापार को कहते हैं। अभिधर्म कोश के अनुसार इसके छियालिस भेद हैं।

(४) चित्त विप्रयुक्त—'चित्त विप्रयुक्त धर्म' वे धर्म हैं जो न तो रूप धर्मों में और न चित्त के धर्मों में परिगणित हों। ये चौदह हैं।

जगत का विषयिगत विभाग

विषयिगत दृष्टि से जगत के तीन भाग किये गए हैं—'स्कन्ध' 'आयतन' तथा 'धातु'।

स्कन्धों के भेद

स्कन्ध परिवर्तनशील है। जीव पांच स्कन्धों से बना है—रूप वेदना संज्ञा संस्कार तथा विज्ञान। जगत के समस्त भूत तथा भौतिक पदार्थों को रूप स्कन्ध कहते हैं। इसी से जीव का स्थूल शरीर बनता है। वेदना स्कन्ध में सुख दुख तथा विषाद के बोध सम्मिलित हैं। संज्ञा स्कन्ध में नाना प्रकार के ज्ञान आते हैं संस्कार स्कन्ध में पूर्व जन्म के कारण उत्पन्न प्रवृत्तियाँ हैं। विज्ञान स्कन्ध चेतना है।

आयतनों के भेद

ज्ञान के आधार को आयतन कहते हैं। इनमें इन्द्रियाँ तथा उनके विषय सम्मिलित हैं। इन्हीं के आधार पर वस्तुओं का ज्ञान होता है। आयतन बारह हैं। इनमें मन सहित छः इन्द्रियाँ तथा उनके छः विषय सम्मिलित हैं। वैभाषिकों के अनुसार इनके परे किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं है। अतः बौद्ध आत्मा को नहीं मानते क्योंकि न तो उसका ज्ञान इन्द्रियों के द्वारा होता है और न वह किसी भी इन्द्रिय का विषय है। 'धर्म आयतन' में चौंसठ धर्म हैं। इसे 'धर्मायतन' भी कहा है। बाकी ग्यारह आयतनों में से प्रत्येक में एक एक धर्म है।

अलग अलग सत्ता है। ये क्षणिक हैं अर्थात् क्षण में परिवर्तित होते रहते हैं। परिणाम के कारण इनका विनाश होता है।

जगत का विषयगत विभाग

'विषयगत दृष्टि' से जगत के धर्मों को दो भागों में बाँटा गया है—असंस्कृत धर्म तथा संस्कृत धर्म। असंस्कृत का अर्थ है—नित्य, स्थायी, शुद्ध तथा जो किसी हेतु या कारण की सहायता से उत्पन्न न हो। ये अपरिवर्तनीय हैं। ये किसी वस्तु की उत्पत्ति के लिये संघटित नहीं होते। 'संस्कृत धर्म' अनित्य, अस्थायी तथा मलीन होते हैं। ये हेतु प्रत्यय द्वारा वस्तुओं के संघटन से उत्पन्न होते हैं।

असंस्कृत तथा संस्कृत धर्म

सर्वास्तिवादी तीन प्रकार के असंस्कृत धर्म मानते हैं—प्रति संख्या निरोध, अप्रति संख्या निरोध तथा आकाश।[1]

असंस्कृत धर्म के भेद

(१) प्रति संख्या निरोध—'प्रति संख्या' का अर्थ है प्रज्ञा।

अतः प्रतिसंख्या निरोध का अर्थ है जिसका प्रज्ञा से निरोध हो। इसके उदय होने से सभी 'सास्रव' अर्थात् राग, द्वेष आदि धर्मों का निरोध हो जाता है।

(२) अप्रति संख्या निरोध—अप्रति संख्या निरोध वह अवस्था है जब प्रज्ञा के बिना ही निरोध हो अर्थात् स्वभाव से ही सास्रव धर्मों का निरोध हो जाय। सास्रव धर्म हेतु प्रत्यय से उत्पन्न होते हैं। अतः उन हेतुओं का नाश होने पर इन सभी धर्मों का प्रज्ञा के बिना ही निरोध हो जायगा। इस प्रकार निरुद्ध धर्म फिर नहीं उत्पन्न होते। वास्तव में प्रतिसंख्या निरोध में निरोध का ज्ञान मात्र होता है। अप्रति संख्या निरोध में ही वास्तविक निरोध होता है।

(३) आकाश—आकाश आवरण के अभाव को कहते हैं। वह न किसी का अवरोध करता है और न किसी से अवरुद्ध होता है। इसी लिये कहा है—'आकाशम् अनावृत्ति'। वह भाव रूप, नित्य तथा अपरिवर्तनशील है।

संस्कृत धर्म के चार भेद माने गए हैं—रूप, चित्त, चैतसिक तथा 'चित्तविप्रयुक्त'।

संस्कृत धर्म के भेद

(१) रूप—जो पदार्थ अवरोध उत्पन्न करे वह 'रूप' है। इस प्रकार जगत के समस्त भूत और भौतिक पदार्थ 'रूप' हैं। रूप के ग्यारह भेद हैं—पाँच बाह्येन्द्रिय (चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसना, काय), इनके पाँच विषय (रूप, शब्द, गन्ध, रस तथा स्प्रष्टव्य) तथा अविज्ञप्ति। अभि धर्म कोश में इनके भी अनेक भेद दिये गए हैं।

---

[1] अभिधर्म कोश

तत्त्व विचार (२)
विषयगत (२)
विषयिगत (३)
असंस्कृत धर्म (३)
संस्कृत धर्म (४)
प्रतिसंख्या निरोध
अप्रतिसंख्या निरोध
आकाश
स्कन्ध (५)
रूप
वेदना
संज्ञा
संस्कार
विज्ञान
आयतन (१२)
धातु (१८)
रूप (११)
चित्त
चैतसिक (४६)
चित्तविप्रयुक्त धर्म (१४)
बाह्येन्द्रिय (५)
विषय (५)
अविज्ञप्ति
चक्षु
श्रोत्र
घ्राण
रसना
काय
रूप
शब्द
गन्ध
रस
स्प्रष्टव्य
इन्द्रियां (६)
विषय (६)
चक्षु
श्रोत्र
घ्राण
रसना
काय
मन
रूप
शब्द
गन्ध
रस
स्पर्श
धर्म
इन्द्रियां (६)
विषय (६)
विज्ञान (६)
चक्षु
श्रोत्र
घ्राण
रसना
काय
मन
रूप
शब्द
गन्ध
रस
स्पर्श
धर्म
चक्षु
श्रोत्र
घ्राण
रसना
काय
मन

वसु बन्धु क अनुसार धातुए ज्ञान के अवयव अर्थात् वे सूक्ष्म तत्व है जिनके समूह मे ज्ञान की सन्तति की उत्पत्ति होती है। बौद्ध दर्शन म धातु का अर्थ 'स्वलक्षण' अर्थात् स्वतन्त्र सत्ता रखने वाला है। धातुओ के निम्नलिखित अठ्ठारह भेद हैं।

धातुओं के भेद

इन्द्रिय	विषय	विज्ञान
१ चक्षुर्धातु	७ रूपधातु	१३ चक्षुर्विज्ञान (चक्षुषज्ञान)
२ श्रोत्रधातु	८ शब्द धातु	१४ श्रोत्र विज्ञान (श्रावण ज्ञान)
३ घ्राण धातु	९ गन्ध धातु	१५ घ्राण विज्ञान (घ्राणज ज्ञान)
४ रसना धातु	१० रस धातु	१६ रसन विज्ञान (रसन ज्ञान)
५ काय धातु	११ स्प्रष्टव्य धातु	१७ काय विज्ञान (स्पार्शन ज्ञान)
६ मनो धातु	११ धर्म धातु	१८ मनोविज्ञान (अन्त करण के भावो का ज्ञान)

इस प्रकार अठारह धातुओ मे छ इन्द्रियाँ, छ इन्द्रियो के विषय तथा छ इन्द्रियो के विषयो मे उत्पन्न विज्ञान होते हैं। इनमे से पहले बारह आयतन ही हैं। इनमे धर्म धातु मे चौंसठ धर्म हैं। मन को छोडकर वाकी दस धातुओ म एक एक धर्म हैं। इस प्रकार जैसा कि पहले कहा जा चुका है सर्वस्तिवाद मे पचहत्तर धर्म होते ह।

अर्हत लोग सत्य मार्ग का अनुसरण करके जो अवस्था प्राप्त करते हैं उसका नाम 'निर्वाण' है। यह स्वतन्त्र, सत्, एक, नित्य तथा ज्ञान का आधार है। इसमे कोई भेद नही रहता। इसीलिये कहा गया है—'निर्वाण शान्तम्'। इसका कोई कारण नही है। यह भावरूप है। सर्वस्तिवादी निर्वाण को असस्कृत धर्म मे ही मानते हैं। अभिधर्मकोश के अनुसार यह 'सोपाधिशेष निर्वाण धातु' की प्राप्ति है। इसका चित्त अथवा चैतसिक से कोई सम्बन्ध नही है। यह आकाश के समान अनन्त, अपरिमित तथा अनिर्वचनीय है। निर्वाण की प्राप्ति 'मार्ग' का अनुसरण करने से सास्रव धर्मों का नाश होने पर होती है।

निर्वाण

सौत्रान्तिक

सूत्र—पिटक पर आधारित होने के कारण यह सम्प्रदाय सौत्रान्तिक कहलाता है। ये लोग पहले वैभासिको के साथ स्थविरवाद के ही अन्तर्गत थे। परन्तु बाद मे दृष्टिकोण का भेद होने पर ये उनसे पृथक हो गए। इन्हे अभिधर्मपिटक तथा विभाषा मे श्रद्धा नही है। विभाषा में श्रद्धा रखने के कारण ही दूसरे सम्प्रदाय का

नाम वैभागिक पडा जैसा कि पहले वतलाया जा चुका है वैभासिक बाह्य प्रत्यक्ष वादी है और सौत्रान्तिक वाह्यानुमेयवादी है।

प्रमाण विचार

सौत्रान्तिको के अनुसार ज्ञान के चार कारण अथवा प्रत्यय होते हैं।

ज्ञान के चार कारण

(१) आलम्बन—घटादि वाह्य विषय का कारण है क्योंकि उसीसे ज्ञान का आकार उत्पन्न होता है।

(२) समनन्तर—इसका यह नाम इसलिये है क्योंकि ज्ञान के अव्यवहित पूर्ववर्ती मानसिक अवस्था मे ज्ञान मे चेतना आती है।

(३) अधिपति—इन्द्रियो को ज्ञान का अधिपति प्रत्यय कहा जाता है। यह नियामक कारण है, इन्द्रिय के बिना आलम्बन और समनन्तर के रहते भी वाह्य ज्ञान नही हो सकता। इन्द्रियो पर ही किसी विषय का रूप-ज्ञान, स्पर्श-ज्ञान अथवा अन्य प्रकार का ज्ञान होना निर्भर है।

(४) सहकारी प्रत्यय—आलोक, आवश्यक दूरी, आकार आदि के सहायक कारण है जिनका होना भी ज्ञान के लिये आवश्यक है।

उपरोक्त चार कारणो से वस्तु का ज्ञान सभव होता है। सौत्रान्तिक न तो विज्ञान वादियो के समान यह मानते हैं कि वाह्य वस्तु का कोई अस्तित्व नही है और समस्त ज्ञान विज्ञान मे ही है और न वैभासिको के समान यह मानते है कि हमे किसी वस्तु का सीधा वाह्य प्रत्यक्ष होता है।

वाह्यानुमेयवाद

विज्ञानवादियो के विरुद्ध उनका यह कहना है कि वस्तु और ज्ञान के समकालीन होने से वे अभिन्न नही हो सकते। घट के प्रत्यक्ष मे घट के वाहर और उसके ज्ञान के हमारे अन्दर होने का भी स्पष्ट अनुभव होता है। घट में और मुझमे कोई भेद न होने पर मैं यह कहता कि मैं ही घट हूँ। अत वस्तु ज्ञान से भिन्न है। दूसरे वाह्य वस्तुओ की अनुपस्थिति मे घट ज्ञान और पट ज्ञान मे भेद नही हो सकता क्योकि दोनों केवल ज्ञान मात्र ही हैं। परन्तु घट और पट के भेद को सभी मानते हैं। अत दोनो मे भेद अवश्य है। इस प्रकार वस्तु ज्ञान से वाह्य है। परतु दूसरी ओर वैभासिको के विरुद्ध सौत्रान्तिको का यह कहना है कि हमे वाह्य वस्तु का प्रत्यक्ष ज्ञान नही होता वल्कि उसके प्रतिरूप का ही ज्ञान होता है। वाह्य वस्तुओ के भिन्न भिन्न आधार के अनुसार ये प्रतिरूप भी भिन्न भिन्न होते हैं। इनकी विभिन्नता से ही हम वाह्य वस्तुओ की विभिन्नता का अनुमान लगा लेते हैं। ये प्रतिरूप वास्तव मे ज्ञान के ही आधार हैं अत वे मनमे ही हैं, यद्यपि जिस वस्तु के वे प्रतिरूप हैं वह मन से वाहर है। इस प्रकार वाह्य वस्तुओं का ज्ञान

उनके प्रत्यक्ष से नहीं होता बल्कि उनसे उत्पन्न मानसिक आकारों से अनुमान द्वारा प्राप्त होता है। अतः यह मत बाह्यानुमेयवाद कहलाता है। यह प्रतिरूपवाद (Representationism) अथवा परोक्ष यथार्थवाद (Indirect Realism) है।

तत्व विचार

तत्व विचार की दृष्टि से सौत्रान्तिक मत के निम्नलिखित विचार महत्व पूर्ण हैं —

(१) कार्यकारण भाव स्वतन्त्र सत्ता रखनेवाली दो वस्तुओं में नहीं होता।

(२) वर्तमान काल के अतिरिक्त भूत और भविष्यकाल नहीं है।

(३) सौत्रान्तिक 'स्वतः प्रमाणवादी' हैं। ज्ञान के प्रमाण के लिये किसी अन्य की अपेक्षा नहीं है। वह दीपक के समान स्वयं प्रकाशित है।

(४) शब्द अनित्य है क्योंकि उत्पत्ति से पूर्व तथा विनाश के पश्चात् उसकी स्थिति नहीं होती।

(५) वस्तु के विनाश का कोई कारण नहीं होता वस्तु स्वयं नष्ट हो जाती है।

(६) परमाणु निरवयव होते हैं। अतः उनके संघटित हो जाने पर भी न तो वे परस्पर संयुक्त होते हैं और न उनका परिमाण ही बढ़ता है। इस प्रकार उनके संघटन में भी अणुत्व ही रहता है।

(७) वैभाषिकों के विरुद्ध इनका कहना है कि 'प्रति संख्या निरोध' तथा 'अप्रति संख्या निरोध' में विशेष अन्तर नहीं है। प्रति संख्या निरोध में प्रज्ञा के उदय होने से साधक क्लेशों का नाश हो जाता है और उसे भविष्य में कोई क्लेश नहीं होता। 'अप्रति संख्या निरोध' में क्लेशों का नाश हो जाने पर दुख दूर हो जायेंगे और साधक भवचक्र से मुक्त हो जायगा।

( ) निर्वाण असंस्कृत धर्म नहीं है क्योंकि यह मार्ग के द्वारा उत्पन्न होता है। निर्वाण असत है क्योंकि उसमें क्लेशों का अभाव तथा स्कन्धों का नाश है। निर्वाण का अर्थ दीपक के समान बुझ जाना है। इसमें धर्मों का अनुत्पाद है। निर्वाण प्राप्त करके साधक उस आश्रय को प्राप्त कर लेता है जिसमें कोई क्लेश नहीं है और न कोई नवीन धर्म की प्राप्ति होती है।

महायान के दार्शनिक सम्प्रदाय

१ माध्यमिक या शून्यवाद

शून्यवादी शून्य को ही परमतत्व मानते हैं अतः उन्हें यह नाम दिया गया है।

नाम या अय

नागार्जुन के अनुसार परमतत्व न सत् है, न असत् है, न सत् और असत् दोनों है और न दोनों से भिन्न ही है। इस प्रकार वह इन चारों कोटियों से विलक्षण तत्व है।[1] वह अलक्षण है। नागार्जुन ने 'शून्यता' को प्रतीत्य समुत्पाद भी कहा है।[2] स्वलक्षण ही वास्तविक तत्व है अतः जो उपादान से उत्पन्न है वह दूसरे पर निर्भर है। उसकी उत्पत्ति यथार्थ में उत्पत्ति ही नहीं है अर्थात् वह शून्य है।[3]

बुद्ध के 'मध्यम मार्ग' को अपनाने के कारण ये लोग माध्यमिक कहलाए। बुद्ध ने अपने जीवन में प्रवृत्ति और निवृत्ति में मध्यम मार्ग अपनाया था। वे न तो तपस्वी बन कर जंगल में अपना जीवन समाप्त करना चाहते थे और न संसारी बनकर रह जाते थे। उन्होंने ज्ञान प्राप्त करके भी संसार में रहकर प्राणियों का कल्याण करना अपना लक्ष्य बनाया।

दो प्रकार का सत्य

माध्यमिक सम्प्रदाय के सबसे महान दार्शनिक नागार्जुन दो प्रकार के सत्य मानते हैं। उनका कहना है कि "दो प्रकार के सत्य हैं जिन पर बुद्ध के धर्म सम्बन्धी उपदेश निर्भर हैं। एक संवृति सत्य (Empirical) है। यह साधारण मनुष्यों के लिये है। दूसरा पारमार्थिक सत्य है। जो व्यक्ति इन दोनों सत्यों के भेद को नहीं जानते वे बुद्ध की शिक्षाओं के गूढ़ रहस्य को नहीं समझ सकते"।[4]

संवृति सत्य परमार्थ सत्य की प्राप्ति का साधन मात्र है। नागार्जुन के अनुसार

---

१ न सन्नासन्न सद सनन् चाप्यनुभायात्मकम्।
चतुष्कोटि विनिर्मुक्त तत्त्व माध्यमिका विदु ॥

—माध्यमिक कारिका, १-७-।

२ य प्रतीत्यसमुत्पाद शून्यतां ता प्रचक्ष्महे।
सा प्रज्ञप्तिरुपादाय प्रतिपत् सैव मध्यमा।

—माध्यमिक कारिका, २४-१८-।

३ य प्रत्ययाधीन स शून्य उक्त

—माध्यमिक कारिका, २४।

४ द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धाना धर्मदेशना।
लोक संवृति-सत्य च, सत्य च परमार्थत ॥
येऽनयोर्न विजानन्ति भेद परम तात्त्विकम्।
ते कदाऽपि न जानन्ति गम्भीर बुद्धशासनम् ॥

—माध्यमिक कारिका, ८ ९।

संवृति सत्य

व्यवहार की सहायता के बिना परमार्थ का ज्ञान नहीं हो सकता और परमार्थ को जाने बिना निर्वाण नहीं प्राप्त किया जा सकता।[1] असत्य से सत्य और माया से परम तत्व का ज्ञान होता है। इसी प्रकार परमार्थ सत्य का ज्ञान पाने के लिये संवृति सत्य आवश्यक है। संवृति सत्य अविद्या मोह, विपर्यास आदि भी कहलाता है। वह दूसरे पर निर्भर (प्रतीत्यसमुत्पन्न वस्तु रूप) है और इसलिए तुच्छ है। संवृति सत्य भी दो प्रकार का है—'तथ्य संवृति' अथवा 'लोक संवृति' और 'मिथ्या संवृति'।

(१) तथ्य संवृति—लोक संवृति वह वस्तु अथवा घटना है जो किसी कारण से उत्पन्न है तथा जिसे सत्य मानकर सांसारिक लोगों के समस्त व्यवहार चलते हैं। इस प्रकार तथ्य-संवृति लोक में सत्य है।

(२) मिथ्या संवृति—वह घटना है जो किसी कारण से तो उत्पन्न हुई है परन्तु जिसे सभी सत्य नहीं मानते जिससे सभी का व्यवहार नहीं चलता।

परमार्थ सत्य

माध्यमिक पारमार्थिक सत्ता को मानते हैं। वस्तु जगत के साथ-साथ वे सत्ता के सम्बन्ध में भी विचार करते हैं। लोक की समस्त वस्तुएँ सापेक्ष हैं। इस प्रकार शून्यवाद सापेक्षवाद भी कहा जा सकता है। सांसारिक वस्तुओं के धर्म अन्य वस्तुओं पर निर्भर रहते हैं अतः उनका अस्तित्व भी अन्य वस्तुओं की अपेक्षा करता है। किसी भी वस्तु का अपना कोई निश्चित निरपेक्ष और स्वतन्त्र स्वभाव नहीं है। ये सब संवृति सत्य हैं। परमार्थ सत्य ठीक इसके विपरीत है। उसकी अनुभूति निरपेक्ष है। वह निर्वाण में ही प्राप्त होता है। वह बौद्ध-पदार्थ वस्तुओं से परे, नित्य निरपेक्ष तथा साधारण व्यावहारिक धर्मों से रहित है। वह निःस्वभाव है। उसे 'शून्यता' 'तथता' 'भूतकोटि' 'धर्म धातु' आदि भी कहते हैं। बोधिचर्यावतारपंजिका के अनुसार वस्तुतः निःस्वभावता ही परमार्थ सत्य है। इसमें नाम रूप तथा विषय-विषयी भाव नहीं है। इसको वाक् अथवा मनस से नहीं जाना जा सकता। शब्दों द्वारा उसका अर्थ नहीं बतलाया जा सकता। उसे अक्षय तथा अद्वैत आदि कहते हैं परन्तु वह अनिर्वचनीय है। ज्ञानियों को स्वानुभूत के द्वारा इसका अनुभव होता है।

---

[1] व्यवहारमनाश्रित्य परमार्थो न देश्यते ।
परमार्थमनागम्य निर्वाणं नाधिगम्यते ॥

—माध्यमिक कारिका २४-१०।

द्रव्य और गुण

इसी प्रकार गुण के बिना द्रव्य को नहीं जाना जा सकता और द्रव्य के बिना गुण कहाँ रहेंगे। परन्तु गुण न तो द्रव्य के अन्दर रह सकते हैं और न बाहर तब वे कहाँ रहते हैं ? द्रव्य और गुण न एक हैं और न भिन्न हैं। अतः दोनों सापेक्ष और असद् हैं।

आत्मा भी असद् है

जीवात्मा भी असद् है। वह न पंच स्कन्ध है और न उनसे भिन्न है। यदि आत्मा स्कन्ध है तो उसका उन्हीं के समान उत्पत्ति और विनाश होता है। यदि आत्मा स्कन्धों से भिन्न है तो उसे जाना नहीं जा सकता। बुद्ध के प्रतीत्य समुत्पाद का अर्थ न शाश्वतता है और न शून्यता बल्कि सापेक्षता है।

जगत का आदि, अंत और मध्य नहीं है

बुद्ध के अनुसार जगत का न आदि है और न अन्त। नागार्जुन का कहना है कि जिसका आदि और अन्त नहीं है उसका मध्य ही कैसे हो सकता है ?[1] अतः आदि मध्य अन्त जन्म स्थिति मृत्यु सभी असद् हैं। जगत और उसके विषयों का न आदि है न मध्य है और न अन्त है।

परिवर्तन भी असम्भव है

यदि कोई अपरिवर्तनीय वस्तु नहीं तो परिवर्तन किसका होता है ? यदि वस्तु अपरिवर्तनीय है तो उसमें परिवर्तन कैसे होगा ? यदि स्वभाव नहीं है तो अन्यथा भाव कैसे हो सकता है और यदि स्वभाव है तो अन्यथा भाव कैसे होगा ?[2]

इसी प्रकार काल भी असद् है क्योंकि भूत भविष्य और वर्तमान सभी सापेक्ष हैं। कार्य और परिणाम भी असद् हैं। विषयी और विषय तथा उनका सम्बन्ध भी असद् है। बुद्ध अथवा तथागत तक भ्रममात्र हैं। वह सभी सीमित प्रत्ययों से परे है। नागार्जुन ने चौदह प्रसिद्ध विरोधाभासों (Antinomies) का जिक्र किया है। जिनके उत्तर के विषय में बुद्ध मौन रहे हैं। नागार्जुन के अनुसार ये सभी सापेक्ष और इसलिये असद् हैं। बुद्धि इनको नहीं सुलझा सकती। इसी प्रकार चार आर्य सत्य निर्वाण बुद्ध संघ धम्म सभी असद् हैं।

---

१ नैवाग्रं नावरं यस्य तस्य मध्यं कुतो भवेत् ?

—माध्यमिक कारिका ११ २।

२ कस्य स्यादन्यथाभावः स्वभावश्चेन्न विद्यते ?
कस्य स्यादन्यथाभावः स्वभावो यदि विद्यते ?

—माध्यमिक कारिका ११ ४।

नागार्जुन का शून्यवाद

माध्यमिक सम्प्रदाय का प्रमुख दार्शनिक नागार्जुन अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'माध्यमिक कारिका' का आठ प्रकार के 'नकार' से प्रारभ करता है और फिर प्रतीत्यसमुत्पाद का उपदेश देने वाले परम गुरु बुद्ध को नमस्कार करते हुए कहता है कि पारमार्थिक दृष्टिकोण से प्रतीत्यसमुत्पाद स्वय निर्वाण है जिसमे समस्त नानात्व समाप्त हो जाता है। पारमार्थिक दृष्टिकोण से न विरोध है, न उत्पादन है, न उच्छेद है, न शाश्वतता है, न शून्य है। न अनेकता है, न आगमन है और न निर्गमन ही है।[1]

उत्पत्ति असभव है

नागार्जुन समस्त उत्पत्ति का खडन करते हैं। अपने चतुष्कोटि न्याय का प्रयोग करके वे समस्त वस्तुओ का अनस्तित्व सिद्ध करते हैं। 'वस्तु' न स्वय से उत्पन्न हो सकती है न अन्य वस्तु से स्वय और अन्य वस्तु दोनो से और न स्वय तथा अन्य दोनो के बिना ही उत्पन्न हो सकती है।[2] अत उत्पत्ति असम्भव है। इसके पश्चात् नागार्जुन हीनयान के चार प्रत्यय आलम्बन, समनन्तर, अधिपति तथा सहकारी का खडन करके यह सिद्ध करता है कि काय और कारण सापेक्ष हैं और सत न होकर सवृति मात्र हैं। इसी प्रकार वे गति तथा प्रत्यक्ष को भी असभव बतलाते हैं।

पच स्कन्ध

पच स्कन्ध भी असद हैं। उदाहरण के लिए रूप नहीं है क्योकि यदि वह है तो उसका कोई कारण नही होगा और यदि वह नही है तब भी उसका कारण नही होगा जैसे खरगोश के सीग जैसी असद् वस्तु का कोई कारण नही हो सकता। अत रूप का कोई कारण नही है। इसलिये रूप असभव है। इसी प्रकार नागार्जुन ने वेदना, सज्ञा, सस्कार तथा विज्ञान सबको असद् सिद्ध किया है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश सभी असत्य हैं।

---

१ अविरोधमनुत्पादमनुच्छेदम शाश्वतम्।
अनेकार्थमनानार्थमनागममनिर्गमम् ॥
य प्रतीत्य समुत्पाद प्रपञ्चोपशम शिवम्।
देशयामास सम्बुद्धस्त वन्दे वदतां वरम् ॥

—माध्यमिक कारिका पृ० ११

२ न स्वतो नापि परतो न द्वाभ्या नाप्यहेतुत ।
उत्पन्ना जातु विद्यन्ते भावा क्वचन केचन ॥

—माध्यमिक कारिका—१-१।

सम्प्रदाय बौद्ध थे। विचार तथा अनुभूति के जगत में देशकाल का बन्धन नहीं है। भिन्न-भिन्न देशकाल में होने पर भी दो दार्शनिकों के विचारों में साम्य होना केवल मानव की अनुभूतियों तथा विचार की मौलिक एकता तथा समानता दिखलाता है।

अतः शून्यवाद न पूर्ण अभावात्मक है और न सर्व वैनाशिक। उसका लक्ष्य केवल यही दिखाना है कि पारमार्थिक दृष्टिकोण से जगत की सभी वस्तुएँ आत्म विरोधी (Self contradictory) तथा सापेक्ष और इसलिये संवृति मात्र हैं। यह सत्य है कि शून्यवादियों द्वारा प्रयुक्त शब्द भ्रम स्वप्न मृगतृष्णा आकाश कुसुम बन्ध्या पुत्र इत्यादि से वस्तु का पूर्णतः असत् होना जान पड़ता है। परन्तु इन सबका प्रयोजन संवृति सत्य की परमार्थ के दृष्टिकोण से पूर्ण असत्यता सिद्ध करना है। शून्यवादियों ने स्वयं यह बराबर स्पष्ट किया है कि पूर्ण नकार (Negation) असम्भव है। नकार और स्वीकार (Affirmation) दोनों सापेक्ष हैं। बुद्धि परमार्थ के दृष्टिकोण से भ्रमात्मक होने पर भी लोक में नितान्त सत्य है। परन्तु संवृति सत्य में भी परमार्थ ही प्रकट होता है। तत्त्व निरपेक्ष अद्वैत आनन्दमय और बुद्धि से परे है। वह जगत में अन्तस्थ होकर भी उससे परे है। नागार्जुन के अनुसार तत्त्व वह है जो कि केवल प्रत्यक्ष रूप से ही जाना जा सकता है जो शान्त और आनन्दमय है जिसमें समस्त प्रपञ्च शून्यता का अर्थ समाप्त हो जाता है या निर्विकल्प अद्वैत तथा एक रस पूर्ण है।[1] तत्त्व को शून्यता भी कहा गया है। वास्तव में शून्यता के भी दो पक्ष हैं। व्यावहारिक जगत में उसका अर्थ स्वभाव शून्यता अथवा निःस्वभावता है। उसका अर्थ है कि लोक की वस्तुएँ परमार्थ सत नहीं हैं। शून्यता प्रतीत्यसमुत्पाद अथवा सापेक्षता है। बुद्धि का प्रत्येक ज्ञान सापेक्ष है। नागार्जुन के अनुसार यही मध्यम मार्ग है जो अन्त में स्वीकार और नकार दोनों से परे है। प्रतीत्य समुत्पाद का भव चक्र अविद्या के नाश के बिना नहीं रुक सकता और यह विद्या अथवा ज्ञान द्वारा ही सम्भव है। अतः दूसरे पक्ष में शून्यता स्वयं तत्त्व है जिसमें समस्त प्रपञ्च नष्ट हो जाता है। तत्त्व को केवल व्यावहारिक दृष्टि से शून्य कहा गया है। पारमार्थिक दृष्टि से वह न शून्य है न अशून्य न दोनों और न कोई नहीं। सापेक्षता स्वयं सापेक्ष है यह संवृति सत्य है। शून्यवाद निरपेक्ष सिद्धान्त नहीं है। नागार्जुन ने स्वयं कहा है कि हम यह नहीं कहते कि हमारा यह विशेष कथन सत्य है जबकि और सब असत्य है। हम

---

१ अपर प्रत्ययं शान्तं प्रपञ्चैरप्रपञ्चितम् ।
निर्विकल्पमनानार्थमेतद् तत्त्वस्य लक्षणम् ॥

—माध्यमिक कारिका १८-९ ।

बन्धन और मोक्ष सापेक्ष हैं और इसलिये असद् है। न तो बद्ध, न मुक्त, न बद्ध-मुक्त और न 'न बद्ध न मुक्त' का बन्धन अथवा मोक्ष हो सकता है। जो स्कन्धो मे है और जो स्कन्धो मे नही है किसी का भी बन्धन अथवा मोक्ष नही हो सकता। इसी प्रकार निर्वाण का अस्तित्व नही है क्योंकि तब अन्य अस्तित्वमय वस्तुओ के समान ही उसका भी आदि और अन्त होगा। और तब उसका कारण भी होगा और वह अन्य संस्कृत धर्मों के समान स्कन्धो पर आधारित होगा। निर्वाण असद् भी नही हो सकता। क्योंकि तब वह स्वतन्त्र नहीं रहेगा क्योंकि असद् सद् पर निर्भर है। निर्वाण सद् असद् दोनो भी नहीं हो सकता क्योकि यह बात परस्पर विरुद्ध है। फिर निर्वाण न सद् और न असद् भी नही हो सकता क्योकि तब उसका विचार तक नहीं किया जा सकता। अत निर्वाण, न सद् है न असद्, न दोनो, न कोई नही। वह भ्रममात्र है।

निर्वाण भी भ्रम है

शंकराचार्य इत्यादि अनेक दार्शनिको ने शून्यवाद को 'वैनाशिक'[1] कहा है। शंकराचार्य का कथन है कि शून्यवाद का पक्ष समस्त प्रमाणो के विरुद्ध होने के कारण वह निराकरण करने का आदर देने योग्य भी नही है।[2] परन्तु इससे शंकर का शून्यवाद के प्रति उपेक्षाभाव ही दिखलाई पडता है उसको समझने का प्रयास नहीं दिखलाई पडता। पीछे जो नागार्जुन के विचारो का वर्णन किया गया है उससे यह स्पष्ट है कि नागार्जुन के अनुसार असद् अथवा शून्य का अर्थ सापेक्ष है। वस्तुत माध्यमिक शब्द भी यही प्रकट करता है। कि शून्यवादी जहाँ एक ओर नित्यवाद् के विरुद्ध है वहा दूसरी ओर पूर्ण अनित्यवाद के भी विरुद्ध है। उनका तो माध्यम मार्ग है अर्थात् वे वस्तु को न नित्य और न अनित्य ही मानते है बल्कि नित्यता और अनित्यता दोनो को सापेक्ष मानते हैं। दूसरे नागार्जुन ने जो सभी कुछ को असद् सिद्ध किया है वह पारमार्थिक दृष्टिकोण से ही किया है। संवृति के रूप मे सभी सत्य हैं। स्वय शंकर ने भी पारमार्थिक दृष्टिकोण से ईश्वर तक को असद् और माया मान लिया है। वास्तव मे शून्यवाद का दर्शन शंकराचार्य के अद्वैत से अत्यधिक मिलता जुलता है तभी शंकराचार्य शून्यवाद के खंडन को तथा उससे अपने दर्शन को भिन्न दिखाने को इतने व्यग्र दिखलाई पडते हैं। इसका अर्थ यह भी नही है कि शंकर

शून्यवाद वैनाशिक नहीं है

---

१ अभावोऽज्ञेय इति अभ्युपगम्यते वैनाशिकै नित्य

—शांकर भाष्य तर्कपाद

२ शून्यवादि पक्षस्तु सर्वप्रमाण विप्रतिसिद्ध मस्त्रिवाकरणाय नादर क्रियते।

—शांकर भाष्य

मध्यम बौद्ध थ। विचार तथा अनुभूति के जगत में देशकाल का बन्धन नहीं है। विभिन्न देशकाल में होने पर भी दार्शनिकों के विचारों में साम्य होना केवल मानव की अनुभूतियों तथा विचार की मौलिक एकता तथा समानता दिखलाता है।

अतः शून्यवाद न पूर्ण अभाववादी है और न सर्व वैनाशिक। उसका मन्तव्य केवल यही दिखाना है कि पारमार्थिक दृष्टिकोण से जगत की सभी वस्तुएँ आत्म विरोधी (Self contradictory) तथा सापेक्ष और इसलिये संवृति मात्र हैं। यह सत्य है कि शून्यवादियों द्वारा प्रयुक्त शब्द भ्रम स्वप्न मृगतृष्णा आकाश कुसुम वन्ध्या पुत्र इत्यादि से वस्तु का पूर्णत असत् होना ज्ञात पड़ता है। परन्तु इन सबका प्रयोजन संवृति सत्य की परमार्थ के दृष्टिकोण से पूर्ण असत्यता सिद्ध करना है। शून्यवादियों ने स्वयं यह बराबर स्पष्ट किया है कि पूर्ण नकार (Negation) असम्भव है। नकार और स्वीकार (Affirmation) दोनों सापेक्ष हैं। बुद्धि परमार्थ के दृष्टिकोण से भ्रमात्मक होने पर भी लोक में नितान्त सत्य है। परन्तु संवृति सत्य से भी परमार्थ ही प्रकट होता है। सत् निरपेक्ष अद्वैत आनन्दमय और बुद्धि से परे है। यह जगत में अन्तस्थ होकर भी उससे परे है। नागार्जुन के अनुसार तत्त्व वह है जो कि केवल प्रत्यक्ष रूप से ही जाना जा सकता है जो शान्त और आनन्दमय है, जिसमें समस्त प्रपञ्च शून्यता का अर्थ समाप्त हो जाता है जो निर्विकल्प अद्वैत तथा एक रस पूर्ण है। तत्त्व को शून्यता भी कहा गया है। वास्तव में शून्यता के भी दो पक्ष हैं। व्यावहारिक जगत में उसका अर्थ स्वभाव शून्यता अथवा निस्स्वभावता है। उसका अर्थ है कि लोक की वस्तुएँ परमार्थ सत नहीं हैं। शून्यता प्रतीत्यसमुत्पाद अथवा सापेक्षता है। बुद्धि का प्रत्येक ज्ञान सापेक्ष है। नागार्जुन के अनुसार यही मध्यम मार्ग है जो अन्त में स्वीकार और नकार दोनों से परे है। प्रतीत्य समुत्पाद का जब चक्र अविद्या के नाश के बिना नहीं रुक सकता और यह विद्या अथवा ज्ञान द्वारा ही संभव है। अतः दूसरे पक्ष में शून्यता स्वयं तत्त्व है जिसमें समस्त प्रपञ्च नष्ट हो जाता है। तत्त्व को केवल व्यावहारिक दृष्टि से शून्य कहा गया है। पारमार्थिक दृष्टि से वह न शून्य है न अशून्य न दोनों और न कोई नहीं। सापेक्षता स्वयं सापेक्ष है यह संवृति सत्य है। शून्यवाद निरपेक्ष सिद्धान्त नहीं है। नागार्जुन ने स्वयं कहा है कि हम यह नहीं कहते कि हमारा यह विशेष कथन सत्य है जबकि और सब असत्य है। हम

---

१ अपरप्रत्ययं शान्तं प्रपञ्चैरप्रपञ्चितम् ।
निर्विकल्पमनानार्थमेतत् तत्त्वस्य लक्षणम् ॥

—माध्यमिक कारिका, १८-९ ।

कहना है कि समस्त सत्ता पारमार्थिक स्तर पर शून्य है ।[1] आगे व फिर कहते हैं, 'परन्तु व्यावहारिक दृष्टिकोण से हम सत्ता की सत्ता का मानते हैं क्योंकि व्यावहारिक स्तर अपने आप में वास्तविक नहीं हो सकता ।'[2]

वास्तव में वस्तुओं की समस्या थी, उनकी निरन्तर परिवर्तनशीलता की तथा उनकी अस्थायीता का दूर करना है ।[3] जितने धर्म हैं सभी शून्य हैं अर्थात् सभी की उत्पत्ति किसी न किसी अन्य वस्तु पर निर्भर है । पारमार्थिक सत्ता प्रत्यक्ष जगत से परे और अवर्णनीय है । साधारण लौकिक विचारों से उसका वर्णन नहीं किया जा सकता । अतः उसे शून्य कहा गया है । लंकावतार सूत्र में कहा गया है कि बुद्धि के द्वारा वस्तुओं के स्वभाव का पता नहीं लग सकता ।[4] जैसा कि पहले दिखाया जा चुका है नागार्जुन ने वस्तुओं की सत्ता परखने के लिये चतुष्कोटि न्याय का प्रयोग किया है । जो इन चार कोटियों से रहित है वह शून्य है । इस प्रकार जगत की समस्त वस्तुएँ शून्य सिद्ध होती हैं क्योंकि बुद्धि से यह निश्चय नहीं होता कि वस्तुओं का यथार्थ स्वरूप (१) सत्य है या (२) असत्य है या (३) सत्य तथा असत्य दोनों है या (४) न तो सत्य है और न असत्य ही है । रत्नावली में नागार्जुन कहते हैं कि "तत्त्व बुद्धि से सभी प्रत्ययों से परे है और व्यावहारिक न "सद् है न असद्"—यह हमारे धर्म की भेंट है, गम्भीर सत्य है, बुद्ध के उपदेशों का अमृत है ।"[5] जो शून्यता के अर्थ को जान गया है वह प्रत्येक वस्तु के अर्थ और महत्व का ज्ञान रखता है और उसकी व्याख्या कर सकता है । दूसरी ओर जो शून्यता के सत्य को नहीं समझा है वह किसी भी वस्तु का अर्थ और महत्व जानने में असमर्थ है और कुछ नहीं समझा सकता ।[6]

---

१ यदि हि वय ब्रूम इव वचन शून्य शेषा सर्वभावा शून्या इति ततो वैषमिकत्वं स्यात् । न चैतदेवम् ।

—विग्रह व्यार्वतिनी कारिका, पृ० १२ ।

२ न वय व्यव ।र सत्य प्रत्याख्याय कथयाम शून्या सर्वभावा इति ।

—विग्रह व्यावर्तिनी कारिका पृ० १४ ।

३ Sogen, Systems, पृ० १४ पृ० १९४-९८, Suzuki, Outlines of Buddhism

४ लंकावतार सूत्र, सगाथक, १६७ ।

५ धर्मयौतक मित्यस्मात् नास्त्यस्तित्वव्यतिक्रमम् ।
विद्धि गम्भीरमित्युक्त बुद्धाना शासनामृतम् ॥

—रत्नावली । ६२ ।

६ सव च युज्यते तस्य शून्यता यस्य युज्यते ।
सर्वं न युज्यते तस्य शून्य यस्य न युज्यते । विग्रह व्यावर्तिनी कारिका ७१ ।

शून्यवाद के अनुसार पारमार्थिक सत्य का ज्ञान स्वानुभूति के द्वारा ही होता है। इसके लिये चित्त की एकाग्रता-रूप समाधि की आवश्यकता है जिसे 'शमथ' कहते हैं। समाधि के अभ्यास से 'प्रज्ञा' का उदय होता है और साधक समाहित चित्त होता है। इसी से साधक को परम तत्त्व की अनुभूति होती है। समाधि के लिये वैराग्य आवश्यक है। छः पारमिताओं का ज्ञान तथा अभ्यास भी होना चाहिये। ये छः पारमिताएँ हैं—'दान' 'शील' 'शान्ति' 'वीर्य' 'ध्यान' और 'प्रज्ञा'। इन अभ्यासों के बिना परम तत्त्व अर्थात् शून्यता का ज्ञान नहीं हो सकता। 'शमथ' की सेवा (तपस्या) सबसे मुख्य कर्तव्य है। इससे ही ज्ञान तथा दुःख-निवृत्ति होती है।[1] इस प्रकार साधक को ज्ञान तथा कर्म दोनों के द्वारा शून्य की अनुभूति हो सकती है। इनमें भी पहले 'शमथ' ही आवश्यक है क्योंकि उससे ही प्रज्ञा का उदय होता है।

पारमार्थिक सत्य प्राप्त करने के साधन

२ योगाचार अथवा विज्ञानवाद

जगत की समस्त वस्तुओं को विज्ञान मानने वाला मत विज्ञानवाद कहलाता है। यह मत योगाचार भी कहलाता है क्योंकि ये लोग दस भूमियों को पार करके बुद्ध बनने के लिये बोधि प्राप्त करने के लिये योग के महत्त्व पर जोर देते थे। आलयविज्ञान को समझने के लिये भी योग की आवश्यकता है। समाधि का अनुभव रखने वाले यह अच्छी प्रकार जानते हैं कि किस प्रकार समाधि का अनुभव रखने वाले यह भली प्रकार जानते हैं कि किस प्रकार समाधि की अवस्था में समस्त वस्तु जगत चित्त में विलीन हो जाता है और समाधि से जागने पर चित्त वृत्तियों की गति के साथ एक एक करके बाह्य जगत की वस्तुओं का भान होने लगता है। इसी अनुभव के आधार पर योगाचारवादियों का कहना है कि चित्त ही सब कुछ है। यही चित्त आलय विज्ञान कहलाता है। महायान सम्परिग्रह शास्त्र में असंग ने योगाचार मत की निम्नलिखित विशेषताएँ बतलाई हैं[2] —

योगाचार मत की विशेषताएँ

(१) आलयविज्ञान समस्त प्राणियों में व्याप्त है।

(२) ज्ञान तीन प्रकार का है—भ्रमात्मक सापेक्ष तथा निरपेक्ष।

---

१ क्रमेण विनयमानु पुष्टा पुष्टे सर्वोपधिक्षयाभिसम्पदेन।
सम्यक् प्रवर्त्य सर्वेषामीय स च लोके निरपेक्षयाभिरम्या ॥
—शान्तिदेव, बोधिचर्यावतार ८—४ ।

२ पृ ११७४

(३) बाह्य जगत और अन्तजगत आलय की ही अभिव्यक्तियाँ है।

(४) छ पारिमिताएँ आवश्यक हैं।

(५) बुद्धत्व पाने के लिये हमे बोधिसत्व की दस भूमियो (अवस्थाओ) से गुजरना पडता है।

(६) महायान हीनयान से कही अधिक श्रेष्ठ है जो कि व्यक्तिवादी, स्वार्थी तथा सकीर्ण है और जिसने बुद्ध के उपदेशो को ग़लत समझा है।

(७) बोधि के द्वारा बुद्ध के धर्मकाय से एक होना ही लक्ष्य है।

(८) विषयी- विषय के द्वैत का अतिक्रमण करके शुद्ध चेतना से ऐक्य स्थापित करना चाहिये।

(९) परमार्थ दृष्टिकोण से ससार और निर्वाण मे कोई भी अन्तर नही है। समत्व प्राप्त करके और नानात्व का निराकरण करके निर्वाण यही प्राप्त किया जा सकता है।

(१०) तत्व धमकाय अर्थात् बुद्ध का शुद्ध सत का शरीर है जो कि पूण शुद्ध चेतना है तथा जो ससार के दृष्टिकोण से निर्माणकाय तथा निर्माण के दृष्टि-कोण से सम्भोगकाय मे अभिव्यक्त होता है।

विज्ञान

लकावतार सूत्र के अनुसार विज्ञान के अतिरिक्त सभी धर्म असद् हैं। बुद्ध ने केवल विज्ञान का ही उपदेश दिया है। काम, रूप और अरूप आदि तीनो लोक इसी विज्ञान के विकल्प के परिणाम हैं। किसी भी बाह्य वस्तु का अस्तित्व नही है। जो कुछ है वह विज्ञान है।[1] इसी प्रकार वसुबन्धु के अनुसार भी विज्ञान ही एकमात्र तत्व है।[2] विज्ञान विषयी और विषय मे अभिव्यक्त होता है। अत बुद्ध ने ज्ञान के दो आधार बतलाए हैं—आन्तरिक और बाह्य। न कोई जीवात्मा है और न बाह्य वस्तुएँ क्योकि दोनो ही विज्ञान की अभिव्यक्तियाँ हैं। विज्ञान बुद्धि के द्वारा नही जाना जा सकता। बुद्ध उसको प्रत्यक्ष जानते हैं। वह शुद्ध बुद्धि से जाना जा सकता है जो कि विषयी और विषय की द्वैत से परे है।

विज्ञान के भेद

विज्ञान के दो भेद हैं—प्रवृति विज्ञान अर्थात वैयक्तिक विज्ञान तथा आलय-विज्ञान अर्थात निरपेक्ष विज्ञान। प्रवृत्तिविज्ञान के भी सात भेद हैं—'चक्षुर्विज्ञान' 'श्रोत्रविज्ञान' 'घ्राणविज्ञान' 'रसनाविज्ञान', 'कायविज्ञान', 'मनोविज्ञान', तथा 'क्लिष्ट-मनोविज्ञान'। इसमे से प्रथम छ को तो सर्वास्तिवादी ने ही माना है। सातवाँ

१ पृ० १५८—१८६

२ विंशतिका कारिका, ७।

क्लिष्ट मनोविज्ञान मनोविज्ञान और आलय विज्ञान के मध्य की कड़ी है। पहले पाँच विज्ञानों से वस्तु का ज्ञान होता है मनोविज्ञान से उस पर विचार किया जाता है और क्लिष्ट मनोविज्ञान से उसका प्रत्यक्ष होता है। इन सबको संयुक्त करने वाला चित्त अथवा आलयविज्ञान है।[1]

प्रवृत्ति विज्ञान

प्रवृत्ति विज्ञान के ये सातों विज्ञान आलयविज्ञान में ही उत्पन्न होते हैं और उसी में विलीन हो जाते हैं। ये सभी क्षणिक और परिवर्तनशील हैं। इस प्रकार वस्तुतः प्रवृत्ति विज्ञान आलयविज्ञान पर ही आधारित है।

आलयविज्ञान

इस प्रकार आलयविज्ञान ही विभिन्न विज्ञानों का आश्रय है। आलय का अर्थ है घर या भंडार। अतः आलयविज्ञान में जीव के कायिक वाचिक तथा मानसिक सभी विज्ञानों के वासना रूप बीज एकत्रित रहते हैं। ये बीज समय आने पर व्यवहार रूप में जगत् में प्रगट होते हैं और पुनः आलय में लय हो जाते हैं। अतः यही आलयविज्ञान व्यावहारिक 'जीवात्मा' है। इसी में सभी ज्ञान रहते हैं। इसकी सन्तति इहलोक और परलोक जाती है। यह चित्त तथा तथागत गर्भ भी कहा जाता है।

बाह्य पदार्थ आलय के विज्ञान हैं

योगाचार के अनुसार आलय से पृथक् वस्तु जगत् की सत्ता नहीं है। चित्त के बाहर यदि किसी वस्तु का अस्तित्व माना भी जाय तो उसका ज्ञान नहीं हो सकता। यदि कोई बाह्य वस्तु है तो या तो वह एक अणुमात्र है अथवा अनेक अणुओं की बनी हुई है। यदि वह एक अणु की है तो उसका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता क्योंकि अणु अत्यन्त सूक्ष्म होता है। दूसरे यदि वह अनेक अणुओं की बनी हुई है तब भी पूरी वस्तु का एक साथ प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। अब यदि एक अंश का प्रत्यक्ष होने का प्रश्न है तो उसमें यही कठिनाई है कि या तो वह अंश एक अणु का बना है अथवा अनेक अणु का बना हुआ है। इन दोनों ही अवस्थाओं में उसका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है। इस प्रकार मन से बाहर बाह्य वस्तु का अस्तित्व मानने में अनेक कठि-नाइयाँ हैं। विज्ञानवादियों के अनुसार यदि वस्तु को मानसिक ज्ञान से अलग न माना जाय तो यह कठिनाइयाँ दूर हो जाती हैं। अतः विज्ञानवादी मन के बाहर

---

१ चित्तेन चीयते कर्म मनसा च विधीयते।
विज्ञानेन विजानाति दृश्यं कल्पेति पञ्चभिः॥

—लंकावतार सूत्र पृ ४६।

के शरीर आदि सभी पदार्थों को मानसिक विकल्प मानते हैं। धर्मकीर्ति के अनुसार नीले रग मे तथा नीले रग क ज्ञान मे भेद नहीं क्योंकि दानो का कोई पृथक अस्तित्व नही हैं। वस्तु के ज्ञान के लिये ज्ञान आवश्यक है। अत ज्ञान से भिन्नवस्तु का अस्तित्व नही सिद्ध किया जा सकता। वस्तु को ज्ञान से प्रथक देखना भ्रम है। दो चन्द्रमा देखने का अर्थ दृष्टिविकार है, चन्द्रमा का दो होना नही है। जैसे स्वप्न या गतिभ्रम मे वस्तुएँ बाह्य प्रतीत होने पर भी मन के अन्तगत ही होती हैं उसी प्रकार साधारण मानसिक अवस्था मे भी पदार्थ बाह्य प्रतीत होने पर भी मन मे ही है।

विज्ञानवादी क्षणिकवाद के आधार पर भी बाह्य वस्तुओ की अनुपस्थिति सिद्ध करते हैं। वस्तुओ का ज्ञान उत्पत्ति पर ही होता है परन्तु उत्पत्ति के क्षण मे ही उनका नाश हो जाता है। अत एक ही क्षण मे वस्तु और उसका ज्ञान दोनो हो जाने चाहिये। परन्तु वस्तु ज्ञान का कारण है और ज्ञान कार्य। कारण और काय एक ही समय मे नही हो सकते। कारण काय से पहले होता है। दूसरी आर उसी क्षण मे वस्तु का नाश हो जाता ह और नाश के पश्चात् उसके ज्ञान का प्रश्न ही नही उठता। इस प्रकार बाह्य वस्तुओ का ज्ञान असभव है। अत जो वस्तु बाह्य प्रतीत होती है उसको मन का प्रत्यय मानना ही अधिक श्रेयस्कर है।

यहाँ पर यह आक्षेप हो सकता है कि यदि वस्तु मन का प्रत्यय मात्र है तो उसकी इच्छानुसार आविर्भाव, तिरोभाव अथवा परिवतन क्यो नही होता। इसपर विज्ञानवादियो का कहना है कि मन एक प्रवाह है जिसमे अतीत अनुभव के सस्कार रहते हैं और जब जिस सस्कार के अनुकूल परिस्थिति होती है तब उसी सस्कार का परिपाक होता है और उसी का ज्ञान उत्पन्न होता है। यह बात स्मृति के दृष्टान्त से भी स्पष्ट होती है। जैसे मन मे अनेक सस्कार होने पर भी विशेष समय मे विशेष सस्कार की ही स्मृति होती है।

व्यावहारिक आत्मा का निषेध

विज्ञानवादी व्यावहारिक आत्मा अथवा अहकार को परमार्थ तत्व नही मानते। ससार के समस्त दुखो का कारण अविद्या जनित 'मैं' और मेरा का भाव है। यदि वास्तव मे कोई 'अह' है तो या तो बिना प्रयत्न ही मोक्ष हो जाना चाहिये अथवा मोक्ष नितान्त असभव है। व्यावहारिक आत्मा को विज्ञानवादियो ने मनोविज्ञान कहा है। मनोविज्ञान आलय विज्ञान पर आश्रित है और उसके साथ चार प्रकार का दुख लगा हुआ है—आत्म प्रत्यय, आत्मभ्रम, आत्म गौरव और आत्मप्रेम। मनोविज्ञान का असत्य विचार नष्ट हो जाने पर ये दुख भी नष्ट हो जाते हैं। वसुबन्धु के अनुसार जब बाह्य वस्तुओ की असत्यता

नष्ट हो जाती है तब मनोविज्ञान भी असत् हो जाता है क्योंकि विषय के बिना विषयी नहीं रह सकता। विषयी और विषय का भेद समाप्त हो जाने पर साधक निरपेक्ष सत् में रहता है।

शुद्धात्मा अथवा महात्मा एकमात्र सत् है

यहाँ यह ध्यान रखने की बात है कि असंग तथा वसुबन्धु ने केवल जीवात्मा अथवा मनोविज्ञान को ही असत् बतलाया है। शुद्धात्मा (Pure Consciousness) अथवा महात्मा (Universal Consciousness) को एकमात्र सत् माना गया है। यह स्वभावतः ही प्रभास्वर है और समस्त दोष आगन्तुक हैं।[1] इस संसार की असारता का यथार्थ ज्ञान करके तथा यह जानकर कि यह तथा वस्तु का अस्तित्व नहीं है और फिर यह जानकर कि यह सब दुःख है अपनी व्यक्तिगत संकीर्ण व्यावहारिक आत्मा को जीवन के पीछे छोड़कर महात्मा को प्राप्त करेगा।[2] मध्यम पथ पर बढ़कर, नैरात्म्यवाद के सच्चे सिद्धान्त को समझकर और शून्यता के यथार्थ अर्थ को अच्छी तरह समझ कर बुद्धगण वैयक्तिक सत्ता को छोड़कर शुद्धात्मा को प्राप्त करते हैं और विश्वात्मा के साथ एक हो जाते हैं।[3]

आलय विज्ञान नित्य और ध्रुव है

कुछ लोग यह समझते हैं कि आलय विज्ञान एक सदा परिवर्तनशील चेतना का प्रवाह है। परन्तु लंकावतार के अनुसार यह ध्रुव (Permanent) अमृत तथा कभी न परिवर्तन होने वाला विज्ञान का आलय है। यह विषयी विषय की द्वैत से परे (ग्राह्य-ग्राहकविसंयुक्त) है। यह उत्पत्ति स्थिति और विनाश से परे (उत्पाद-स्थिति भंग वर्ज्य) है और विकल्प-प्रपञ्च रहित है। यह शुद्ध प्रज्ञा से साक्षात् जाना जा सकता है (निर्भास-प्रज्ञा-गोचर)। यह जगत की उत्पत्ति की प्रवृत्ति का आश्रय तथा विषय है। जब सृष्टि इस प्रपञ्च की अनादि वासना के कारण है जो अविद्या से प्रेरित है (अनादि काल प्रपञ्च-दौष्ठुल्यवासना) वैयक्तिक प्रवृत्ति विज्ञान

---

१ मतं च चित्तं प्रकृति प्रभास्वरं सदा तदागन्तुकदोष दूषितम्।

—महायान सूत्रालंकार १३ १९।

२ विहाय योऽसावर्थमयात्म दृष्टिं महात्म दृष्टिं श्रयते महार्थाम्॥

—महायान सूत्रालंकार १३ १७।

३ शून्यतायां विशुद्धायां नैरात्म्यात् मार्गलाभतः।
बुद्धाः शुद्धात्म लाभत्वात् गता आत्म महात्मताम्॥

—महायान सूत्रालंकार पृ १७-१८।

आलय की ही अभिव्यक्ति है। प्रवृत्ति विज्ञान न तो आलय ही है और न उससे भिन्न ही कहे जा सकते हैं। बुद्धि ही आलय में और वैयक्तिक विज्ञान में अन्तर करती है। अन्त में परमार्थ के दृष्टिकोण से इनमें कोई अन्तर नहीं है। आलय अवर्णनीय है और बुद्धि की पहुच में परे है। आलय तथागत गर्भ भी कहा गया है क्योंकि उसमें सभी विज्ञानों के बीज विद्यमान है। वह प्रकृति प्रभास्वर, आदि विशुद्ध, सर्व-सत्व-देहान्तर गत, नित्य तथा ध्रुव, शाश्वत तथा शिव है। वह निर्विकल्प तथा निर्भास गोचर है। इस प्रकार यद्यपि बौद्धों ने आलय को उपनिषदों में वर्णित आत्मा से भिन्न बतलाने की चेष्टा की है परन्तु उपरोक्त दर्शन से यह स्पष्ट है कि उनमें कोई विशेष अन्तर नहीं है।

प्रमाण विचार

व्यवहार के लिये विज्ञानवादी दो प्रकार के ज्ञान मानते हैं—**ग्रहण** तथा अध्यवसाय। इसी को "साक्षात्कारी प्रभा" तथा "परोक्ष ज्ञान" अथवा प्रत्यक्ष अनुमान भी कहते है। कभी कभी "भाजन प्रत्यक्ष" को एक पृथक प्रमाण माना गया है और कभी नहीं भी माना गया है। यह अति सूक्ष्म वस्तुओं का यथार्थ ज्ञान देने वाली एक विचित्र शक्ति है (अप्रमेय वस्तु नाम विपरीत दृष्टि व्यवहार दशा में विज्ञानवादी **'परत प्रमाण्यवादी'** है। शून्यवाद के परमार्थ को विज्ञानवादी परिनिष्पन्न कहते है। संवृति सत्य के इन्होंने दो भेद किये हैं—परतन्त्र तथा परिकल्पित। परतन्त्र सापेक्ष है, परिकल्पित काल्पनिक है।

विज्ञानवाद विषयीवाद (Subjectionism) नहीं है।

विज्ञानवाद के पाश्चात्त्य दर्शन का (Subjective Idealism) से तुलना करना गलत है। विज्ञानवाद वास्तव में निरपेक्ष आदर्शवाद (Absolute Idealism) है। वास्तव में शंकराचार्य ने विज्ञानवाद तथा शून्यवाद दोनों को ही गलत समझा। यथार्थ सत्य तो यह है कि आलय विज्ञान और उपनिषदों की आत्मा में बहुत कम अन्तर है। विज्ञानवादियों ने क्षणिकवाद को बाह्य जगत अथवा संवृति तक ही सीमित रखा है। यथार्थ में तत्व न तो क्षणिक है और न शाश्वत। परन्तु व्यावहारिक दृष्टिकोण में वह नित्य, अमृत तथा ध्रुव है। जगत इसी आलयविज्ञान तथागतगर्भ, चित्तमात्र अथवा विज्ञप्तिमात्र की अभिव्यक्ति है। मनोविज्ञान अथवा प्रवृत्तिविज्ञानों से जगत की सृष्टि नहीं होती। बाह्य जगत को असद् कहने का तात्पर्य केवल यह है कि महात्मा अथवा शुद्धात्मा से पृथक उसकी सत्ता नहीं है। बाह्य जगत की उपमा स्वप्न से देते हुए भी परतन्त्र और परि-कल्पित में अन्तर किया गया है। जगत परतन्त्र है स्वप्न परिकल्पित है। यद्यपि दोनों ही आलयविज्ञान में ही सद् है और उसके बाहर असद्। विज्ञान जगत

की समस्त वस्तुओं में व्याप्त है और सबकी परस्पर पृष्ठभूमि है। स्थिरमति के शब्दों में 'विज्ञप्तिमात्र नित्य है और अक्षय है। यह सुखमय है क्योंकि यह नित्य है जो नित्य है वह सुख है और जो क्षणिक है वह दुःख है।'[1] यह अनास्रव धातु, अचिन्त्य कुशल ध्रुव सुख विमुक्ति तथा धर्मकाय है।[2]

---

१ सुखो नित्यत्वाद् अक्षयतया सुखो नित्यत्वाद् एव यदनित्यं तद् दुःखं अयं च नित्यः इत्यस्मात् सुखः।

—त्रिंशिका भाष्य पृ ४४।

२ स एवानास्रवो धातुरचिन्त्यः कुशलो ध्रुवः।
सुखो विमुक्तिकायोऽसौ धर्माख्योऽयं महामुनेः॥

—त्रिंशिका ॥

आलय की ही अभिव्यक्ति ह। प्रवृत्ति विज्ञान न तो आलय ही है और न उससे भिन्न ही कहे जा सकते ह। बुद्धि ही आलय म और संव्यक्तिव विज्ञान म अन्तर करती ह। अन्त म परमार्थ के दृष्टिकोण से इनमे कोई अन्तर नहीं है। आलय अवर्णनीय ह और बुद्धि की पहुच से पर ह। आलय तथागत गर्भ भी कहा गया है क्योकि उसमे सभी विज्ञानो के बीज विद्यमान हैं। वह प्रकृति प्रभास्वर, आदि विशुद्ध, सत्त्व-सत्त्व-देहान्तर गत, नित्य तथा ध्रुव, शाश्वत तथा शिव ह। वह निर्विकल्प तथा निर्भास गोचर है। इस प्रकार यद्यपि बौद्धो ने आलय को उपनिषदो म वर्णित आत्मा से भिन्न बतलाने की चेष्टा की है परन्तु उपरोक्त दर्शन से यह स्पष्ट ह कि उनमे कोई विशेष अन्तर नही है।

प्रमाण विचार

व्यवहार के लिये विज्ञानवादी दो प्रकार के ज्ञान मानते हैं—**ग्रहण** तथा अध्यवसाय। इसी को "साक्षात्कारी प्रभा" तथा "परोक्ष ज्ञान" अथवा प्रत्यक्ष अनुमान भी कहते हैं। कभी कभी "भाजन प्रत्यक्ष" को एक पृथक प्रमाण माना गया है और कभी नही भी माना गया है। यह अति सूक्ष्म वस्तुओ का यथार्थ ज्ञान देने वाली एक विचित्र शक्ति है (अप्रमेय वस्तु नाम विपरीत दृष्टि व्यवहार दशा मे विज्ञानवादी **'परत प्रमाण्यवादी'** है। शून्यवाद के परमार्थ को विज्ञानवादी परिनिष्पन्न कहते ह। संवृति सत्य के इन्होने दो भेद किये हैं—परतन्त्र तथा परिकल्पित। परतन्त्र सापेक्ष है, परिकल्पित काल्पनिक है।

विज्ञानवाद विषयीवाद (Subjectionism) नहीं है।

विज्ञानवाद के पाश्चात्त्य दर्शन को (Subjective Idealism) से तुलना करना गलत है। विज्ञानवाद वास्तव म निरपेक्ष आदर्शवाद (Absolute Idealism) है। वास्तव मे शकराचार्य ने विज्ञानवाद तथा शून्यवाद दोनो को ही गलत समझा। यथार्थ सत्य तो यह है कि आलय विज्ञान और उपनिषदो की आत्मा मे बहुत कम अन्तर है। विज्ञानवादियो ने क्षणिकवाद को बाह्य जगत अथवा संवृति तक ही सीमित रखा ह। यथार्थ मे तत्त्व न तो क्षणिक है और न शाश्वत। परन्तु व्यावहारिक दृष्टिकोण से वह नित्य, अमृत तथा ध्रुव है। जगत इसी आलयविज्ञान तथागतगर्भ, चित्तमात्र अथवा विज्ञप्तिमात्र की अभिव्यक्ति है। मनोविज्ञान अथवा प्रवृत्तिविज्ञानो मे जगत की सृष्टि नही होती। बाह्य जगत को असद् कहने का तात्पर्य केवल यह है कि महात्मा अथवा शुद्धात्मा से पृथक उसकी सत्ता नही है। बाह्य जगत की उपमा स्वप्न से देते हुए भी परतन्त्र और परि-कल्पित मे अन्तर किया गया है। जगत परतन्त्र है स्वप्न परिकल्पित है। यद्यपि दोनो ही आलयविज्ञान मे ही सद् हैं और उसके बाहर असद्। विज्ञान जगत

के पहले कार्य अव्यक्त रूप में कारण में रहता है। अतः उत्पत्ति का अर्थ अव्यक्त का व्यक्त होना है। तथा नाश का अर्थ व्यक्त का अव्यक्त होना है। इस प्रकार उत्पत्ति और विनाश दोनों का ही अर्थ एक धर्म छोड़कर दूसरा धर्म ग्रहण करना है। कार्य और कारण में केवल धर्म अथवा स्वरूप का भेद है। कार्य अपने कारण में ही रहता है। इसी मत को सत्कार्यवाद कहते हैं। कार्य कारण भेद न मानने के कारण ये लोग "भेदसहिष्णुअभेदवादी" भी कहलाते हैं।

सत्कार्यवाद को मानने वालों में भी दो मत हैं—परिणामवाद और विवर्तवाद।

प्रकृति परिणामवाद

परिणामवाद के अनुसार कारण सचमुच कार्य में परिवर्तित हो जाता है। विवर्तवाद के अनुसार कारण का कार्य में परिवर्तन वास्तविक नहीं बल्कि आभास मात्र है। मिट्टी से घड़ा बनना परिणामवाद का उदाहरण है और रस्सी का सर्प प्रतीत होना विवर्तवाद का उदाहरण है। इस प्रकार परिणाम में कार्य और कारण में एक ही सत्ता होती है तथा विवर्त में उनकी सत्ता भिन्न-भिन्न अथवा विषम होती है।[1] सांख्य परिणाम वाद को मानते हैं और वेदान्ती विवर्तवाद को मानते हैं। इस प्रकार सांख्य के अनुसार समस्त उत्पत्ति उद्भव अथवा आविर्भाव है और विनाश अनुद्भव अथवा तिरोभाव है। कारण और कार्य का भेद व्यावहारिक उपयोग के लिये है। एक ही वस्तु की दो अवस्थाएं होने के कारण उनमें भेद नहीं है (कारण कार्य विभागात्)। सांख्य के समान ही रामानुज भी परिणामवाद को मानते हैं। परन्तु रामानुज के अनुसार जगत ब्रह्म का परिणाम है जबकि सांख्य के अनुसार जगत प्रकृति का परिणाम है। अतः रामानुज का मत ब्रह्म परिणामवाद तथा सांख्य का मत प्रकृति परिणामवाद कहलाता है।

सांख्य कारिका में ईश्वर कृष्ण ने सत्कार्यवाद को सिद्ध करने के लिये निम्नलिखित श्लोक कहा है—

सत्कार्यवाद के प्रमाण

असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसंभवाभावात्।
शक्तस्य शक्य करणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम् ॥[2]

इस श्लोक में सत्कार्यवाद के पक्ष में निम्नलिखित पाँच युक्तियां दी गई हैं—

---

१ (अ) परिणामो नाम उपादान सम सत्ताक कार्यापत्तिः।
विवर्तो नाम उपादान विषम सत्ताक कार्यापत्तिः॥
(ब) कारण स्वसमसत्ताकान्यथाभावः परिणामः तद्विषमसत्ताको विवर्तः।
वस्तुनस्तत्समसत्ताकोऽन्यथाभावःपरिणामः तदविषमसत्ताकः विवर्तः॥

२ सांख्य कारिका ९।

प्रकृति

परिणामवाद के आधार पर सांख्य दार्शनिक जगत के मूल कारण प्रकृति पर पहुँचते हैं। जगत के कारणहीन मूल कारण के रूप में यह प्रकृति कहलाती है। प्रत्येक वस्तु का कारण है परन्तु 'प्रकृति' का कोई कारण नहीं। यह आदि कारण है। यह सृष्टि से पूर्व है (प्र+कृति)। उस पर समस्त कार्य आधारित है।

प्रकृति के अनेक नाम

यह जगत् का प्रथम तत्त्व है अतः यह 'प्रधान' कहलाती है। शंकराचार्य लिखते हैं— 'समस्त विकारों का उत्पादन करने के कारण यह प्रकृति कहलाती है। यह अविद्या कहलाती है क्योंकि यह समस्त ज्ञान की विरोधी है। 'माया' कहलाती है क्योंकि यह विचित्र सृष्टि उत्पन्न करती है।'[1] यह अत्यन्त सूक्ष्म और अदृश्य है और उसकी उत्पत्तियों को देख कर ही उसका अनुमान लगाया जाता है अतः प्रकृति अनुमान भी कहलाती है। अचेतन तत्त्व के रूप में यह जड़ कहलाती है और सदैव गतिशील असीम शक्ति के रूप में यह शक्ति कहलाती है। समस्त वस्तुओं की अव्यक्त अवस्था के रूप में यह अव्यक्त कहलाती है।

सांख्य के अनुसार यह समस्त जगत ऐसी वस्तुओं से बना है जो कि कार्य द्रव्य हैं और उपादान कारणों से बनती हैं। जगत कार्य कारणों का प्रवाह है। अतः इसका कोई मूल कारण भी होगा। यह मूल कारण आत्मा नहीं हो सकता क्योंकि आत्मा न कार्य है और न कारण तथा उसका स्वभाव भी जगत की वस्तुओं से विपरीत है। चार्वाक बौद्ध जैन तथा न्याय वैशेषिक मतों के अनुसार जगत पृथ्वी जल तेज और वायु के परमाणुओं से बना है। सांख्य का कहना है कि इन भौतिक परमाणुओं से मन बुद्धि और अहंकार जैसे सूक्ष्म तत्त्वों की उत्पत्ति नहीं हो सकती। जगत का मूल कारण ऐसा होना चाहिये जो जड़ होने पर भी सूक्ष्मातिसूक्ष्म है। जो अनादि तथा अनन्त हो और जिससे समस्त विषय उत्पन्न हो सकें। ये सब गुण प्रकृति में मिलते हैं। अतः प्रकृति ही जगत की वस्तुओं का मूल कारण है। यह नित्य और निरपेक्ष है क्योंकि सापेक्ष और अनित्य तत्त्व जगत का मूल कारण नहीं हो सकता। यह गहन अनन्त तथा सूक्ष्मातिसूक्ष्म शक्ति है।

जगत का आदि कारण

प्रकृति से उत्पन्न वस्तुएँ कार्य परतन्त्र सापेक्ष अनेक तथा अनित्य हैं क्योंकि

---

१ प्रकुर्वत् इति प्रकृतिः विकारोत्पादकत्वात् अविद्याज्ञानविरोधित्वात् माया विचित्र सृष्टि करत्वात्।

—तत्वमय

(१) असदकरणात्—असत् जो नहीं है (असत् है) उसमें उत्पन्न करने की सामर्थ्य नहीं है (उदाहरण)। असत् से कारण व्यापार नहीं हो सकता। और यदि कार्य कारण में पहले से ही उपस्थित न हो [illegible] तो आकाश कुसुम [illegible] से भी [illegible] हो जाता है तो फिर पत्थरों से तेल उत्पन्न नहीं हो सकता। यदि कारण में कार्य असत् होता तो कारण कभी भी उत्पन्न नहीं हो सकता।

(२) उपादानग्रहणात्—वस्तु की उत्पत्ति के लिये एक विशेष कारण (उपादान) की आवश्यकता है। यदि उपादान कारण में कार्य वर्तमान न हो तो उससे कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती। अतः कार्य का उस उपादान कारण की अभिव्यक्ति [illegible] उससे अनिवार्य रूप से सम्बन्धित है।

(३) सर्वसम्भवाभावात्—यदि उपादान कारण का कार्य से सम्बन्ध न हो तो किसी भी कारण से कोई भी कार्य उत्पन्न हो सकता है। परन्तु यह अनुभव से विरुद्ध है। अतः कार्य कारण में उत्पत्ति से पूर्व ही विद्यमान रहता है।

(४) शक्तस्य शक्यकरणात्—उत्पत्ति अव्यक्त शक्ति का व्यक्त करना है। जिस कारण में जिस कार्य को उत्पन्न करने की शक्ति होगी उससे वही कार्य उत्पन्न हो सकता है। यदि ऐसा न होता तो बालू से तेल निकलता। अतः अभिव्यक्ति से पूर्व कार्य कारण में अव्यक्त रूप में विद्यमान रहता है।

(५) कारणभावात्—कारण और कार्य में अभेद अथवा तादात्म्य है। अभिव्यक्ति के मार्ग से बाधा को हटा देने से कार्य कारण से आविर्भूत हो जाता है। अतः कारण में कार्य पहले से ही विद्यमान है।

सांख्य निमित्त (Efficient) तथा उपादान (Material) कारण में भेद करता है।

निमित्त और उपादान कारण मे भेद

उपादान कारण कार्य में प्रवेश कर जाता है जब कि निमित्त कारण बाहर से कार्य करता है। कार्य के कारण में पहले से ही वर्तमान रहने पर भी उसे कारण से निकालने के लिये निमित्त की आवश्यकता है। तेल निकालने के लिये तिलों को पेरना पडता है। इस सहकारी शक्ति की अनुपस्थिति के कारण से कार्य की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। अतः कारण से कार्य की उपस्थिति कुछ अवस्थाओं पर निर्भर करती है। व्यास के अनुसार ये अवस्थाएं देश, काल, रूप तथा आकार हैं। जब वस्तु का आन्तरिक गुण परिवर्तित हो जाता है तब वह धर्म परिणाम कहलाता है परन्तु जब परिवर्तन केवल बाह्य होता है तो वह लक्षण परिणाम कहलाता है।

है। 'सरूप या सदृश परिणाम' के समय अर्थात् वर्तमान से अतीत में जाकर कार्य अपने कारण में लीन होकर एक हो जाता है। इस प्रक्रिया में क्रमशः प्रत्येक कार्य अपने कारण में लीन हो जाता है। इस प्रकार समस्त जगत में तादात्म्य अथवा अविभाग प्रतीत होने के लिये महत् को भी अपने कारण में लीन होना चाहिये। अतः जिसमें महत् आदि सभी कार्य लीन होकर जगत एक मालूम होता है वही अव्यक्त है।

सांख्य के अनुसार सत्व रजस् और तमस् की साम्यावस्था को प्रकृति कहते हैं।[1] (गुणानां साम्यावस्था) अतः प्रकृति में सत्व रजस् और तमस् ये तीन गुण हैं। गुण शब्द के संस्कृत में तीन अर्थ हैं— धर्म (Quality) रस्सी का गुण (Strand) तथा गौण। प्रकृति के ये गुण धर्म नहीं बल्कि द्रव्य हैं। प्रकृति का विश्लेषण करने पर उसमें तीन प्रकार के द्रव्य मिलते हैं। ये ही त्रिगुण हैं। ये मूल द्रव्य प्रकृति के उपादान तत्व हैं। ये गुण इसलिये भी कहलाते हैं क्योंकि ये रस्सी के तीनों गुणों अथवा रेशों के समान आपस में मिलकर पुरुष को बाँधते हैं। पुरुष के उद्देश्य के साधन में गौण रूप से सहायक होने के कारण भी ये गुण कहलाते हैं।

प्रकृति के गुण

गुण सूक्ष्म और अतीन्द्रिय हैं। अतः उनके कार्यों अथवा प्रभावों से उनकी उपस्थिति का अनुमान लगाया जाता है। ये प्रभाव क्रमशः सुख दुख और मोह अथवा उदासीनता हैं। सांख्य के अनुसार कार्य और कारण में तादात्म्य सम्बन्ध है। अतः कार्यों को देखकर कारणों का अनुमान लगाया जा सकता है।

गुणों के लिये प्रमाण

संसार के प्रत्येक विषय में हम तीन गुण पाते हैं जिनसे वे सुख दुख अथवा मोह उत्पन्न करते हैं। संगीत रसिक को सुख देता है रोगी को दुख देता है और भैंस आदि पशु उससे उदासीन रहते हैं। इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु एक में सुख अन्य में दुख तथा तीसरे में उदासीनता उत्पन्न करती है। कार्य का गुण कारण में विद्यमान रहता है अतः इससे यह स्पष्ट होता है कि प्रत्येक विषय में ये तीनों गुण विद्यमान हैं। विषयों का कारण प्रकृति है। अतः ये तीनों गुण मूल प्रकृति में विद्यमान हैं।

सत्व गुण

सत्व गुण लघु, प्रकाशक और इष्ट (आनन्द स्वरूप) होता है। इसी से ज्ञान विषयों को प्रकाशित करता है और इन्द्रियाँ विषयों को ग्रहण करती हैं। इसी के कारण मन बुद्धि और तेज में प्रकाश तथा दर्पण में प्रतिबिम्ब शक्ति है। लघुता अथवा

---

१ सत्त्व रजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः

२ 'गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमृच्छति' और अतीन्द्रियाणां प्रतीतिरनुमानात्।

उनका जन्म और मृत्यु, उत्पत्ति तथा विनाश होता है।

प्रकृति और वस्तुओ में अन्तर

प्रकृति अज, स्वतन्त्र, निरपेक्ष, एक, नित्य और उत्पत्ति तथा विनाश से परे है। वस्तुएँ देशकाल म सीमित हैं प्रकृति अनादि तथा अनन्त है। अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण प्रकृति अव्यक्त तथा अप्रत्यक्ष है। उसकी वस्तुओ से ही उसका अनुमान लगाया जाता है। उमम रजत के रूप मे गति विद्यमान है वस्तुएँ व्यक्त हैं प्रकृति अव्यक्त है। वस्तुएँ सावयव है प्रकृति निरवयव है। कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति नही होती। अत जगत के महत् आदि पदार्थों का जो कारण है वही प्रधान या प्रकृति है। अतिसूक्ष्म होने के कारण वह परोक्ष है।

साख्य कारिका मे प्रकृति का अस्तित्व मिद्ध करने के लिये निम्नलिखित श्लोक कहा गया है —

प्रकृति के अस्तित्व के प्रमाण

भेदाना परिमाणात् समन्वयात् कार्यत प्रवृत्तेश्च।
कारण कार्य विभागादविभागाद वैश्वरूप्यस्य ॥[1]

(१) **भेदाना परिमाणात्**—जगत की समस्त वस्तुएँ सीमित, परतन्त्र, सापेक्ष और सान्त हैं। अत उनको उत्पन्न करने वाला कारण असीम, स्वतन्त्र, निरपेक्ष और अनन्त प्रकृति ही होनी चाहिये।

(२) **भेदाना समन्वयात्**—जगत की वस्तुएँ भिन्न-भिन्न होने पर भी कुछ सामान्य गुण रखती हैं जिनके कारण वे सुख, दुख या मोह उत्पन्न करती हैं। अत उनको एक सूत्र मे बाँधने वाला एक ऐसा सामान्य कारण होना चाहिये जिसमे तीनो गुण हो और जिससे ससार की समस्त वस्तुएँ उत्पन्न हो जो 'समन्वय' करने वाला अर्थात् मर्वत्र एक भाव रखने वाला हो।

(३) **कार्यत प्रवृत्तेश्च**—सभी कार्य ऐसे कारणो से उत्पन्न होते हैं जिनमे वे अव्यक्त या बीज रूप मे निहित थे। विकास का अथ अव्यक्त का व्यक्त होना है। जगन की विकास करने वाली शक्ति जगत के कारण मे निहित होनी चाहिये। यह कारण प्रकृति है।

(४) **कारण कार्य विभागात्**—कारण और काय एक दूसरे से भिन्न होते हैं। कारण और कार्य के रूप मे तत्त्वो का विभाग किया जाता है जैसे महत कारण है और अहकार उसका कार्य है। कार्य व्यक्त कारण है और कारण अव्यक्त काय है। प्रत्येक काय का एक कारण होता है। अत जगत का भी एक कारण होगा जिसमे समस्त जगत अव्यक्त रूप मे उपस्थित हो। यही अव्यक्त है।

(५) **अविभागाद् वैश्वरुपस्य**—साख्य ने कारण और काय मे तादाम्य माना

---

१ **सांख्य कारिका १५।**

है। 'सत्य या सदृश परिणाम' के समय अर्थात् वर्तमान से अतीत मे जाकर कार्य अपने कारण में लीन होकर एक हो जाता है। इस प्रक्रिया से क्रमश प्रत्येक कार्य अपने कारण मे लीन हो जाता है। इस प्रकार समस्त जगत मे तादात्म्य अथवा अविभाग प्रतीत होने के लिये महत् को भी अपने कारण मे लीन होना चाहिये। अत जिससे महत् आदि सभी कार्य लीन होकर जगत एक मालूम होता है वही अव्यक्त है।

सांख्य के अनुसार सत्व रजस् और तमस् की साम्यावस्था को प्रकृति कहते है।[1]

प्रकृति के गुण

(गुणाना साम्यावस्था) अत प्रकृति मे सत्व रजस् और तमस् ये तीन गुण है। गुण शब्द के संस्कृत मे तीन अर्थ धर्म (Quality) रस्सी का गुण (Strand) तथा गौण। प्रकृति के ये गुण धर्म नही बल्कि द्रव्य है। प्रकृति का विश्लेषण करने पर उसमे तीन प्रकार के द्रव्य मिलते है। ये ही त्रिगुण है। ये मूल द्रव्य प्रकृति के उपादान तत्व है। ये गुण इसलिये भी कहलाते है क्योंकि ये रस्सी के तीनों गुणों अथवा रेशो के समान आपस मे मिलकर पुरुष को बाँधते है। पुरुष के उद्देश्य के साधन मे गौण रूप से सहायक होने के कारण भी ये गुण कहलाते है।

गुण सूक्ष्म और अतीन्द्रिय है। अत उनके कार्यों अथवा प्रभावो से उनकी उपस्थिति

गुणों के लिये प्रमाण

का अनुमान लगाया जाता है। ये प्रभाव क्रमश सुख दुख और मोह अथवा उदासीनता है। सांख्य के अनुसार कार्य और कारण मे तादात्म्य सम्बन्ध है। अत कार्यों को देखकर कारणो का अनुमान लगाया जा सकता है।

संसार के प्रत्येक विषय मे हम तीन गुण पाते है जिससे वे सुख दुख अथवा मोह उत्पन्न करती है। संगीत रसिक को सुख देता है रोगी को दुख देता है और भैंस आदि पशु उससे उदासीन रहते है। इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु एक मे सुख अन्य मे दुख तथा तीसरे मे उदासीनता उत्पन्न करती है। कार्य का गुण कारण मे विद्यमान रहता है अत इससे यह स्पष्ट होता है कि प्रत्येक विषय मे ये तीनों गुण विद्यमान है। विषयो का कारण प्रकृति है। अत ये तीनों गुण मूल प्रकृति मे विद्यमान है।

सत्व गुण लघु, प्रकाशक और इष्ट (आनन्द स्वरूप) होता है। इसी से ज्ञान

सत्व गुण

विषयो को प्रकाशित करता है और इन्द्रियाँ विषयो को ग्रहण करती है। इसी के कारण मन बुद्धि और तेज मे प्रकाश तथा दर्पण मे प्रतिबिम्ब शक्ति है। लघुता अथवा

---

१ सत्व रजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृति

२ 'गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमृच्छति' और "अतीन्द्रियतया अतीन्द्रिय गुणानाम्।

हलकापन, ऊर्ध्व अथवा ऊपर की दिशा मे गमन, आदि सब सत्व गुण के कारण हैं। हर्ष, सतोष, तृप्ति, उल्लास आदि सभी प्रकार के आनन्द वस्तुओ और मन में उपस्थिति सत्व गुण के कारण होते है।

रजोगुण

रजोगुण क्रिया का प्रवर्तक है। यह गतिशील है तथा अन्य वस्तुओ को भी चलाता है। यह उपष्टम्भक अथवा उत्तेजक भी है। हवा का बहना, इन्द्रियो का अपने विषयो की ओर दौडना और मन की चचलता इसी के कारण है। सत्व और तम दोनो ही स्वय निष्क्रिय है। रजोगुण ही उनमे गति का सचार करता है। यह दु खात्मक है। शारीरिक क्लेश अथवा मानसिक कष्ट आदि जितने भी दु खानुभव है वे सभी रजोगुण के कारण है।

तमोगुण

तमोगुण गुरु (भारी) तथा अवरोधक (रोकने वाला) होता है। वह सत्व गुण का उलटा है। यह प्रकाश को रोकता है। यह रजोगुण की क्रिया को भी रोकता है जिससे वस्तुओ की गति का नियत्रण होता है। यह जडता निष्क्रियता का प्रतीक है। इसी मे बुद्धि तेज आदि का प्रकाश फीका पड जाता है। और मूर्खता तथा अध कार उत्पन्न होते हैं। यह मोह अथवा अज्ञान उत्पन्न करता है। इसी से अवसाद अथवा उदासीनता होती है।

गुणो का सम्बन्ध

सत्व गुण को शुक्ल (उजला), रजोगुण को रक्त (लाल) और तमोगुण को कृष्ण (काला) माना गया है। इन तीनो गुणो मे परस्पर विरोध भी है और सहयोग भी है। इनमे से कोई भी अकेला नही रहता और न ही कोई अकेला कार्य कर सकता है। जैसे तेल, वत्ती और आग परस्पर विरुद्ध होकर भी दीपक के जलने मे सहयोग करते हैं उसी प्रकार ससार की प्रत्येक वस्तु मे ये तीनो गुण उपस्थित हैं। इनमे से प्रत्येक गुण एक दूसरे को दबाने की चेष्टा करता है तथा जिस वस्तु मे जो गुण प्रबल हो जाता है वैसा ही उस वस्तु का स्वभाव बन जाता है। शेष दो गुण भी उस वस्तु मे रहते है परन्तु ये गौण हो जाते हैं। इन्ही गुणो के कारण ही ससार की समस्त वस्तुओ को इष्ट, अनिष्ट तथा तटस्थ इन तीन वर्गों मे बाँटा गया है। ये तीनो गुण निरतर परिवर्तनशील हैं। वे एक क्षण भी अविष्कृत नहीं रह सकते क्योकि विकार उनका स्वभाव है।

सरूप और विरूप परिणाम

गुणो मे दो प्रकार के परिणाम होते हैं—सरूप और विरूप। प्रलय की अवस्था में प्रत्येक गुण अन्य से खिचकर स्वय अपने मे परिणत हो जाता है। इस प्रकार सत्व सत्व मे, रज रज मे, और तम-तम मे परिणत हो जाता है। यह परिणाम सरूप परिणाम कहलाता है। पृथक पृथक रहने के कारण इस अवस्था मे

गुण कोई काम नहीं कर सकता। सृष्टि से पूर्व की यही साम्यावस्था रहती है। साम्यावस्था में गुण अस्फुटित रूप से एक ऐसे अव्यक्त पिंड के रूप में रहते हैं जिसमें न रूपान्तर है न कोई विषय है और न शब्द, स्पर्श रूप रस और गन्ध आदि धर्म ही है। यही सांख्य की प्रकृति है। सृष्टि के समय में और उसके बाद प्रलय तक गुणों में क्षोभ रहता है और वे एक दूसरे पर प्रबल होने की चेष्टा करते रहते हैं। इस गुण-क्षोभ से ही नाना प्रकार के विषयों की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार का परिणाम विरूप परिणाम कहलाता है। यही सृष्टि का कारण है।

प्रकृति की अन्य विशेषताएँ

ईश्वर कृष्ण कहते हैं "हम लाल-सफेद और काली अज सबकी माता पालन करने वाली तथा समस्त प्रजा-कारण करने वाली प्रकृति को नमस्कार करते हैं।[1] व्यास के अनुसार प्रकृति "वह है जो कि है भी और नहीं भी है जिसकी सत्ता है और नहीं भी है जिसमें निसत्ता (Non Existence) नहीं है जो अव्यक्त है अलिंग है प्रधान है।[2] प्रकृति इतनी सत्ता नहीं है जितनी कि शक्ति है। हम प्रकृति और उसके गुणों का यथार्थ स्वभाव नहीं जानते क्योंकि हमारा ज्ञान वस्तु व्यक्त तक ही सीमित है। उसमें स्पर्श और शब्द नहीं है। व्यावहारिक दृष्टि से वह नाम मात्र है (संज्ञा मात्रम्)। परन्तु फिर भी उसका होना परम सत्य है और जगत की वस्तुओं के आधार पर अनुमान से प्रमाणित होता है।

पुरुष या आत्मा

सांख्य दर्शन का दूसरा तत्व है पुरुष या आत्मा। पुरुष आत्मा है, विषयी है ज्ञाता है। वह न तो शरीर है, न मानस न अहंकार और न बुद्धि ही है। वह चैतन्य का गुण रखने वाला द्रव्य नहीं है बल्कि स्वयं शुद्ध चैतन्य है। वह समस्त ज्ञान का आधार और परम ज्ञाता है। वह ज्ञान का विषय नहीं हो सकता। वह साक्षी है नित्य मुक्त है तटस्थ द्रष्टा है और शान्तिमय है। वह देश काल परिवर्तन और क्रिया से परे है। वह स्वयं प्रकाश और स्वयं सिद्ध है। वह सर्वव्यापी अद्वृत तथा सनातन है। उसकी सत्ता में संदेह नहीं किया जा सकता क्योंकि उसकी अनुपस्थिति में कोई भी ज्ञान यहाँ तक कि संदेह भी संभव नहीं है। वह निस्त्रैगुण्य उदासीन अकर्ता केवल मध्यस्थ साक्षी द्रष्टा तथा प्रकाश

---

१ अजामेकां लोहित शुक्ल कृष्णां बह्वीः प्रजा सृजमाना नमामः।

२ निःसत्तासत्तं निःसदसत् निरसद् अव्यक्तम्, अलिंगम् प्रधानम्।

स्वरूप और ज्ञाता कहा गया है।[1] साख्य वेदान्त के समान आत्मा को आनन्द स्वरूप नही मानता। आनन्द और चैतन्य भिन्न भिन्न है। पुरुष शुद्ध चैतन्य स्वरूप और प्रकृति की परिधि से परे है। वह निष्क्रिय और अधिकारी है। उसके विषय वदलते रहते हैं परन्तु वह स्वय कभी नही वदलता। वह स्वयभू और राग-द्वेषादि से परे हैं। कम, परिणाम, सुख दुख आदि प्रकृति और उसके विकारो के धर्म हैं।

साख्य कारिका मे पुरुष के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिये निम्नलिखित श्लोक मिलता है —

पुरुष के अस्तित्व के प्रमाण

सघात परार्थत्वात् त्रिगुणादि विपर्ययादधिष्ठानात्।
पुरुषोस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थं प्रवत्तेश्च ॥[2]

(१) **सघात पदार्थत्वात्**—सभी सघात अर्थात् अवयवीय पदार्थ किसी अन्य के लिये होते हैं। अचेतन तत्व इनका उपयोग नही कर सकता अत ये सब पदार्थ आत्मा अथवा पुरुष के लिये है। शरीर, इन्द्रियाँ, मानस तथा बुद्धि ये सभी पुरुष के लिये साधन मात्र हैं। त्रिगुण, प्रकृति, सूक्ष्म शरीर, सभी से पुरुष का प्रयोजन सिद्ध होता है। विकास प्रयोजनमय है। यह प्रयोजन पुरुष का कार्य ही है। पुरुष के काय साधन के लिये ही प्रकृति जगत के रूप मे अभि-व्यक्त होती है।

(२) **त्रिगुणादि विपर्ययात्**—सभी पदाथ तीन गुणो से निर्मित हैं अत पुरुष का भी होना आवश्यक है जो कि इन गुणो का साक्षी है और स्वय इनसे परे है। तीन गुणो से बने पदार्थ निस्त्रैगुण्य की उपस्थिति सिद्ध करते हैं जो कि उनसे परे है।

(३) **अधिष्ठानात्**—समस्त अनुभवो का समन्वय करने के लिये एक अनु-भवातीत समन्वयवादी शुद्ध चेतना होनी चाहिये। सभी ज्ञान ज्ञाता पर निर्भर हैं। पुरुष सभी व्यावहारिक ज्ञान का अधिष्ठाता है। सभी प्रकार के स्वीकार और नकारो मे उसका होना आवश्यक है। उसके बिना अनुभव नही हो सकता।

(४) **भोक्तृभावात्**—अचेतन प्रकृति अपनी कृतियो का उपभोग नही कर सकती। उनका उपभोग करने के लिये एक चेतन तत्व की आवश्यकता है।

---

१ **तस्मा च्च विपर्यासात् सिद्ध साक्षित्वमस्य पुरुषस्य।**
कैवल्य माध्यस्थ दृष्टत्वम कर्तृ भावश्च ॥

—सांख्य कारिका १९।

२ **सांख्य कारिका १७।**

प्रकृति भोग्या है अतः एक भोक्ता भी होना चाहिये। संसार के समस्त पदार्थ सुख दुःख अथवा उदासीनता उत्पन्न करते हैं। परन्तु सुख दुःख और उदासीनता का अनुभव करने के लिये एक चेतन तत्त्व की आवश्यकता है। अतः पुरुष का होना अनिवार्य है।

(५) कैवल्यार्थं प्रवृत्तेः—जगत् में अनेक लोग संसार के दुःखों से मुक्ति पाने की कामना करते हैं। मोक्ष की इच्छा के लिये व्यक्ति की आवश्यकता है जो मुक्ति के लिए प्रयत्न करे और मुक्ति प्राप्त करे। साधना के लिये साधक की आवश्यकता है। अतः पुरुषों का अस्तित्व मानना आवश्यक है।

पुरुष अनेक हैं

अद्वैत वेदान्त के विरुद्ध और जैन तथा मीमांसा के समान सांख्य भी पुरुष अनेक मानता है। तत्त्व रूप में वे सब एक ही हैं परन्तु उनकी संख्या अनेक है। उनका तत्त्व है चैतन्य। वह सभी आत्माओं में समान रूप से है।

इस अनेकात्मवाद को सिद्ध करने के लिये सांख्य कारिका में निम्नलिखित श्लोक मिलता है —

अनेकात्मवाद के प्रमाण

जननमरणकरणानां प्रतिनियमादयुगपत्प्रवृत्तेश्च।
पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव ॥[1]

(१) जनन मरण करणानां प्रतिनियमात्—सभी मनुष्यों के जन्म, मरण तथा करण अर्थात् इन्द्रियों के व्यापार भिन्न-भिन्न रूप से नियमित हैं। एक उत्पन्न होता है तो दूसरा मरता है। एक अन्धा है तो दूसरा आँख वाला है। यह भेद तभी सम्भव है यदि पुरुष अनेक हों। यदि एक ही पुरुष होता तो एक के मरने से सभी मर जाते एक के अन्धे होने से सभी अन्धे हो जाते। परन्तु ऐसा अनुभव में नहीं आता। अतः पुरुष अनेक है।

( ) अयुगपत् प्रवृत्तेश्च—सभी व्यक्तियों में समान प्रवृत्ति नहीं दिखाई पड़ती। प्रत्येक व्यक्ति में पृथक् पृथक् प्रवृत्ति दिखाई देती है। किसी एक में जब समय प्रवृत्ति है तो दूसरे में उसी समय निवृत्ति है। इस प्रकार जीवों में एक समय प्रवृत्ति न दिखाई देने के कारण यह मालूम होता है कि पुरुष अनेक हैं। यदि एक ही पुरुष होता तो जीवों में एक समय में एक ही प्रकार से प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति होती।

(३) त्रैगुण्यविपर्ययात्—संसार के सभी व्यक्तियों में तीनों गुण भिन्न भिन्न प्रकार से मिलते हैं। वैसे प्रत्येक वस्तु में सत्त्व रजस और तमस समान रूप से उपस्थित हैं। परन्तु फिर भी कोई व्यक्ति सात्त्विक है कोई राजसिक है तथा

---

१ सांख्य कारिका १

और भोग पाने (दर्शन कर्म) के लिये पुरुष को आवश्यकता होती है और पुरुष को मोक्ष के लिये अपवर्ग प्राप्त करने के लिये और स्वयं में तथा प्रकृति में अन्तर करके कैवल्य प्राप्त करने के लिये प्रकृति की आवश्यकता होती है ।[1] परन्तु दो विपरीत तथा स्वतन्त्र द्रव्यों का यथार्थ संयोग कैसे संभव है ? इस कठिनाई को अनुभव करके सांख्य में कहा है कि प्रकृति और पुरुष में कोई यथार्थ संयोग नहीं है बल्कि केवल निकटता है । पुरुष की निकटता (पुरुष—सन्निधि मात्र) ही गुणों में क्षोभ उत्पन्न करके विकास प्रारम्भ करने के लिये पर्याप्त है ।

गुणों में क्षोभ

सृष्टि के पहले सभी गुण साम्यावस्था में रहते हैं । प्रकृति और पुरुष का सान्निध्य होने पर इस साम्यावस्था में विकार उत्पन्न होता है इस अवस्था को गुण-क्षोभ कहते हैं । इसमें सबसे पहले रजो गुण परिवर्तनशील होता है क्योंकि वह स्वभावतः ही क्रियात्मक है । रजो गुण के कारण अन्य गुणों में भी स्पन्दन होने लगता है । इस प्रकार प्रकृति में भीषण उथल पुथल मच जाती है । एक गुण दूसरे गुण पर अधिकार जमाने की चेष्टा करता है । क्रमशः तीनों गुण अलग अलग होते और मिलते हैं । इससे न्यूनाधिक अनुपातों में उनके संयोगों से अनेक प्रकार के सांसारिक विषय उत्पन्न होते हैं ।

महर्षि कपिल के 'सांख्य दर्शन' में सांख्य के सृष्टि क्रम को निम्नलिखित श्लोक में बतलाया गया है —

सृष्टि का क्रम

सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः प्रकृतेर्महान्
महतोऽहंकारोऽहंकारात् ।
पञ्चतन्मात्राण्युभयमिन्द्रियं स्थूलभूतानि तन्मात्रेभ्यः
पुरुष इति पञ्चविंशतिर्गणः[2] ॥

यह सृष्टि क्रम निम्नलिखित चार्ट से और भी स्पष्ट हो जायगा —

---

१ पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य ।
पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः ॥

—सांख्य कारिका २१ ।

२ पुरुषः प्रकृतिर्बुद्धिरहंकारो गुणत्रयम् ।
तन्मात्रमिन्द्रियं भूतं मौलिकार्थाः स्मृता बुधैः ॥

—विज्ञान भिक्षु, सांख्य प्रवचन भाष्य ।

कोई तामसिक है। जो सात्विक है उनमे शान्ति, प्रकाश तथा सुख है। जो राजसिक हैं उनमे दु ख, अशान्ति तथा क्रोध है। जो तामसिक है उनमे मोह तथा अज्ञान है। यदि एक ही पुरुप होता तो सभी सात्विक, राजसिक या तामसिक होते। परन्तु ऐसा नही मालूम पडता। अत पुरुप अनेक हैं।[1]

विकास का सिद्धान्त

ससार की उत्पत्ति विकास के द्वारा होती है। यह विकास पुरुप तथा प्रकृति के सयोग से होता है। अकेला पुरुप सृष्टि नही कर सकता क्योकि वह निष्क्रिय है। इसी प्रकार अकेली प्रकृति भी सृष्टि नही कर सकती क्योकि वह जड है। अत सृष्टि के लिये इन दोनो का ससर्ग आवश्यक है। प्रकृति की क्रिया का पुरुप के चैतन्य से निरूपण होने पर ही प्रकृति की क्रिया से सृष्टि का आविर्भाव हो सकता है। परन्तु विरुद्ध धर्मो प्रकृति और पुरुप मे यह सहयोग कैसे हो सकता है? इसे समझाने के लिये साख्य अन्धे और लगडे का उदाहरण देता है। जिस प्रकार अन्धा और लगडा परस्पर सहयोग कर सकते हैं, लगडा अन्धे के कन्धो पर बैठकर उसे मार्ग दिखा सकता है और अन्धा लगडे को ले जा सकता है और इस प्रकार दोनो गन्तव्य स्थान पर पहुँच सकते हैं उसी प्रकार निष्क्रिय पुरुप और अचेतन प्रकृति लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये परस्पर सहयोग करते हैं। इस सयोग से गुणो के साम्य मे क्षोभ उत्पन्न होता है और विकास होने लगता है। प्रकृति को देखे जाने, जाने जाने

विकास का कारण

---

१ डा० उमेश मिश्र ने अपनी पुस्तक भारतीय दर्शन के पृष्ठ २९७ ३०६ में यह सिद्धान्त उपस्थित किया है कि साख्य पुरुष अनेक नहीं हैं। उनके मत के अनुसार साख्य में तीन प्रकार के पुरुष माने गये हैं—निर्लिप्त (ज्ञ), बद्ध पुरुष तथा मुक्त पुरुष। पुरुष को अनेक सिद्ध करने वाला जो श्लोक पीछे दिया गया है वह डा० मिश्र के अनुसार बद्ध पुरुष के विषय में है। बद्ध पुरुष अनेक हैं। मुक्त पुरुष अनेक हैं परन्तु 'ज्ञ' रूप पुरुष एक ही है डा० मिश्र का अनुमान है कि ईश्वर कृष्ण ने 'ज्ञ' तथा बद्ध पुरुष के सम्बन्ध को किसी कारिका मे अवश्य स्पष्ट किया होगा और यह लुप्त कारिका वर्तमान सोलहवीं तथा सत्रहवीं कारिका के मध्य मे रही होगी। पुरुष को प्रमाणित करने के लिये जो युक्तिया दी गई हैं, इस मत के अनुसार वे भी बद्ध पुरुष को ही सिद्ध करती हैं। डा० मिश्र का यह अनुमान असमीचीन नहीं मालूम पड़ता परन्तु पर्याप्त प्रमाण की अनुपस्थिति मे इसे मानना कठिन है।

और भोगे जाने (दर्शन कर्म) के लिये पुरुष की आवश्यकता होती है और पुरुष को भोग के लिये अपवर्ग प्राप्त करने के लिए और स्वयं में तथा प्रकृति में अन्तर करके कैवल्य प्राप्त करने के लिये प्रकृति की आवश्यकता होती है।[1] परन्तु दो विपरीत तथा स्वतन्त्र द्रव्यों का यथार्थ संयोग कैसे संभव है ? इस कठिनाई को अनुभव करके सांख्य ने कहा है कि प्रकृति और पुरुष में कोई यथार्थ संयोग नहीं है बल्कि केवल निकटता है। पुरुष की निकटता (पुरुष—सन्निधि मात्र) ही गुणों में क्षोभ उत्पन्न करके विकास प्रारम्भ करने के लिये पर्याप्त है।

सृष्टि के पहले सभी गुण साम्यावस्था में रहते हैं। प्रकृति और पुरुष का सान्निध्य होने पर इस साम्यावस्था में विकार उत्पन्न होता है इस

गुणों में क्षोभ

अवस्था को गुण-क्षोभ कहते हैं। इसमें सबसे पहले रजो गुण परिवर्तन शील होता है क्योंकि वह स्वभावतः ही क्रियात्मक है। रजो गुण के कारण अन्य गुणों में भी स्पन्दन होने लगता है। इस प्रकार प्रकृति में भीषण उथल पुथल मच जाती है। एक गुण दूसरे गुण पर अधिकार जमाने की चेष्टा करता है। क्रमशः तीनों गुण अलग अलग होते और मिलते हैं। इससे न्यूनाधिक अनुपातों में उनके संयोगों से अनेक प्रकार के सांसारिक विषय उत्पन्न होते हैं।

महर्षि कपिल के 'सांख्य दर्शन' में मोक्ष के सृष्टि क्रम को निम्नलिखित श्लोक में बतलाया गया है—

सृष्टि का क्रम

सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः प्रकृतेर्महान्
महतोऽहंकारोऽहंकारात् ।
पंचतन्मात्राण्युभयमिन्द्रियं स्थूलभूतानि तन्मात्रेभ्यः
पुरुष इति पंचविंशतिर्गणः[2] ॥

यह सृष्टि क्रम निम्नलिखित चार्ट से और भी स्पष्ट हो जायगा —

---

१ पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य ।
पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः ॥

—सांख्य कारिका २१ ।

२ पुरुषः प्रकृतिर्बुद्धिरहंकारो गुणास्त्रयः ।
तन्मात्रमिन्द्रियं भूतं मौलिकार्थाः स्मृता दश ॥

—विज्ञान भिक्षु सांख्य प्रवचन भाष्य ।

नोट—उपरोक्त चार्ट मे जो तीर से इगित भेद हैं वे सृष्टि के भेद न होकर उस विशेष तत्व के रूप ह जैसा अहकार के तीन रूप हैं यथा वैकारिक, भूतादि और तैजस ।

विकास की प्रथमकृति महत् अथवा महान है । वह बुद्धि, अहकार तथा मन समेत समस्त सृष्टि का कारण है । महत् बुद्धि का सार्वभौमपक्ष

महत् अथवा बुद्धि है । बुद्धि प्रत्येक व्यक्ति मे महत् का मनोवैज्ञानिक रूप है । कपिल ने कहा है **"अध्यवसायो बुद्धि"** । बुद्धि नित्य और अनित्य दोना है । विज्ञानभिक्षु उसमे सस्कार मानता है । बुद्धि के विशेष कार्य हैं निश्चय और अवधारण (Memory) उसके द्वारा ही ज्ञाता और ज्ञेय का भेद होता है । उसके द्वारा ही किसी विषय का निर्णय किया जाता है । बुद्धि का उदय सत्वगुण की अधिकता के कारण होता है । उसका स्वाभाविक धर्म स्वय की तथा अन्य वस्तुओ को प्रकाशित करना है । सत्व की अधिक वृद्धि होने पर बुद्धि

में धर्म ज्ञान वैराग्य और ऐश्वर्य बढ़ता है। तमस् बढ़ने पर अधर्म अज्ञान आसक्ति और अशक्ति उत्पन्न होती है। सत्व के गुण ही बुद्धि के सात्विक गुण हैं। बुद्धि की सहायता से पुरुष अपना और प्रकृति का भेद समझकर अपने यथार्थ स्वरूप की विवेचना कर सकता है। अतः बुद्धि आत्मा से भिन्न है। आत्मा समस्त भौतिक द्रव्यों तथा गुणों से परे है। बुद्धि जीवात्माओं के व्यावहारिक व्यापारों का आधार है। सत्व बढ़ने पर इसमें आत्मा का प्रतिबिम्ब पड़ता है और इससे बुद्धि प्रकाशयुक्त हो जाती है। इन्द्रियों और मन का व्यापार बुद्धि के लिये है और बुद्धि का व्यापार आत्मा के लिये है।

अहंकार

महत् से अहंकार उत्पन्न होता है। बुद्धि का मैं और मेरा का अभिमान ही अहंकार है। कपिल ने कहा है 'अभिमानोऽहंकारः'। बुद्धि मौलिक है अहंकार व्यावहारिक है। अहंकार के कारण ही पुरुष अपने को कर्ता (काम करने वाला) कामी (इच्छा करने वाला) और स्वामी (वस्तुओं का अधिकारी) समझने लगता है। अहंकार ही संसार के समस्त व्यवहारों का मूल है। सर्वप्रथम इन्द्रियों द्वारा विषयों का प्रत्यक्ष होता है। फिर मन विषयों पर विचार करके उनका स्वरूप निर्धारित करता है। फिर उन विषयों में हमारा 'मेरा' और 'मेरे लिये' का अहंकार जाग्रत हो जाता है।

अहंकार तीन प्रकार का माना गया है:—

अहंकार के भेद

(१) वैकारिक अथवा सात्विक—जिसमें सत्वगुण प्रधान होता है। सार्वभौम रूप में यह मनस्, पंच ज्ञानेन्द्रियाँ और पंच कर्मेन्द्रियाँ उत्पन्न करता है। मनोवैज्ञानिक रूप में यह अच्छे कर्म उत्पन्न करता है।

(२) भूतादि या तामस—जबकि तमस गुण प्रधान होता है। विश्वरूप में यह पंच तन्मात्र उत्पन्न करता है। मनोवैज्ञानिक रूप में यह आलस्य प्रमाद तथा उदासीनता उत्पन्न करता है।

(३) तैजस अथवा राजस्—जबकि रजस गुण प्रधान होता है। विश्वरूप में यह सात्विक और तामस गुणों के लिये शक्ति प्रदान करता है। मनोवैज्ञानिक रूप में यह बुरे कर्म उत्पन्न करता है।

अहंकार से सृष्टि का उपरोक्त क्रम सांख्य कारिका में दिया गया है। इसे वाचस्पति मिश्र भी मानते हैं। परन्तु विज्ञान भिक्षु ने 'सांख्य प्रवचन-भाष्य' में मन को ही एक मात्र इन्द्रिय माना है क्योंकि सत्वगुण प्रधान है और सात्विक अहंकार से उत्पन्न होता है। शेष दस इन्द्रियाँ राजस अहंकार का और पंचतन्मात्र तामस अहंकार का परिणाम है।

सांख्य के अनुसार मन न अणु है नित्य है और न निरवयव ही है। उसकी उत्पत्ति और विनाश होता है। अतः सांख्य के अनुसार हमें एक ही क्षण में अनेक ज्ञान इच्छाएँ और संकल्प हो सकते हैं यद्यपि साधारणतः वे पूर्वापर क्रम से चलते हैं। न्याय वैशेषिक के अनुसार मन और पाँच ज्ञानेन्द्रिय ही इन्द्रियाँ हैं। सांख्य के अनुसार इन्द्रियाँ ग्यारह हैं। न्याय वैशेषिक के अनुसार ज्ञानेन्द्रियाँ महाभूतों से उत्पन्न होती हैं। सांख्य इन्द्रियों को अहंकार से उत्पन्न मानता है।

पंच तन्मात्र

विषयों के सूक्ष्म तत्त्व तन्मात्र कहलाते हैं। पाँच विषयों के पाँच तन्मात्र होते हैं—शब्द, स्पर्श रूप रस और गन्ध। तन्मात्र अत्यन्त सूक्ष्म होते हैं और इस कारण प्रत्यक्ष नहीं देखे जा सकते। उनका ज्ञान अनुमान से होता है। परन्तु योगियों को उनका प्रत्यक्ष ज्ञान भी हो सकता है। न्याय वैशेषिक के अनुसार तन्मात्र महाभूत से उत्पन्न होते हैं। परन्तु सांख्य दर्शन में पंच महाभूत ही पंच तन्मात्रों से उत्पन्न होते हैं।

पंच महाभूत

पंच तन्मात्रों से पंच महाभूतों की उत्पत्ति निम्नलिखित रूप से होती है—(१) शब्द तन्मात्र से आकाश और शब्द गुण की उत्पत्ति होती है। आकाश का गुण शब्द है जो कान से सुना जाता है। (२) स्पर्श तन्मात्र और शब्द तन्मात्र के योग से वायु की उत्पत्ति होती है जिसके गुण शब्द और स्पर्श हैं। ये गुण भी वायु के साथ ही उत्पन्न होते हैं। (३) रूप तन्मात्र और स्पर्श-शब्द तन्मात्रों के योग से तेज या अग्नि तथा उसके गुण शब्द स्पर्श और रूप की उत्पत्ति होती है। (४) रस तन्मात्र तथा शब्द-स्पर्श रूप तन्मात्रों के योग से जल तथा उसके गुण शब्द स्पर्श रूप और रस की उत्पत्ति होती है (५) गन्ध तन्मात्र और शब्द स्पर्श-रूप रस तन्मात्रों के योग से पृथ्वी तथा उसके गुण शब्द, स्पर्श रूप रस तथा गन्ध की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार उपरोक्त क्रम में प्रत्येक परवर्ती में पूर्ववर्ती के गुण भी आ जाते हैं क्योंकि उनके तत्त्व एक दूसरे से मिलते हुए आगे बढ़ते हैं। वैसे आकाश वायु, तेज जल और पृथ्वी के विशेष गुण क्रमशः शब्द स्पर्श रूप रस और गन्ध हैं।

चार प्रकार के तत्त्व

इस प्रकार सम्पूर्ण विकास में चार प्रकार के तत्त्व हैं—प्रकृति विकृति प्रकृति विकृति तथा न प्रकृति न विकृति। उपरोक्त पचीस तत्त्वों में पुरुष न प्रकृति है और न विकृति है। प्रकृति केवल प्रकृति है। यह मूल प्रकृति है महत् अहंकार तथा पंच तन्मात्र आदि सात तत्त्व प्रकृति भी हैं और विकृति भी

मन का सहयोग ज्ञान और कर्म दोनो मे आवश्यक है। यह आभ्यन्तरिक इन्द्रिय है और अन्य इन्द्रियो को उनके विषयो की ओर प्रेरित करता है। सूक्ष्म होते हुए भी यह सावयव है और भिन्न भिन्न इन्द्रियो के साथ एक साथ सयुक्त हो सकता है।

मन

ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय वाह्य कारण है। मन, अहकार और बुद्धि अन्त करण है। प्राण की क्रिया अन्त करण मे प्रवर्तित होती है। अन्त करण को बाह्य इन्द्रियाँ प्रभावित करती हैं। ज्ञानेन्द्रियो द्वारा ग्रहीत प्रत्यक्ष निर्विकल्प होता है। मन उसका रूप निर्धारित करके उसे सविकल्प प्रत्यक्ष के रूप मे परिणत करता है। अहकार प्रत्यक्ष विषयो पर स्वत्व जमाता है। वह उद्देश्य पूर्ति के अनुकूल विषयो मे राग और प्रतिकूल विषयो से द्वेष रखता है। बुद्धि इन विषयो का ग्रहण या त्याग करने का निश्चय करती है। तीन अत करण और दस वाह्य करण ये सब मिलकर त्रयोदश करण (तेरह साधन) कहलाते हैं। वाह्य इन्द्रियाँ वर्तमान विषयो मे ही सम्बन्ध रखती हैं। परन्तु आभ्यन्तरिक इन्द्रियो का सम्बन्ध केवल वर्तमान विषयो मे होता है जबकि आभ्यन्तरिक इन्द्रियाँ भूत भविष्य और वर्तमान सभी कालो के विषयो से सम्बन्ध रखती हैं।

नेत्र, श्रवण, घ्राण, रसना और त्वचा ये पाँच ज्ञानेन्द्रिया है। वास्तव मे इन्द्रिय अप्रत्यक्ष शक्ति है जोकि प्रत्यक्ष अवयव मे रहती और विषय को ग्रहण करती है। इस प्रकार इन्द्रिय आँख नही बल्कि उसकी देखने की शक्ति है। अत इन्द्रियाँ प्रत्यक्ष नही दिखलाई पडती उनके धर्म से उनका अनुमान लगाया जाता है। उपरोक्त पाँच ज्ञानेद्रियो को क्रमश रूप, शब्द, गन्ध, स्वाद और स्पर्श का ज्ञान होता है। ये सब पुरुष के लिये उत्पन्न होते हैं और अहकार के परिणाम हैं।

पच ज्ञानेन्द्रिय

विषयो और इन्द्रियो की उत्पत्ति का कारण पुरुष की विषयभोग की इच्छा है। पाँच कर्मेन्द्रियाँ (अप्रत्यक्ष शक्तियाँ) शरीर के इन अगो मे अवस्थित हैं—मुख, हाथ, पैर, मलद्वार और जननेद्रिय इनसे क्रमश ये काम होते हैं—वाक् (बोलना), ग्रहण (किसी वस्तु को पकडना,) गमन (जाना) मल नि सारण (मल बाहर निकलना) और जनन (सन्तान उत्पन्न करना)।

पाँच कर्मेन्द्रिय

साख्य के उपरोक्त विचार अन्य दर्शनो के मन तथा इन्द्रिय सम्बन्धी विचारो से भिन्न हैं। वेदान्त के अनुसार पचप्राण स्वतन्त्र हैं। साख्य के अनुसार वे अन्त करण के कार्य हैं। न्याय वैशेषिक के अनुसार मन नित्य, अणु,निरवयव है और इस कारण भिन्न-भिन्न इन्द्रियो के साथ एक ही समय मे सयोग नही कर सकता। मनुष्य एक ही समय मे अनेक सकल्प इच्छाएँ अथवा ज्ञान नही कर सकता।

अन्य मतों से अन्तर

सांख्य के अनुसार मन न अणु है नित्य है और न निरवयव ही है। उसकी उत्पत्ति और विनाश होता है। अतः सांख्य के अनुसार हमें एक ही क्षण में अनेक ज्ञान इच्छाएँ और प्रयत्न हो सकते हैं यद्यपि साधारणतः वे पूर्वापर क्रम से चलते हैं। न्याय वैशेषिक के अनुसार मन और पाँच ज्ञानेन्द्रिय ही इन्द्रियाँ हैं। सांख्य के अनुसार इन्द्रियाँ ग्यारह हैं। न्याय वैशेषिक के अनुसार ज्ञानेन्द्रियाँ महाभूतों से उत्पन्न होती हैं। सांख्य इन्द्रियों को अहंकार से उत्पन्न मानता है।

पंच तन्मात्र

विषयों के सूक्ष्म तत्त्व तन्मात्र कहलाते हैं। पाँच विषयों के पाँच तन्मात्र होते हैं—शब्द स्पर्श रूप रस और गन्ध। तन्मात्र अत्यन्त सूक्ष्म होते हैं और इस कारण प्रत्यक्ष नहीं देखे जा सकते। उनका ज्ञान अनुमान से होता है। परन्तु योगियों को उनका प्रत्यक्ष ज्ञान भी हो सकता है। न्याय वैशेषिक के अनुसार तन्मात्र महाभूत से उत्पन्न होते हैं। परन्तु सांख्य दर्शन में पंच महाभूत ही पंच तन्मात्रों से उत्पन्न होते हैं।

पंच महाभूत

पंच तन्मात्रों से पंच महाभूतों की उत्पत्ति निम्नलिखित क्रम से होती है:— (१) शब्द तन्मात्र से आकाश और शब्द गुण की उत्पत्ति होती है। आकाश का गुण शब्द है जो कान से सुना जाता है। (२) स्पर्श तन्मात्र और शब्द तन्मात्र के योग से वायु की उत्पत्ति होती है जिसके गुण शब्द और स्पर्श हैं। ये गुण भी वायु के साथ ही उत्पन्न होते हैं। (३) रूप तन्मात्र और स्पर्श-शब्द तन्मात्रों के योग से तेज या अग्नि तथा उसके गुण शब्द स्पर्श और रूप की उत्पत्ति होती है। (४) रस तन्मात्र तथा शब्द-स्पर्श रूप तन्मात्रों के योग से जल तथा उसके गुण शब्द स्पर्श रूप और रस की उत्पत्ति होती है (५) गन्ध तन्मात्र और शब्द स्पर्श-रूप रस तन्मात्रों के योग से पृथ्वी तथा उसके गुण शब्द स्पर्श रूप रस तथा गन्ध की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार उपरोक्त क्रम में प्रत्येक परवर्ती में पूर्ववर्ती के गुण भी आ जाते हैं क्योंकि उनके तत्त्व एक दूसरे से मिलते हुए आगे बढ़ते हैं। जैसे आकाश वायु, तेज जल और पृथ्वी के विशेष गुण क्रमशः शब्द स्पर्श रूप रस और गन्ध हैं।

चार प्रकार के तत्त्व

इस प्रकार सम्पूर्ण विकास में चार प्रकार के तत्त्व हैं—प्रकृति विकृति प्रकृति विकृति तथा न प्रकृति न विकृति। उपरोक्त पचीस तत्त्वों में पुरुष न प्रकृति है और न विकृति है। प्रकृति केवल प्रकृति है। यह मूल प्रकृति है महत् अहंकार तथा पंच तन्मात्र आदि सात तत्त्व प्रकृति भी हैं और विकृति भी

हैं । पच ज्ञानेन्द्रियाँ, पच कर्मेन्द्रियाँ, पच महाभूत तथा मन ये सोलह तत्व केवल विकृति हैं ।[1]

इस विकास क्रम के भी दो रूप हैं—(१) प्रत्ययसर्ग या बुद्धिसर्ग तथा (२) तन्मात्र सर्ग या भौतिक सर्ग। सबसे पहले बुद्धि, अहकार और ग्यारह इन्द्रियो का आविर्भाव होता है। दूसरी अवस्था मे पच तन्मात्रो, पच महाभूतो और उनके विकारो (कार्य द्रव्यो) का प्रादुर्भाव होता है। तन्मात्र साधारण व्यक्तियो के लिये अप्रत्यक्ष और अभोग्य हैं। इस कारण वे अविशेष (विशेष प्रत्यक्ष धर्मो से रहित) कहलाते हैं। भौतिक तत्व तथा उनके परिणाम, सुख, दुख तथा मोह आदि विशेष धर्मो मे युक्त होते हैं। अत ये विशेष कहलाते हैं। ये विशेष या विशिष्ट द्रव्य तीन प्रकार के हैं—(१) स्थूल महाभूत (२) स्थूल शरीर यह पच-भूतो से निर्मित है। (३) सूक्ष्म शरीर (लिंग शरीर)—बुद्धि, अहकार, ग्यारह इन्द्रियाँ तथा पच तन्मात्रो के समूह को कहते हैं। सूक्ष्म शरीर का आश्रय स्थूल शरीर है। बुद्धि, अहकार और इन्द्रिय भौतिक आश्रय के बिना कार्य नही कर सकते। वाचस्पति मिश्रने स्थूल और सूक्ष्म के दो प्रकार के शरीर माने हैं। परन्तु विज्ञान भिक्षु के अनुसार एक तीसरे प्रकार का शरीर भी है जिसे 'अधिष्ठान शरीर' कहते हैं। सूक्ष्म शरीर के एक स्थूल शरीर से दूसरे स्थूल शरीर मे जाने पर यही अधिष्ठान शरीर उसका अवलम्बन होता है।

विकास के दो रूप

साख्य का विकास वाद परमाणुओ का अन्ध सयोग मात्र नही है। वह प्रयोजन-वादी (Teleological) है अचेतन रूप से ससार की प्रत्येक वस्तु जगत मे आत्मा के प्रयोजन को सिद्ध करती है। जैसे अचेतन वृक्ष से फल निकलते हैं अथवा पृथ्वी के ढलाव के कारण जल बहता है अथवा लौहकण चुम्बक की ओर आकर्षित होते हैं अथवा बछडे के पोषण के लिये गौ के स्तनो से दूध बहता है उसी प्रकार प्रत्येक वस्तु अचेतन रूप से पुरुष के प्रयोजन को ही पूर्ण करती है। चाहे वह भोग हो या मोक्ष।[2] प्रकृति पुरुष की सहायता करने वाली है। यद्यपि पुरुष

विकास का प्रयोजन

---

१ मूल प्रकृतिरविकृतिर्महदाद्य प्रकृतिविकृतय सप्त ।
षोडश कास्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृति पुरुष ॥
—सांख्य कारिका, ३ ।

२ वत्सविवृद्धि निमित्तम क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य ।
पुरुष विमोक्ष निमित्त तथा प्रवृत्ति प्रधानस्य ॥
—सांख्य कारिका ५७ ।

निष्क्रिय तटस्थ तथा निर्गुण है तथापि उदार प्रकृति जो कि गुणों से भरपूर है तटस्थ रहकर, अपने लिये कोई लाभ न उठाते हुए पुरुष के लक्ष्य को सिद्ध करने के लिये लगातार कार्य करती है।[1] प्रकृति पुरुष के मोक्ष के लिये कार्य करती है।[2] यद्यपि सांख्य प्रकृति को ही निमित्त तथा उपादान कारण मानता है और पुरुष न कार्य है और न कारण परन्तु प्रकृति की अपेक्षा उसे ही विकास का असली निमित्त तथा अन्तिम कारण मानना चाहिये। गुण परस्पर विरुद्ध होते हुए भी तेल बत्ती और दीपक की लौ के समान परस्पर सहयोग करके पुरुष का अर्थ प्रकाशित करते और उसे बुद्धि के सम्मुख उपस्थित करते हैं। सभी करण पुरुष के ही कार्य के लिये हैं और किसी भी अन्य लक्ष्य के लिये नहीं है।[4] सूक्ष्म शरीर भी पुरुष के ही कार्य के लिये है। इस प्रकार प्रथम विकृति महत् से अन्तिम विकृति पञ्च स्थूल भूतों तक प्रकृति का विकास प्रति पुरुष के मोक्ष के लिये है।[6] जब तक समस्त पुरुष मुक्त न हो जाएँगे तब तक यह विकास चलता जायगा।

मोक्ष

भारतीय दर्शन की परम्परा के अनुसार सांख्य भी जीवन को दुःखमय मानता है। जीवन में थोड़े बहुत सुख होते हुए भी जन्म मरण जरा और रोग के दुःखों के सामने वे नगण्य हैं।

---

१ नाना विधैरुपायैरुपकारिण्यनुपकारिणः पुंसः।
गुणवत्यगुणस्य सतस्तस्यार्थमपार्थकं चरति॥

—सांख्य कारिका ६ ।

२ पुरुषस्य विमोक्षार्थं प्रवर्तते तद्वदव्यक्तम्।

—सांख्य कारिका ५८ ।

३ एते प्रदीप कल्पाः परस्पर विलक्षणा गुणविशेषाः।
कृत्स्नं पुरुषस्यार्थं प्रकाश्य बुद्धौ प्रयच्छन्ति॥

—सांख्य कारिका ३६ ।

४ पुरुषार्थ एव हेतुर्न केनचित् कार्यते करणम्॥

—सांख्य कारिका ३१ ।

५ पुरुषार्थ हेतुकमिदम् (लिङ्गम्)॥

—सांख्य कारिका ४२ ।

६ इत्येष प्रकृतिकृतो महदादिविशेषभूतपर्यन्तः।
प्रतिपुरुष विमोक्षार्थं स्वार्थ इव परार्थ आरम्भः॥

—सांख्य कारिका ५६ ।

हैं। पंच ज्ञानेन्द्रियाँ, पंच कर्मेन्द्रियाँ, पंच महाभूत तथा मन ये सोलह तत्व केवल विकृति हैं।[1]

विकास के दो रूप

इस विकास क्रम के भी दो रूप है—(१) प्रत्ययसर्ग या बुद्धिसर्ग तथा (२) तन्मात्र सर्ग या भौतिक सर्ग। सबसे पहले बुद्धि, अहंकार और ग्यारह इन्द्रियों का आविर्भाव होता है। दूसरी अवस्था मे पंच तन्मात्रों, पंच महाभूतों और उनके विकारों (कार्य द्रव्यों) का प्रादुर्भाव होता है। तन्मात्र साधारण व्यक्तियों के लिये अप्रत्यक्ष और अभोग्य है। इस कारण वे अविशेष (विशेष प्रत्यक्ष धर्मों से रहित) कहलाते हैं। भौतिक तत्व तथा उनके परिणाम, सुख, दुःख तथा मोह आदि विशेष धर्मों से युक्त होते हैं। अतः ये विशेष कहलाते हैं। ये विशेष या विशिष्ट द्रव्य तीन प्रकार के हैं—(१) स्थूल महाभूत (२) स्थूल शरीर यह पंच-भूतो से निर्मित है। (३) सूक्ष्म शरीर (लिंग शरीर)—बुद्धि, अहंकार, ग्यारह इन्द्रियाँ तथा पंच तन्मात्रो के समूह को कहते है। सूक्ष्म शरीर का आश्रय स्थूल शरीर है। बुद्धि, अहंकार और इन्द्रिय भौतिक आश्रय के बिना कार्य नही कर सकते। वाचस्पति मिश्रने स्थूल और सूक्ष्म के दो प्रकार के शरीर माने है। परन्तु विज्ञान भिक्षु के अनुसार एक तीसरे प्रकार का शरीर भी है जिसे 'अधिष्ठान शरीर' कहते हैं। सूक्ष्म शरीर के एक स्थूल शरीर से दूसरे स्थूल शरीर मे जाने पर यही अधिष्ठान शरीर उसका अवलम्बन होता है।

विकास का प्रयोजन

सांख्य का विकास वाद परमाणुओं का अन्ध संयोग मात्र नहीं है। वह प्रयोजन-वादी (Teleological) है अचेतन रूप से संसार की प्रत्येक वस्तु जगत मे आत्मा के प्रयोजन को सिद्ध करती है। जैसे अचेतन वृक्ष से फल निकलते हैं अथवा पृथ्वी के ढलाव के कारण जल बहता है अथवा लौहकण चुम्बक की ओर आकर्षित होते है अथवा बछड़े के पोषण के लिये गौ के स्तनो से दूध बहता है उसी प्रकार प्रत्येक वस्तु अचेतन रूप से पुरुष के प्रयोजन को ही पूर्ण करती है। चाहे वह भोग हो या मोक्ष।[2] प्रकृति पुरुष को सहायता करने वाली है। यद्यपि पुरुष

---

१ मूल प्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः॥

—सांख्य कारिका, ३।

२ वत्सविवृद्धि निमित्तम् क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य।
पुरुष विमोक्ष निमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य॥

—सांख्य कारिका ५७।

निष्क्रिय तटस्थ तथा निर्गुण है तथापि उदार प्रकृति जो कि गुणों से भरपूर है तटस्थ रहकर अपने लिये कोई लाभ न उठाते हुए पुरुष के लक्ष्य को सिद्ध करने के लिये लगातार कार्य करती है।[1] प्रकृति पुरुष के मोक्ष के लिये कार्य करती है।[2] यद्यपि सांख्य प्रकृति को ही निमित्त तथा उपादान कारण मानता है और पुरुष न कार्य है और न कारण परन्तु प्रकृति की अपेक्षा उसे ही विकास का असली निमित्त तथा अन्तिम कारण मानना चाहिये। गुण परस्पर विरुद्ध होते हुए भी तेल बत्ती और, दीपक की लौ के समान परस्पर सहयोग करके पुरुष का अर्थ प्रकाशित करते और उसे बुद्धि के सम्मुख उपस्थित करते हैं।[3] सभी करण पुरुष के ही कार्य के लिये हैं और किसी भी अन्य लक्ष्य के लिये नहीं हैं।[4] सूक्ष्म शरीर भी पुरुष के ही कार्य के लिये है।[5] इस प्रकार प्रथम विकृति महत से अन्तिम विकृति पञ्च स्थूल भूतों तक प्रकृति का विकास प्रति पुरुष के मोक्ष के लिये है।[6] जब तक समस्त पुरुष मुक्त न हो जाएँगे तब तक यह विकास चलता जायगा।

मोक्ष

भारतीय दर्शन की परम्परा के अनुसार सांख्य भी जीवन को दुःखमय मानता है। जीवन में थोड़े बहुत सुख होते हुए भी जन्म मरण जरा और रोग के दुःखों के सामने वे नगण्य हैं।

---

१ नानाविधैरुपायैरुपकारिण्यनुपकारिणः पुंसः।
गुणवत्यगुणस्य सतस्तस्यार्थमपार्थकं चरति॥

—सांख्य कारिका ६ ।

२ पुरुषस्य विमोक्षार्थं प्रवर्तते तद्वदव्यक्तम्।

—सांख्य कारिका ५ ।

३ एते प्रदीपकल्पाः परस्परविलक्षणा गुणविशेषाः।
कृत्स्नं पुरुषस्यार्थं प्रकाश्य बुद्धौ प्रयच्छन्ति॥

—सांख्य कारिका ३६।

४ पुरुषार्थ एव हेतुर्न केनचित् कार्यते करणम्॥

—सांख्य कारिका ३१।

५ पुरुषार्थहेतुकमिदम् (लिङ्गम्)॥

—सांख्य कारिका ४२।

६ इत्येष प्रकृतिकृतो महदादिविशेषभूतपर्यन्तः।
प्रतिपुरुषविमोक्षार्थं स्वार्थ इव परार्थ आरम्भः॥

—सांख्य कारिका ५६।

सासारिक जीवन दु खो से परिपूर्ण है। ये दु ख साधारणत तीन प्रकार के हैं।

त्रिविध दु ख

(१) आध्यात्मिक—शारीरिक, मानसिक कारणो से होता है। इसम सभी प्रकार के शारीरिक तथा मानसिक कष्ट सम्मिलित है। राग, क्रोध, सताप और भूख आदि आध्यात्मिक दु ख है। (२) आधिभौतिक—मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट इत्यादि प्राकृतिक कारणो से होते है। यह बाह्य भौतिक पदार्थ से उत्पन्न होता है। (३) आधिदैविक—बाह्य अलौकिक कारण से उत्पन्न होता है जैसे नक्षत्र, तत्व, भूत, प्रेतादि। जहा गुण है वहा दु ख है। सुखो का अन्त भी दुखो मे होता है। स्वर्ग का जीवन तक गुणो के आधीन है। मनुष्य का लक्ष्य इन तीन प्रकार के दु खो से छुटकारा पाना है।[1] मोक्ष का अर्थ समस्त दु खो से छुटकारा पाना है। यही अपवर्ग अथवा पुरुषार्थ है।

मुक्ति का उपाय

दु खो से मुक्ति का एक मात्र उपाय तत्वज्ञान है। दु ख का कारण अज्ञान है। अज्ञान का अर्थ है अपने यथार्थ स्वरूप से अनभिज्ञता। आत्मा का यथार्थ स्वरूप न जानने के कारण जीव अपने को बुद्धि, मन अथवा अहकार मानकार उनके सुख-दु ख से प्रभावित होता है और क्योंकि ये सब गुणो के आधीन है अत दु ख अवश्यम्भावी है। जब जीव अपने यथार्थ स्वरूप आत्मा या पुरुष का ज्ञान जाता है तब मन और अहकार आदि के दु खो का उसपर प्रभाव नही पडता। इस प्रकार प्रकृति और पुरुष के भेद का ज्ञान ही वास्तविक मोक्ष का आधार है।

पुरुष का स्वरूप

पुरुष मुक्त और शुद्ध चैतन्य है। वह निष्क्रिय, तटस्थ और गुणातीत है। वह देशकाल, धर्म, अधर्म, बन्धन और मोक्ष से परे है। उसका प्रतिबिम्ब बुद्धि मे पडता है। इस प्रतिबिम्ब को अथवा बुद्धि, अहकार या मन को अपना स्वरूप समझना ही जीव के बन्धन का कारण है। समस्त क्रियाएँ, सुख, दु ख, परिवर्तन तथा भाव आदि मन युक्त शरीर के विकार है। आत्मा समस्त शारीरिक और मानसिक दु खो से परे हैं। उपरोक्त त्रिविध दु खो से वह अलिप्त है। पुरुष नही बधता, अहकार ही बन्धता है। अपने वास्तविक स्वरूप का साक्षात्कार करने से जीव मुक्त हो जाता है। वास्तविक स्वरूप अथवा आत्मा या पुरुष के रूप मे वह सदैव ही मुक्त है। अत बन्धन का अर्थ आत्मा और अनात्मा के भेद को न जानना है और मोक्ष का अर्थ उस भेद का ज्ञान है। कर्म से मोक्ष नही मिल सकता। अच्छे, बुरे या उदासीन सभी कर्म गुणो के कारण है और

१ दु:खत्रयाभिघातात् जिज्ञासा तदपघातके हेतौ ॥

—सांख्य कारिका।

बन्धन उत्पन्न करते हैं। शुभ कर्म स्वर्ग को ले जाते हैं और अशुभ कर्मों से नरक मिलता है। परन्तु सांसारिक जीवन के समान स्वर्ग और नरक भी दुःखमय है। ज्ञान ही मोक्ष की ओर ले जा सकता है क्योंकि बन्धन अज्ञान के कारण है और अज्ञान केवल ज्ञान से ही दूर किया जा सकता है। प्रकृति और पुरुष का भेद करने से यह ज्ञान प्राप्त होता है। कर्म और फल धर्म और अधर्म सुख और दुःख सभी अनात्मा में होते हैं। 'मैं अनात्मा नहीं हूँ' 'मेरा कुछ नहीं है' और 'अहंकार असत् है' इस ज्ञान पर मनन मनन करने से यह शुद्ध विपर्यय हीन तथा निरपेक्ष हो जाता है और मोक्ष की ओर ले जाता है।[2]

जीवन्मुक्ति और विदेह-मुक्ति

सांख्य जीवन्मुक्ति और विदेह-मुक्ति दोनों को मानता है। तत्त्व ज्ञान होते ही जीव तत्काल मुक्त हो जाता है चाहे प्रारब्ध कर्मों के कारण उसे और कुछ समय शरीर धारण करना पड़े। जैसे कुम्हार का चाक (चक्र) पर से हाथ हटा लेने पर भी वह पिछली गति के कारण कुछ समय तक घूमता रहता है उसी प्रकार मोक्ष प्राप्त होने के पश्चात् भी पूर्व कर्मों की गति के कारण शरीर कुछ काल तक बना रहता है। क्योंकि मुक्त पुरुष शरीर रहते हुए भी शरीर से कोई सम्बन्ध नहीं अनुभव करता। अतः कोई नवीन कर्म एकत्रित नहीं होते क्योंकि कर्मों की शक्ति समाप्त हो जाती है। अन्तिम और पूर्ण मोक्ष जिसमें शरीर आदि का भी बन्धन न रह जाय मृत्यु के पश्चात् ही प्राप्त होता है। यह विदेह-मुक्ति है। इस अवस्था में स्थूल सूक्ष्म सभी शरीरों से सम्बन्ध छूटकर पूर्ण कैवल्य प्राप्त हो जाता है। विज्ञान-भिक्षु के अनुसार विदेह-मुक्ति ही एकमात्र मुक्ति है क्योंकि जब तक आत्मा शरीर में रहता है तब तक उसका शारीरिक और मानसिक विकारों से पूर्ण सम्बन्ध विच्छेद नहीं होता। वेदान्त के अनुसार मोक्ष की अवस्था आनन्दमय है।

---

१ धर्मेण गमनमूर्ध्वं गमनमधस्ताद् भवत्यधर्मेण।
ज्ञानेन चापवर्गो विपर्ययादिष्यते बन्धः॥

—सांख्य कारिका ४४।

२ एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम्।
अविपर्ययाद् विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम्॥

—सांख्य कारिका ६४।

३ सम्यग्ज्ञानाधिगमाद् धर्मादीनामकारणप्राप्तौ।
तिष्ठति संस्कारवशात् चक्रभ्रमिवद् धृतशरीरः॥

—सांख्य कारिका ६७।

सासारिक जीवन दुखो से परिपूर्ण है। ये दुख साधारणत तीन प्रकार के हैं।

त्रिविध दुख

(१) आध्यात्मिक—शारीरिक, मानसिक कारणो से होता है। इसमें सभी प्रकार के शारीरिक तथा मानसिक कष्ट सम्मिलित हैं। राग, क्रोध, सताप और भूख आदि आध्यात्मिक दुख हैं। (२) आधिभौतिक—मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट इत्यादि प्राकृतिक कारणो से होते हैं। यह बाह्य भौतिक पदार्थ से उत्पन्न होता है। (३)आधिदैविक—बाह्य अलौकिक कारण से उत्पन्न होता है जैसे नक्षत्र, तत्व, भूत, प्रेतादि। जहा गुण है वहा दुख है। सुखो का अन्त भी दुखो मे होता है। स्वर्ग का जीवन तक गुणो के आधीन है। मनुष्य का लक्ष्य इन तीन प्रकार के दुखो से छुटकारा पाना है।[1] मोक्ष का अर्थ समस्त दुखो से छुटकारा पाना है। यही अपवर्ग अथवा पुरुषार्थ है।

मुक्ति का उपाय

दुखो से मुक्ति का एक मात्र उपाय तत्वज्ञान है। दुख का कारण अज्ञान है। अज्ञान का अर्थ है अपने यथार्थ स्वरूप से अनभिज्ञता। आत्मा का यथार्थ स्वरूप न जानने के कारण जीव अपने को बुद्धि, मन अथवा अहकार मानकर उनके सुख-दुख से प्रभावित होता है और क्योंकि ये सब गुणो के आधीन हैं अत दुख अवश्यम्भावी है। जब जीव अपने यथार्थ स्वरूप आत्मा या पुरुष को जान जाता है तब मन और अहकार आदि के दुखो का उसपर प्रभाव नही पडता। इस प्रकार प्रकृति और पुरुष के भेद का ज्ञान ही वास्तविक मोक्ष का आधार है।

पुरुष का स्वरूप

पुरुष मुक्त और शुद्ध चैतन्य है। वह निष्क्रिय, तटस्थ और गुणातीत है। वह देशकाल, धर्म, अधर्म, बन्धन और मोक्ष से परे है। उसका प्रतिबिम्ब बुद्धि मे पडता है। इस प्रतिबिम्ब को अथवा बुद्धि, अहकार या मन को अपना स्वरूप समझना ही जीव के बन्धन का कारण है। समस्त क्रियाएँ, सुख, दुख, परिवर्तन तथा भाव आदि मन युक्त शरीर के विकार हैं। आत्मा समस्त शारीरिक और मानसिक दुखो से परे हैं। उपरोक्त त्रिविध दुखों से वह अलिप्त है। पुरुष नही बधता, अहकार ही बन्धता है। अपने वास्तविक स्वरूप का साक्षात्कार करने से जीव मुक्त हो जाता है। वास्तविक स्वरूप अथवा आत्मा या पुरुष के रूप मे वह सदैव ही मुक्त है। अत बन्धन का अर्थ आत्मा और अनात्मा के भेद को न जानना है और मोक्ष का अर्थ उस भेद का ज्ञान है। कर्म से मोक्ष नही मिल सकता। अच्छे, बुरे या उदासीन सभी कर्म गुणो के कारण हैं और

१ दुःखत्रयाभिघातात् जिज्ञासा तदपघातके हेतौ ॥

—सांख्य कारिका।

मानना आवश्यक है जिसके सानिध्य मात्र से प्रकृति की क्रिया शक्ति प्रवर्तित हो जाय जैसे चुम्बक के समीप लोहे में गति आ जाती है। ईश्वर अपने में पूर्ण और नित्य ज्ञानी है। विज्ञान भिक्षु का कहना है कि श्रुति तथा शास्त्र दोनों से ही ऐसे ईश्वर की सिद्धि होती है। परन्तु सांख्य की यह ईश्वरवादी व्याख्या अधिक प्रचलित नहीं है।

निरीश्वर सांख्य

अधिकांश भाष्यकार सांख्य को निरीश्वर ही मानते हैं। सनातन सांख्य को मानने वालों ने ईश्वर के अस्तित्व के विरुद्ध निम्नलिखित युक्तियाँ दी हैं। (१) संसार कार्य रूप लगता है अतः उसका आदि कारण भी अवश्य होना चाहिये। परन्तु यह कारण ईश्वर नहीं हो सकता क्योंकि ईश्वर नित्य तथा निर्विकार (अपरिणामी) पर मात्मा है और जो स्वयं अपरिणामी है वह किसी वस्तु का निमित्त कारण अर्थात् क्रिया का प्रवर्तक कैसे हो सकता है। प्रकृति नित्य होकर भी परिणामी है। अतः वही जगत का आदि कारण है। (२) यहाँ पर यह आक्षेप उठाया जा सकता है कि प्रकृति जड़ है अतः उसकी गति को नियंत्रित और नियमित करने के लिये एक चेतन सत्ता की आवश्यकता है। यह कार्य जीवात्माओं से नहीं हो सकता क्योंकि उनका ज्ञान सीमित है। अतः प्रकृति का संचालन करने के लिये एक अनन्त बुद्धियुक्त चेतन सत्ता की आवश्यकता है। सांख्य इस तर्क को नहीं मानता। अकर्ता ईश्वर प्रकृति की संचालन की क्रिया कैसे कर सकता है? ईश्वर को प्रकृति का नियामक मानने में अनेक कठिनाइयाँ हैं। सृष्टि के संचालन में उसका लक्ष्य क्या होगा? वह पूर्ण है अतः सृष्टि रचना में उसका अपना अतृप्त मनोरथ रहना असम्भव है। यह प्रयोजन जीवों की उद्देश्यपूर्ति भी नहीं हो सकता क्योंकि एक तो अपने किसी स्वार्थ के बिना कोई व्यक्ति दूसरे के हित के लिये तत्पर नहीं होता दूसरे संसार में इतने पाप और कष्ट दिखाई पड़ते हैं कि सृष्टि की रचना जीवों के हित साधनार्थ नहीं प्रतीत होती। (३) ईश्वर में विश्वास करने से जीवों की स्वतंत्रता और अमरत्व खंडित हो जाते हैं। यदि जीव ईश्वर का अंश है तो उसमें ईश्वरीय शक्ति होनी चाहिये। यह बात देखने में नहीं आती। दूसरे यदि जीव ईश्वर की सृष्टि है तो वे नश्वर हैं।

इन प्रमाणों के आधार पर वे लोग यह मानते हैं कि ईश्वर नहीं है और प्रकृति ही पुरुष के कल्याण के लिये जगत की सृष्टि करती है। कुछ विद्वानों के अनुसार मूल सांख्य सेश्वर (Theistic) था परन्तु कालान्तर जैन और बौद्ध मतों के प्रभाव से बाद में सांख्य निरीश्वरवादी (Atheistic) हो गया।

प्रमाण विचार

सांख्य का प्रमाण विचार उसके द्वैतवादी तत्त्व विचार पर आधारित है इसीलिये

साख्य के अनुसार सुख और दुख दोना सापेक्ष और अविच्छेद्य है। अत मोक्ष की अवस्था मे आनन्द नही होता। वह सुख दुख दोनो से परे है। मोक्ष सभी गुणो से परे है।

साख्य बन्धन और मोक्ष दोना को ही व्यावहारिक मानता है। पुरुष बन्धन मे नही पडता। प्रकृति की विकृति अहकार ही बन्धन मे पडता है और उसी का मोक्ष होता है। पुरुष बन्धन तथा मोक्ष दोना से परे है। यदि पुरुष वास्तव मे बन्धन मे पडता तो वह सौ जन्म मे भी मुक्त नही हो सकता था क्योकि वास्तविक बन्धन को कभी भी नष्ट नही किया जा सकता। प्रकृति ही बन्धती और वही मुक्त होती है। ईश्वर कृष्ण ने स्पष्ट कहा है, अत पुरुष वास्तव मे न तो बन्धता है और न मुक्त होता है तथा न उसका पुनजन्म होता है। बन्धन, मोक्ष और पुनजन्म विविध रूपो मे प्रकृति के ही व्यापार हैं।[1] प्रकृति स्वय को अपने सात रूपो से बांधती है।[2] प्रकृति से सूक्ष्म और उत्तम कुछ नही है। वह इतनी सुकुमार है कि जब पुरुष उसे एक बार उसके यथार्थ रूप मे देख लेता है तब वह उसके सन्मुख पुन नही उपस्थित होती।[3] जैसे दर्शको का मनोरजन करने के पश्चात् नर्तकी रगमच से हट जाती है उसी प्रकार स्वय को पुरुष के सन्मुख प्रदर्शित करने के पश्चात् प्रकृति उसके सामने से हट जाती है।[4]

बन्धन और मोक्ष दोनों ही व्यावहारिक हैं

ईश्वर

साख्य मत के कुछ टीकाकार ईश्वरवादी हैं। इसमे विज्ञानभिक्षु मुख्य हैं। कुछ आधुनिक साख्य मतानुयायी भी साख्य को सेश्वर मानते हैं। इन लोगो का कहना है कि यद्यपि ईश्वर को सृष्टि क्रिया के रूप मे नही माना जा सकता तथापि ऐसा ईश्वर

सेश्वर सांख्य

---

१ तस्मान्नबध्यतेऽद्धा न मच्यते नापि ससरति कश्चित्।
ससरति बध्यतेमुच्यते च नानाश्रया प्रकृति ॥
—सांख्य कारिका ६२।

२ रूपै सप्ताभिरेव तु बध्नात्यात्मानमात्मना प्रकृति।
—सांख्य कारिका ६३।

३ प्रकृते सुकुमारतर न किंचिदस्तीति मे मतिर्भवति।
या दृष्टाऽस्मीति पुनर्न दर्शनमुपैति पुरुषस्य ॥
—सांख्य कारिका ६१।

४ रगस्य दर्शयित्वा निवर्तते नर्तकी यथा नृत्यात्।
पुरुषस्य तथाऽऽत्मान प्रकाश्य विनिवर्तते प्रकृति ॥
—सांख्य कारिका ५९।

मानना आवश्यक है जिसके सान्निध्य मात्र से प्रकृति की क्रिया शक्ति प्रवर्तित हो जाय जैसे चुम्बक के समीप लोहे में गति आ जाती है। ईश्वर अपने में पूर्ण और नित्य साक्षी है। विज्ञान भिक्षु का कहना है कि युक्ति तथा शास्त्र दोनों से ही ऐसे ईश्वर की सिद्धि होती है। परन्तु सांख्य की यह ईश्वरवादी व्याख्या अधिक प्रचलित नहीं है।

निरीश्वर सांख्य

अधिकांश भाष्यकार सांख्य को निरीश्वर ही मानते हैं। सनातन सांख्य को मानने वालों ने ईश्वर के अस्तित्व के विरुद्ध निम्नलिखित युक्तियाँ दी हैं। (१) संसार कार्य रूप जगत है अतः उसका आदि कारण भी अवश्य होना चाहिये। परन्तु यह कारण ईश्वर नहीं हो सकता क्योंकि ईश्वर नित्य तथा निर्विकार (अपरिणामी) परमात्मा है और जो स्वयं अपरिणामी है वह किसी वस्तु का निमित्त कारण अर्थात् क्रिया का प्रवर्तक कैसे हो सकता है। प्रकृति नित्य होकर भी परिणामी है। अतः वही जगत का आदि कारण है। (२) यहाँ पर यह आक्षेप उठाया जा सकता है कि प्रकृति जड़ है अतः उसकी गति को निरूपित और नियमित करने के लिये एक चेतन सत्ता की आवश्यकता है। यह कार्य जीवात्माओं से नहीं हो सकता क्योंकि उनका ज्ञान सीमित है। अतः प्रकृति का संचालन करने के लिये एक अनन्त बुद्धियुक्त चेतन सत्ता की आवश्यकता है। सांख्य इस तर्क को नहीं मानता। अकर्ता ईश्वर प्रकृति की संचालन की क्रिया कैसे कर सकता है? ईश्वर को प्रकृति का नियामक मानने में अनेक कठिनाइयाँ हैं। सृष्टि के संचालन में उसका लक्ष्य क्या होगा? वह पूर्ण है अतः सृष्टि रचना में उसका अपना अतृप्त मनोरथ रहना असम्भव है। यह प्रयोजन जीवों की उद्देश्यपूर्ति भी नहीं हो सकता क्योंकि एक तो अपने किसी स्वार्थ के बिना कोई व्यक्ति दूसरे के हित के लिये तत्पर नहीं होता दूसरे संसार में इतने पाप और कष्ट दिखाई पड़ते हैं कि सृष्टि की रचना जीवों के हित साधनार्थ नहीं प्रतीत होती। (३) ईश्वर में विश्वास करने से जीवों की स्वतन्त्रता और अमरत्व बाधित हो जाते हैं। यदि जीव ईश्वर का अंश है तो उनमें ईश्वरीय शक्ति होनी चाहिये। यह बात देखने में नहीं आती। दूसरे यदि जीव ईश्वर की सृष्टि हैं तो वे नश्वर हैं।

इन प्रमाणों के आधार पर वे लोग यह मानते हैं कि ईश्वर नहीं है और प्रकृति ही पुरुष के कल्याण के लिये जगत की सृष्टि करती है। कुछ विद्वानों के अनुसार मूल सांख्य सेश्वर (Theistic) था परन्तु जड़वादी जैन और बौद्ध मतों के प्रभाव से बाद में सांख्य निरीश्वरवादी (Atheistic) हो गया।

प्रमाण विचार

सांख्य का प्रमाण विचार उसके द्वैतवादी तत्त्व विचार पर आधारित है इसीलिये

प्रमा और उसकी उत्पत्ति

यहां पर तत्वविचार के पश्चात् प्रमाणविचार का उल्लेख किया गया है। 'प्रमा' का अर्थ किसी विषय का निश्चित ज्ञान (अर्थ परिच्छित्ति) है। आत्मा का चैतन्य बुद्धि मे प्रतिबिम्बित होने पर ज्ञान का उदय होता है। बुद्धि जड है। चैतन्य आत्मा का धर्म है। परन्तु आत्मा को विषयो के ज्ञान के लिये बुद्धि, मन और इन्द्रियो का सहारा लेना पडता है। इसी कारण आत्मा के सर्वव्यापी होने पर भी हमे सर्वदा समस्त विषयो का ज्ञान नही रहता। इन्द्रिया और मन के व्यापार मे विषयो का आकार बुद्धि पर अंकित हो जाता है। बुद्धि पर जब आत्मा के चैतन्य का प्रकाश पडता है तब उन विषयोंका ज्ञान होता है।

ज्ञान की उत्पत्ति तीन वस्तुओ पर निर्भर है—(१) **प्रमाता**—अर्थात् जानने वाला पुरुष। शुद्ध चेतन पुरुष ही प्रमाता होता है। (२) **प्रमेय**—अर्थात् वह विषय जो जाना जाता है। प्रमाण के द्वारा पुरुष को जिस विषय का ज्ञान होता है वह प्रमेय कहलाता है। (३) **प्रमाण**—अर्थात् वह साधन जिसके द्वारा पुरुष को विषय का ज्ञान होता है, यह साधन बुद्धि की वृत्ति है। बुद्धि मे आत्मा का प्रकाश पडने से ज्ञान होता है।

त्रिविध प्रमाण

सांख्य के अनुसार प्रमाण तीन है—प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द। उपमान, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि का इन्ही प्रमाणो मे सम्मिलित किया गया है।

प्रत्यक्ष

प्रत्यक्ष इन्द्रिय और विषय के संयोग से हुआ साक्षात ज्ञान है। जब कोई विषय हमारे नेत्र के संयोग मे आता है तब उससे नेत्र पर विशेष प्रकार का प्रभाव पडता है। जिसका मन द्वारा विश्लेषण और संश्लेषण होता है। इन्द्रिय और मन के व्यापार से बुद्धि पर प्रभाव पडता है और वह विषय का आकार ग्रहण कर लेती है। परन्तु इसपर भी बुद्धि को जड होने के कारण उस विषय का ज्ञान नही होता। परन्तु सत्व गुण की अधिकता होने के कारण वह दर्पण की तरह पुरुष के चैतन्य को प्रतिबिम्बित करती है। इससे बुद्धि की अचेतन वृत्ति प्रकाशित होकर प्रत्यक्ष ज्ञान के रूप मे परिणित हो जाती है। यह मत वाचस्पति मिश्र ने उपस्थित किया है।

विज्ञान भिक्षु का मत

विज्ञान भिक्षु का मत वाचस्पति मिश्र के मत से भिन्न है। उनके अनुसार जब कोई विषय इन्द्रिय के सम्पर्क मे आता है तब बुद्धि विषय का आकार ग्रहण कर लेती है। बुद्धि मे सत्वगुण की अधिकता के कारण जब उस पर आत्मा का प्रतिबिम्ब पडता है तब उसमे भी चैतन्य का आभास आ जाता है। अब यह विषय के आकार से प्रकाशित बुद्धि आत्मा मे प्रतिबिम्बित होती है।

इस प्रकार बुद्धि की विषय के आकार की वृत्ति के द्वारा आत्मा को विषय का प्रत्यक्ष होता है। वाचस्पति मिश्र के मत में बुद्धि में आत्मा प्रतिबिम्बित होता है परन्तु आत्मा में बुद्धि नहीं प्रतिबिम्बित होती। विज्ञान भिक्षु के मतानुसार दोनो का प्रतिबिम्ब एक दूसरे पर पड़ता है। योग सूत्र की वेदव्यास की टीका मे भी इसी मत को माना गया है। आत्मा मे सुखदुखादि अनुभव होने के कारण विज्ञान भिक्षु उसमे बुद्धि का प्रतिबिम्ब होना मानते हैं। बुद्धि के प्रतिबिम्ब से ही आत्मा में सुख दुख आदि का अनुभव होता है। अन्यथा शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मा निर्विकार है।

प्रत्यक्ष के भेद

सांख्य मे प्रत्यक्ष भी दो प्रकार के माने हैं—निर्विकल्प और सविकल्प। (१) इन्द्रिय के साथ विषय का संयोग होने के क्षण मे जो विषय का आलोचन होता है उसे निर्विकल्प प्रत्यक्ष कहते हैं। यह मानसिक विश्लेषण संश्लेषण से पूर्व की अवस्था है। इसमें विषय की प्रकारता का ज्ञान नहीं होता। उसकी प्रतीति मात्र होती है। यह अनुभव अनिर्वचनीय है। शिशु अथवा मूक व्यक्ति के समान ही निर्विकल्प प्रत्यक्ष करने वाला भी अपना अनुभव शब्दों द्वारा नहीं समझा सकता। (२) सविकल्प प्रत्यक्ष म विषय का मन के द्वारा विश्लेषण संश्लेषण और रूप निर्धारण होता है। इसमें इस प्रकार की विवेचना होती है कि 'यह विषय इस प्रकार का है' 'इसमे अमुक गुण हैं' 'इसका अमुक विषय से यह सम्बन्ध है' इत्यादि। सविकल्प प्रत्यक्ष उद्देश्य-विधेय युक्त वाक्य द्वारा प्रकट किया जाता है जैसे 'यह लाल फूल है' इत्यादि।

अनुमान और उसके भेद

न्याय मे अनुमान के प्रकार—भेद को ही थोड़ा बहुत हेर-फेर करके सांख्य ने माना है। अनुमान के दो भेद हैं—वीत और अवीत। (१) वीत वह अनुमान है जो व्यापक विधि-वाक्य (Universal Affirmative Proposition) पर अवलम्बित है। इसके दो भेद हैं—पूर्ववत् और सामान्यतो दृष्ट। (अ) पूर्ववत् अनुमान वस्तुओं के बीच दिखलाई पड़ने वाली व्याप्ति सम्बन्ध पर आधारित है। उदाहरण के लिये हम धुंआ देखकर आग का अनुमान करते हैं क्योंकि धुंए और आग मे नित्य साहचर्य का सम्बन्ध माना जाता है। (ब) जहाँ लिंग और साध्य के साथ व्याप्ति सम्बन्ध न होकर लिंग का सादृश्य उन वस्तुओं से हो जिनका साध्य के साथ नियत सम्बन्ध है वहाँ सामान्यतो दृष्ट अनुमान होता है। उदाहरण के लिये इन्द्रिय के ज्ञान मे हम उसे प्रत्यक्ष द्वारा नहीं जानते क्योंकि वह अगोचर है। इन्द्रिय का ज्ञान हमें इस प्रकार के अनुमान द्वारा होता है। "सभी कार्य किसी न किसी साधन से सम्पादित होते हैं जैसे पेड़ काटने के लिए कुल्हाड़ी की आवश्यकता पड़ती है। रूप या गन्ध का अनुभव भी एक कार्य

है अत उसके लिये भी साधन या करण (इन्द्रिय) होना चाहिये।" यहाँ पर इन्द्रियो का अस्तित्व का अनुमान इसलिये किया जाता है कि प्रत्यक्ष ज्ञान एक क्रिया है और प्रत्येक क्रिया के लिये साधन की आवश्यकता होती है।

(२) अवीत वह अनुमान है जो कि व्यापकनिषेध वाक्य (Universal Negative Preposition) पर अवलम्बित रहता है। कुछ नैयायिको ने इसे शेषवत् या परिशेष अनुमान भी कहा है। इस अनुमान मे जब समस्त विकल्पो को छाँटते छाटते अन्त मे एक ही शेष रह जाता है तब वही सत्य प्रमाणित होता है। उदाहरण के लिये "शब्द द्रव्य, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय या अभाव नहीं हो सकता, अत शब्द गुण है।" न्याय के समान साख्य दर्शन मे पचावयव वाक्य को अनुमान का सबसे प्रमाणिक रूप मानते हैं।

शब्द और उसके भेद

विश्वस्त वाक्य अथवा आप्तवचन शब्द प्रमाण है। जो बात प्रत्यक्ष अथवा अनुमान से नही सिद्ध होती वह शब्द से सिद्ध हो जाती हैं। वाक्य का अर्थ शब्दो का एक विशेष क्रम से विन्यास है। अत वाक्य का बोध होने के लिये शब्द का बोध ही आवश्यक है। शब्द किसी वस्तु का वाचक होता है। अत विषय ही शब्द का अर्थ है। शब्द वह सकेत है जो किसी वस्तु के लिये प्रयुक्त होता है। शब्द के दो भेद हैं— लौकिक और वैदिक। (१) **लौकिक** शब्द साधारण विश्वास-पात्र व्यक्तियो के आप्तवचन को कहते हैं। साख्य के अनुसार यह स्वतन्त्र प्रमाण नही है क्योकि यह प्रत्यक्ष और अनुमान पर आश्रित है। (२) अत श्रुति या **वैदिक शब्द** ही वास्तविक शब्द प्रमाण है। इनसे हमे उन अगोचर विषयो का ज्ञान होता है जो प्रत्यक्ष अथवा अनुमान से नही जाने जा सकते। वेद अपौरुषेय है। अत उनमे लौकिक वाक्यो के से दोष और त्रुटियाँ भी नही हैं। वैदिक वाक्य अभ्रान्त और स्वत प्रमाण हैं। वे दृष्टा ऋषियो की साक्षात् अनुभूतियाँ (Intuitions) है। यह अनुभव व्यक्तिगत न होने के कारण सर्वदेशीय और सर्वकालिक सत्य हैं। इस प्रकार वेद अपौरुषेय हैं। परन्तु साख्य वेदो को नित्य नही मानता क्योकि वे दृष्टा ऋषियो के दिव्य अनुभवो से उत्पन्न होते हैं और सनातन पठन पाठन की परम्परा से सुरक्षित रहते हैं।

साख्य दर्शन की आलोचना

विकासवाद

(१) साख्य के विकासवाद मे विभिन्न विकृतियों के क्रम का कोई युक्तपूर्ण आधार नही है। तार्किक दृष्टि से अथवा तात्विक दृष्टि से प्रकृति मे इस क्रम मे विकृतियो का आविर्भाव आवश्यक नही प्रतीत होता। इसी बात को समझ कर विज्ञान भिक्षु ने कहा है कि शास्त्र ही इस सृष्टि क्रम का एकमात्र प्रमाण है। परन्तु

इसका अर्थ यह मान लेना है कि युक्ति से यह सृष्टि क्रम नहीं सिद्ध हो सकता।

(२) डा० राधाकृष्णन के अनुसार सांख्य ने अपने मनोवैज्ञानिक तथ्यों को आध्यात्मिक तत्त्व विचार से मिला दिया है। उसने अपनी मान्यताओं के साथ उपनिषदों से उधार ली हुई विचारधारा को मिला दिया है। अतः सांख्य का विकासवाद समीचीन और युक्ति पूर्ण नहीं है।

मोक्ष

(१) सांख्य ने मोक्ष को समझाने के लिये यह युक्ति दी है कि प्रकृति पुरुष को ज्ञान हो जाने पर फिर उसके निकट नहीं आती। प्रशस्तपाद ने इस पर यह आक्षेप किया है कि अचेतन प्रकृति यह कैसे जान सकती है कि पुरुष ने तत्त्व को जान लिया है अथवा नहीं? दूसरे जब प्रकृति स्वभाव से ही गतिशील है तब वह मोक्ष की अवस्था में शान्त कैसे हो सकती है? फिर यदि सांख्य के अनुसार वस्तुओं का नाश नहीं बल्कि अनुद्भव या तिरोभाव ही होता है तो अज्ञान आदि का नाश कैसे हो सकता है? मुक्त पुरुष को अज्ञान के आविर्भाव का सदैव खतरा रहेगा।

(२) सांख्य ने मोक्ष की निविधि दुःखों से छुटकारे के रूप में निषेधात्मक (Negative) ही कल्पना की है। उसके अनुसार आनन्द सत्व गुण का परिणाम है इसलिये मोक्ष में उसका कोई स्थान नहीं। परन्तु यहाँ पर सांख्य दार्शनिक आनन्द (Happiness) को भूल से सुख (Pleasure) समझ बैठे हैं। आनन्द तो सुख दुःख दोनों से परे है। दुःख से सम्बन्ध सुख का है आनन्द का नहीं। 'नाहम्' और नास्मि के रूप में मोक्ष हीनयान के निर्वाण जैसा शून्य हो जाता है।

(३) सांख्य का नित्य मुक्ति (Eternal Liberation) का सिद्धान्त सांख्य की अपेक्षा वेदान्त दर्शन में अधिक समीचीन जान पड़ता है। वेदान्त के अनुसार आत्मा कर्ता और भोक्ता न होकर साक्षी मात्र है। कर्ता और भोक्ता होने पर आत्मा नित्य मुक्त कैसे हो सकता है? दूसरे यदि प्रकृति पुरुष के कैवल्य के लिये विकसित होती है तो फिर पुरुष नित्य मुक्त कैसे हुआ? वास्तव में यदि पुरुष नित्य मुक्त है तो जगत के विकास में उसका कोई प्रयोजन नहीं हो सकता।

पुरुष

(१) यदि जगत की सत्यता (Reality) और आत्मा के नित्य मुक्त स्वभाव को एक साथ मानना हो तो वास्तव में आध्यात्मिक (Transcendental) और व्यावहारिक (Empirical) दो प्रकार के पुरुष मानने पड़ेंगे। सांख्य ने सांसारिक जीव और गुणातीत द्रष्टा में स्थान स्थान पर गड़बड़ी कर दी है। सांख्य ने आत्मा को शुद्ध चैतन्य मात्र का आधार, निर्गुण साक्षी अकर्ता स्वयंसिद्ध अनुभव और निरपेक्ष मानकर सच्ची आध्यात्मिक दृष्टि का परिचय दिया है। परन्तु फिर पुरुष का अस्तित्व सिद्ध करने के लिये जो प्रमाण दिये गये हैं वे आध्यात्मिक आत्मा पर नहीं बल्कि व्यावहारिक मनोवैज्ञानिक जीव पर लागू होते हैं। आध्यात्मिक पुरुष भोक्ता तथा अनेक कैसे हो सकता है।

(२) डा० उमेश मिश्र के अनुसार साख्य म जो पुरुषो की अनेकता मे सम्बन्धित श्लोक मिलता है वह बद्ध पुरुषो के विषय मे है 'ज्ञ' पुरुष के विषय में नहीं। इसके साथ साथ मिश्र जी यह अनुमान करते हैं कि बद्ध और 'ज्ञ' पुरुष का अन्तर करने वाली साख्य कारिका लुप्त हो गई है। कारिका के लुप्त होने का पता तो उसके मिलने पर ही चल सकता है। तब तक यह तो मानना ही पडेगा कि साख्य ने 'ज्ञ' और बद्ध पुरुष मे स्पष्ट अन्तर नही किया है। 'ज्ञ' अर्थात् आध्यात्मिक पुरुष जैसा कि मिश्र जी न ठीक ही कहा है, अनेक नही हो सकते, बद्ध पुरुष ही अनेक हो सकते हैं। पुरुष की अनेकता के प्रमाणो की असमीचीनता को अनुभव करके ही वाचस्पति, गोड पाद और विज्ञान भिक्षु आदि भाष्यकारो ने एक ही पुरुष का अस्तित्व माना है।

प्रकृति

(१) साख्य ने प्रकृति को स्वतन्त्र और निरपेक्ष कहा है परन्तु सांख्य दर्शन के विवरण मे प्रकृति की स्वतन्त्रता तथा निरपेक्षता नही रहती। वह त्रिगुणात्मक है अत निस्त्रैगुण्य पुरुष उससे परे है। प्रकृति पुरुष पर आधारित है। पुरुष के प्रभाव के विना वह जगत की उत्पत्ति नही कर सकती चाहे वह प्रभाव सान्निध्य मात्र ही क्यो न हो। पुरुष के कार्य के लिये ही वह समस्त विकासादि करती है। जब पुरुष उसे जान लेता है तो वह उसके लिये अन्तर्ध्यान हो जाती है। इस प्रकार की प्रकृति को तो अविद्या कहना अधिक उपयुक्त होगा। वह निरपेक्ष और स्वतन्त्र नही हो सकती।

(२) साख्य ने प्रकृति को निर्वैयक्तिक (Impersonal) कहा है परन्तु उसे वैयक्तिक बतलाने वाले कितने ही वाक्य साख्य दर्शन मे जहाँ तहाँ बिखरे पडे हैं। वह नर्तकी है। वह स्त्री है, गुणवती है, उदार है, तटस्थता से पुरुष की सेवा करने वाली है, परम निस्वार्थ है। वह अत्यन्त सुकुमार और सकोचशील है तथा पुरुष की दृष्टि को सहन नही कर सकती। वह इन्द्र धनुष के रग की है और पुरुष को आकर्षित करने की चेष्टा करती है। इस प्रकार की प्रकृति मे नारी का व्यक्तित्व झलकता है।

प्रकृति और पुरुष का सम्बन्ध

(१) प्रकृति और पुरुष के सम्बन्ध को लेकर जो विकास का प्रयोजन समझाने की चेष्टा की गई है वह नितान्त असफल है। प्रकृति स्वय अचेतन और बुद्धि हीन है अत उससे सृष्टि का प्रयोजन नही समझाया जा सकता। यदि प्रकृति अचेतन और अन्धी है तो विकास भी यन्त्रवत और अन्धा होना चाहिये और सकल्प की स्वतन्त्रता नही होनी चाहिये। यदि प्रकृति और उसकी विकृतियाँ पुरुष का प्रयोजनसिद्ध करती हैं तो वह अचेतन और स्वतन्त्र नही रह सकती।

अन्धी और मूर्ख प्रकृति से तो यह प्रयोजन व्यवस्था और सामञ्जस्यमय जगत नहीं उत्पन्न हो सकता। अचेतन प्रकृति से पुरुष मोक्ष को कैसे समझाया जा सकता है? सांख्य ने यह समझाने को जितने भी उदाहरण दिये हैं उनमें से कोई भी समीचीन नहीं है। यह कहना कि जैसे बछड़े के लिये गाय के स्तनों से अचेतन रूप में दूध बहता है उसी प्रकार प्रकृति पुरुषके मोक्ष के लिये अचेतन रूप से कार्य करती है समीचीन उदाहरण नहीं है क्योंकि दूध एक जीवित गौ के स्तनों से बहता है और वह भी मातृत्व प्रेम के कारण। इसी प्रकार प्रकृति की विकृति घास से दूध बनने से भी नहीं समझाई जा सकती क्योंकि दूध घास के भी द्वारा खाये जाने पर ही बनता है। यदि घास खाई ही न जाय अथवा उसे बैल खाय तो दूध नहीं बन सकता। इसी प्रकार अन्धे और लंगड़े का उदाहरण भी अनुपयुक्त है क्योंकि वे दोनों ही चेतन तथा क्रिया शील हैं और इसी कारण एक सामान्य योजना बना सकते हैं। अचेतन प्रकृति और निष्क्रिय पुरुष मिलकर कोई कार्य नहीं कर सकते। लोहे और चुम्बक का उदाहरण भी ठीक नहीं है क्योंकि पुरुष की सान्निध्यता सदैव रहने के कारण कभी प्रलय ही न होगा और तब मोक्ष भी न होगा। प्रकृति की साम्यावस्था भी असम्भव हो जायेगी क्योंकि पुरुष की उपस्थिति से कभी सन्तुलन नहीं रह पायेगा। फिर यह कहा गया है कि प्रकृति क्रिया करती है और पुरुष भोगता है। इससे कर्म के सिद्धान्त का विरोध होता है। जब प्रकृति कर्म करती है तो पुरुष उसका फल क्यों भोगे? कर्म के सिद्धान्त के अनुसार तो प्रकृति को ही उसका फल भोगना चाहिये।

(२) यदि पुरुष और प्रकृति निरपेक्ष और स्वतन्त्र हैं तो वे कभी भी सम्पर्क मे नहीं आ सकते और इस प्रकार विकास असंभव है। जैसा कि शंकराचार्य ने कहा है कि पुरुष के उदासीन और प्रकृति के अचेतन होने पर कोई भी तीसरा तत्व उनमें संयोग नहीं करा सकता। न संयोग न संयोगाभास और न सान्निध्य मात्र से ही विकास हो सकता है।

(३) यदि प्रकृति और पुरुष के सम्बन्ध का प्रयोजन मोक्ष कहा जाय तो यह गलत है क्योंकि उस अवस्था मे प्रलय के पश्चात सृष्टि नहीं होगी और फिर पुरुष तो स्वभाव से ही मुक्त है। यह प्रयोजन भोग भी नहीं हो सकता क्योंकि उस अवस्था मे प्रलय की आवश्यकता नहीं रहती। यह प्रयोजन मोक्ष और भोग दोनों भी नहीं हो सकता क्योंकि यह असंगत है। और यदि न मोक्ष ही प्रयोजन है और न भोग तब फिर प्रयोजन क्या है। वास्तव मे सांख्य दर्शन प्रकृति और पुरुष के सम्बन्ध के प्रयोजन को बिल्कुल नहीं समझा पाया है।

(४) सांख्य दर्शन का सबसे बड़ा दोष द्वैत को परम सत्य मानकर प्रकृति और पुरुष को एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न और स्वतन्त्र मानना है। प्रकृति

और पुरुष दोनो ही यथार्थ जगत के अनुभव मे परे अमूर्त तत्व बन कर रह गये है। वास्तव मे साख्य का द्वैतवाद अद्वैत की पृष्ठ भूमि को लेकर ही समीचीन बन सकता है। डा० राधाकृष्णन के शब्दो म जब साख्य तत्व के प्रवाह का जड की यान्त्रिकता और आत्मा की स्वतन्त्रता के दो भक्तो मे विभाजित कर देता है तो यह ध्यान देने की बात है कि ये तत्व ऐतिहासिक नही बल्कि केवल प्रत्यय जन्य (Conceptual) है। वास्तव मे विचार के क्षेत्र मे विपयी और विषय, जड और चेतन, प्रकृति और पुरुष को अलग करना पडता है। परन्तु इससे यह नही भूल जाना चाहिये कि आखिरकार विपयी और विषय सापेक्ष हैं निरपेक्ष और स्वतन्त्र नही। जड और चेतन प्रकृति और पुरुष एक ही परम तत्व के दो रूप हैं। प्रारभ मे सृष्टि की वस्तुओ का विश्लेपण करके ही साख्य के दार्शनिक इन दो तत्वो पर पहुँचे परन्तु बाद मे वे यह भूल गये कि यह विश्ले-पण केवल विचार की सुविधा के लिये है, मूर्त जगत मे परम तत्व एक ही है। प्रो० हिरियाना के शब्दो मे, "प्रकृति और पुरुष दोनो ही सामान्य वस्तुओ के स्वभाव का विश्लेषण करके पहुँचे गये हैं, उनमे केवल यह अन्तर है कि जब एक वस्तुओ से उनके आदि श्रोत अथवा प्रथम कारण की ओर जाने का परिणाम है, तो दूसरा उनसे उनके लक्ष्य अथवा अन्तिम कारण (Final Cause) की ओर जाने का परिणाम है।" इस प्रकार प्रकृति और पुरुष एक ही तत्व के दो पक्ष अथवा रूप हैं। दर्शन मे द्वैतवाद को परम सत्य नहीं माना जा सकता। इसी गलती के कारण साख्य के दर्शन मे पग पग पर अस्त व्यस्तता है। यदि एक बार दो वस्तुओ को पारमार्थिक दृष्टि कोण से पृथक मान लिया जाय तो कितना भी प्रयास करने पर उनमे सम्बन्ध नही स्थापित किया जा सकता है। इस विषय मे साख्य के सभी प्रयास असफल ही होते हैं। द्वैत को व्यावहारिक अथवा प्रत्यय मात्र मानकर उसे परम अद्वैत पर स्थापित करने से साख्य दर्शन के दोष दूर किये जा सकते हैं।

बिम्बित चन्द्रमा हिलता हुआ जान पड़ता है। विवेक ज्ञान न होन पर आत्मा उन्हीं में अपने को देखने लगती है और सासरिक विषयो में सुख दुख और रागद्वेष का भाव रखने लगती है। यही बन्धन है। इससे छूटने का एक मात्र उपाय चित्त की वृत्ति का निरोध है। यही योग है। पतञ्जलि ने कहा है—"योगश्चित्त-वृत्ति निरोध ।"[1]

चित्त की पाँच अवस्थाएं होती हैं जिन्हे चित्त भूमियाँ कहते हैं—

चित्त की भूमि

(१) **क्षिप्त**—वह अवस्था है जबकि चित्त अत्यधिक चचल होकर सासारिक विषयो मे इधर उधर भटका करता है जैसे दैत्य-दानवो का अथवा धन के मद से उन्मत लोगो का चित्त।

(२) **मूढ़**—जब तमोगुण के उद्रेक से चित्त मूढ़ हो जाता है जैसे कोई निद्रा मे मग्न हो जैसे राक्षस, पिशाचो, मादक द्रव्य पीकर उन्मत्त पुरुषों के चित।

(३) **विक्षिप्त**—वह अवस्था है जबकि सत्व की अधिकता रहने पर भी रजस के कारण चित्त वृत्तिकी कभी सफलता और कभी असफलता के बीच भटकती रहती है। देवताओ का तथा प्रथम भूमि मे स्थित जिज्ञासुओ का चित्त ऐसा ही होता है। लिप्त अवस्था से इसमे यही विशेषता है कि सत्व की अधिकता के कारण कभी कभी इसमे स्थिरता आ जाती है।

(४) **एकाग्र**—विशुद्ध सत्व के उद्रेक से एक ही विषय मे लगे हुए चित्त को कहते हैं। जैसे निर्वात दीप की शिखा स्थिर होकर एक ही ओर रहती है, इधर उधर नही जाती।

(५) **निरुद्ध**—जबकि वृत्तियो का निरोध होकर चित्त में उनके सस्कार मात्र ही रह जाते हैं। इसी अवस्था को योग कहते हैं।

अन्तिम दो वृत्तियाँ ही योग मे लाभदायक हैं प्रथम तीन योग के उपघातक हैं अत उनको साधनो द्वारा दूर किया जाता है।

त्रिगुणात्मक होने के कारण चित्त मे क्रमश तीनो गुणों के उद्रेक होते रहते हैं जिनके अनुसार उसके तीन भेद होते हैं —

चित्त के तीन रूप

(१) **प्रख्या**—में 'सत्व प्रधान चित्त' रजस् और तमस् से सयुक्त रहता है और अणिमा आदि ऐश्वर्य का प्रेमी होता है। तमोगुण से आवृत्त रहने पर इसमे अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य रहता है।

(२) **प्रवृत्ति**—तमस् के क्षीण होने और केवल रजस् से युक्त होने पर यही

---

१ योगसूत्र १—२।

चित्त सर्वत्र प्रकाशमान होता है और धर्म ज्ञान वैराग्य तथा ऐश्वर्य से युक्त होता है।

(५) स्थिति—रजस् का लय हो जाने पर सत्व प्रधान चित्त अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है और उसे विवेक बुद्धि प्राप्त हो जाती है।

आत्मा का प्रतिबिम्ब चित्त पर पड़ने से वह भी चेतन के समान कार्य करने लगता है। यही चित्त की वृत्ति कहलाती है। ये अज्ञान के चित्त की वृत्तियाँ कारण है। धर्म अधर्म तथा वासनाओं की उत्पत्ति के कारण होने पर ये वृत्तियाँ क्लेश देती हैं और क्लिष्ट कहलाती हैं। जब ये ख्याति अर्थात् रजस् और तमस् से रहित बुद्धि सत्व की प्रशान्त वाहिनी प्रज्ञा को देने वाली होती हैं तब ये वृत्तियाँ अक्लिष्ट कहलाती हैं। वृत्तियाँ पाँच प्रकार की हैं—

(अ) प्रमाण—सांख्य के समान योग में भी प्रत्यक्ष अनुमान और शब्द ये तीन प्रमाण माने हैं। इन्द्रियों के द्वारा चित्त बाहर जाकर विषयाकार हो जाता है इसे ही प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं। अनुमान और शब्द प्रमाण योगदर्शन में सांख्य के ही समान हैं।

(ब) विपर्यय—किसी वस्तु के मिथ्या ज्ञान को कहते हैं। वाचस्पति मिश्र ने 'संशय' को भी विपर्यय में सम्मिलित कर लिया है।

(स) विकल्प—वह ज्ञान है जिसमें जिस वस्तु का ज्ञान हो वही न रहे जैसे चैतन्य पुरुष का स्वरूप है इस ज्ञान में पुरुष का ज्ञान होता है परन्तु वह चैतन्य से पृथक कहाँ है? इन दोनों को पृथक समझना ही विकल्प है।

(द) निद्रा—किसी वस्तु के अभाव ज्ञान को आलम्बन करने वाली वृत्ति है।[1] तमस् के अधिकार से इसमें जाग्रत और स्वप्न की वृत्तियों का 'अभाव' रहता है। वस्तुतः इसको ज्ञान का अभाव समझना भूल है। सोकर उठने पर भी पुरुष को यह भाव रहता है कि 'मैं खूब सोया'। अतः निद्रा भी एक वृत्ति ही है।

(इ) स्मृति—अनुभव किए हुए विषयों का ठीक ठीक उसी रूप में स्मरण होना है।

इन वृत्तियों के कार्य से अन्तःकरण पर संस्कार पड़ते हैं और समय पाकर ये संस्कार पुनः वृत्ति का रूप धारण कर लेते हैं। यह चक्र सदा चलता रहता है।

---

१ 'अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिः'—योगसूत्र

योगदर्शन के अनुसार चित्तविक्षेप के निम्नलिखित कारण होते हैं—राग, अकर्मण्यता, संशय, प्रमाद (समाधि के साधनो की चिन्ता न करना), आलस्य (भारी होने के कारण शरीर तथा चित्त की कार्य करने के प्रति अप्रवृत्ति), विषयासक्ति, भ्रान्तिदर्शन (विपर्ययज्ञान), समाधि की भूमि को न पाना, भूमि को पाकर भी उसमे चित्त की स्थिरता का न होना इत्यादि ।

चित विक्षेप का कारण

चित्त के विक्षेप से दु ख, दौमनस्य (इच्छा की पूर्ति न होने से चित्त मे क्षोभ होना), शरीर मे कम्पन, श्वास तथा प्रश्वास होते हैं ।

उपरोक्त चित्तविक्षेप के कारणो को रोकने के लिये योगदर्शन मे एकाग्रता का अभ्यास बतलाया है । इसके साथ प्राणि मात्र के प्रति मैत्री, दु खियो के प्रति करुणा, पुण्यात्माओ के प्रति प्रसन्नता तथा पापियो के प्रति उपेक्षा की भावना से चित्त को शान्त करना चाहिये ।

चित्त को प्रसन्न करने के उपाय

अविद्या से मिथ्याज्ञान और मिथ्याज्ञान से क्लेश अर्थात विपर्यय की उत्पत्ति होती है । क्लेश पाँच प्रकार के हैं—

क्लेश और उसके भेद

(१) **अविद्या**—अनित्य, अशुचि, दु ख तथा अनात्मा मे क्रमश नित्य, शुचि, सुख तथा आत्मा का ज्ञान रखना अविद्या है ।

(२) **अस्मिता**—पुरुष तथा प्रकृति मे भेद नकरके उन्हे एक मानना अस्मिता है ।

(३) **राग**—सुख की उत्कट इच्छा को कहते है ।

(४) **द्वेष**—दु ख के साधनो मे क्रोध को कहते हैं ।

(५) **अभिनिवेष**—मृत्यु के भय को कहते हैं ।

अष्टाग योग

क्लेशो से मुक्त होने के लिये चित्त को समाहित करना आवश्यक है । योगदर्शन मे इसके लिये योग के आठ अगो (साधनो) का अभ्यास बतलाया गया है ।

कायिक, वाचिक तथा मानसिक सयम का यम कहते हैं ।[1] यम पाँच है—

(१) यम

(अ) **अहिंसा**—अर्थात् कभी भी किसी भूत प्राणी का कष्ट न पहुँचाना ।

(ब) **सत्य**—अर्थात् मन और वचन मे यथार्थ होना । जैसा देखा सुना अनुमान किया उसी प्रकार मन और वचन को रखना ।

(ग) अस्तेय—अर्थात् दूसरे के धन की चोरी अथवा अपहरण न करना और न उसकी इच्छा रखना ।

(घ) ब्रह्मचर्य—अर्थात् इन्द्रियों में विशेषकर गुप्तेन्द्रियों में लोलुपता न रखना ।

(ङ) अपरिग्रह—अर्थात् लोभवश अनावश्यक वस्तु ग्रहण न करना। चित्त को एकाग्र करने के लिये इन सब यमों का पालन आवश्यक है ।

(२) नियम

योग का दूसरा अंग नियम या सदाचार का पालन करना है । नियम भी पाँच हैं—

(अ) शौच—अर्थात् स्नान और पवित्र भोजन आदि के द्वारा बाह्य अथवा शारीरिक शुद्धि तथा मैत्री करुणा मुदिता और उपेक्षा के द्वारा आभ्यन्तरिक अथवा मानसिक शुद्धि ।

(ब) सन्तोष—अर्थात् उचित प्रयास से जितना भी प्राप्त हो सके उससे ही सन्तुष्ट रहना ।

(स) तप—अर्थात् सर्दी गर्मी आदि म रहने का अभ्यास तथा कठिन व्रत का पालन करना आदि ।

(द) स्वाध्याय—अर्थात् नियमपूर्वक धर्मग्रन्थों का अध्ययन करना ।

(इ) ईश्वर—प्रणिधान अर्थात् ईश्वर का ध्यान और उनपर अपने को छोड़ देना ।

(३) आसन

चित्त को स्थिर रखने वाले तथा सुख देने वाले बैठने के प्रकार को आसन कहते हैं । आसन अनेक प्रकार के हैं जैसे पद्मासन वीरासन भद्रासन सीर्षासन वज्रासन मयूरासन स्वासन इत्यादि स्थिर आसन से मन तथा वायु भी स्थिर होते हैं और शीत उष्ण आदि से भी बाधा नहीं होता चित्त की एकाग्रता के लिये मन के साथ साथ शरीर का भी अनुशासन आवश्यक है । आसन शरीर का साधन है । ये शरीर को निरोग तथा सबल बनाए रखते हैं । इनसे सभी अंग और विशेषतः स्नायुमंडल वश म किये जा सकते हैं ।

(४) प्राणायाम

स्थिर आसन होने से श्वास तथा प्रश्वास की गति के विच्छेद को प्राणायाम कहते हैं । इससे श्वास का नियमन होता है । इसके तीन अंग होते हैं—

(अ) पूरक अर्थात् पूरा श्वास अन्दर खींचना (ब) कुम्भक अर्थात श्वास का भीतर रोकना तथा (स) रेचक अर्थात् नियमित रूप से श्वास को छोड़ना । इससे शरीर और मन में दृढ़ता आती है और चित्त एकाग्र होता है इससे समाधि की अवधि भी बढ़ाई जा सकती है ।

(५) प्रत्याहार — इन्द्रियों का अपने अपने विषयों से हटाकर अन्तर्मुखी करना ही प्रत्याहार कहते हैं। इससे सांसारिक विषयों के रहते हुए भी उनका मन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इसको पाने के लिए अत्यन्त दृढ़ संकल्प और घोर इन्द्रिय निग्रह की साधना की आवश्यकता है।

उपरोक्त पाँच साधन बहिरंग कहलाते हैं। शेष तीन साधन अन्तरंग हैं और उनका योग से सीधा सम्पर्क है।

(६) धारणा — चित्त का किसी स्थान में स्थिर कर देना धारणा है। यह विषय बाह्य पदार्थ जैसे सूर्य या किसी देवता की प्रतिमा आदि भी हो सकते हैं और अपने शरीर में नाभि चक्र 'हृत्कमल', भौहों के मध्य का भाग भी हो सकते हैं। धारणा की सिद्धि से ही समाधि की अवस्था तक पहुँचा जा सकता है।

(७) ध्यान — किसी स्थान में ध्येय वस्तु का ज्ञान जब एक प्रवाह में संलग्न होता है तब उसे ध्यान कहते हैं। इसमें ध्येय का निरन्तर मनन किया जाता है। इसके द्वारा विषय का स्पष्ट ज्ञान हो जाता है। इसमें पहले भिन्न भिन्न अंशों या स्वरूपों का बोध होता है और फिर उस वस्तु के यथार्थ रूप का दर्शन हो जाता है। इस प्रकार योगी को ध्यान के द्वारा ध्येय वस्तु का यथार्थ ज्ञान हो जाता है।

(८) समाधि — ध्यान ही जब ध्येय के रूप में भासित हो और अपने स्वरूप को छोड़ दे तब वही समाधि है। इसमें केवल ध्येय रहता है, ध्यान और ध्याता का भाव नहीं होता। चित्त ध्येय के आकार को धारण कर लेता है। ध्याता का ध्यान और ध्येय एक हो जाते हैं।

समाधि के भेद — योगदर्शन में चित्त की वृत्तियों के निरोध, अर्थात् समाधि के दो भेद माने हैं —

(१) सम्प्रज्ञात या सबीज समाधि—में कोई न कोई आलम्बन अवश्य रहता है और समाधि की अवस्था में आलम्बन का भान भी होता है। जब चित्त किसी एक वस्तु पर एकाग्र हो जाता है तब उसमें वही वृत्ति जाग्रत होती है। अन्य वृत्तियाँ भी क्षीण होकर उसी को पुष्ट करती हैं। उसी एक वस्तु में ध्यान लगाने से उसमें 'प्रज्ञा' का उदय होता है और उससे अन्य वृत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं। इसमें क्लेशों का नाश होता है, कर्म के बन्धन शिथिल होते हैं और चित्त निरोध के समीप पहुँच कर यथार्थ तत्व को प्रकाशित करता है। सम्प्रज्ञात समाधि के चार भेद हैं —

(अ) वितर्कानुगत अथवा सवितर्क—में चित्त स्थूल विषय से सम्बद्ध होकर उसी के आकार का हो जाता है। इसमें शब्द अर्थ और उसका ज्ञान ये तीनों एक होकर भावना में रहते हैं। शब्द को छोड़कर केवल अर्थ की भावना होने पर 'निर्वितर्क समाधि' होती है।

(ब) विचारानुगत अथवा सविचार—में चित्त सूक्ष्म विषय से सम्बद्ध होकर उसी का आकार ग्रहण करता है।

(स) आनन्दानुगत अथवा सानन्द—में इन्द्रिय आदि सात्विक सूक्ष्म वस्तु के आलम्बन होने से सत्व बढ़ता है और उससे आनन्द की प्राप्ति होती है।

(द) अस्मितानुगत अथवा सास्मित—में अस्मिता ही चित्त का आलम्बन होती है। अस्मिता चित्तप्रतिबिम्बित बुद्धि है। यह इन्द्रियों से सूक्ष्म है। इन्द्रियाँ इससे उत्पन्न होती हैं।

२) असंप्रज्ञात या निर्बीज समाधि—में ज्ञाता ज्ञान और ज्ञेय के एक होने से सब आलम्बन का अभाव हो जाता है और संस्कार मात्र शेष रह जाता है। इसमें क्लेश तथा कर्माशय नहीं रहते अतः इसे निर्बीज समाधि भी कहते हैं। इसके दो भेद हैं —

(अ) भव प्रत्यय—समाधि अविद्या के कारण निरुद्ध होती है। भव का अर्थ अविद्या है। अविद्या का अर्थ अनात्मा में आत्मा को देखना है। भव प्रत्यय समाधि में वासनाओं के संस्कार मात्र रहते हैं। इसमें अविद्या पूरी तरह नष्ट नहीं होती। विवेक ख्याति न होने के कारण इस समाधि के बाद भी जीवों को संसार में आना पड़ता है।

(ब) उपाय प्रत्यय—में प्रज्ञा के उदय होने के कारण अविद्या का नाश हो जाता है इसमें क्लेशों का नाश होता है और चित्त ज्ञान में प्रतिष्ठित हो जाता है। यह समाधि योगियों की ही होती है। यह 'श्रद्धा' (चित्त की प्रसन्नता) 'वीर्य' (धारणा) 'स्मृति' (ध्यान) समाधि (सम्प्रज्ञात) तथा प्रज्ञा (ज्ञान प्रसाद मात्र) से उत्पन्न होती है।

सिद्धियाँ

योगदर्शन के अनुसार योगाभ्यास करने से योगियों को विभिन्न अवस्थाओं में विभिन्न सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। ये सिद्धियाँ आठ प्रकार की हैं। अतः इसे अष्ट सिद्धि या अष्टैश्वर्य भी कहते हैं — (१) अणिमा अर्थात् अणु के समान छोटा या अदृश्य बन जाना ( ) लघिमा—अर्थात् रुई से भी हल्का होकर उड़ जाना (३) महिमा—अर्थात् पहाड़ के समान बड़ा बन जाना (४) प्राप्ति—अर्थात् कहीं से भी कोई भी वस्तु मँगा लेना (५) प्राकाम्य—अर्थात् इच्छा शक्ति का बाधा रहित हो जाना (६) वशित्व—अर्थात् सब जीवों को वशीभूत कर

लेना, (७) ईशित्व—अर्थात् समस्त भौतिक पदार्थों पर अधिकार जमा लेना तथा (८) यत्रकामा वासायित्व—अर्थात् सम्पूर्ण संकल्पों की सिद्धि होना।

ये आठो प्रकार की सिद्धियाँ योगी की इच्छानुसार प्रयोग की जा सकती है। परन्तु योगदर्शन में इन ऐश्वर्यों के लाभ में योग साधन में प्रवृत्त होने का कड़ा निषेध है। इससे साधक पथभ्रष्ट हो जाता है। योग का लक्ष्य मोक्ष प्राप्त करना है। योगी को सिद्धियों के फेर में न पड़कर अन्तिम लक्ष आत्मदर्शन पर ही पहुँचना चाहिये।

योग मे ईश्वर का स्थान

विज्ञान भिक्षु के अनुसार—"योग ने एक पक्षपाती अथवा क्रूर ईश्वर की कठिनाइयों को बचाने के लिये सृष्टि और प्रलय में प्रकृति को स्वतंत्र मान लिया। ईश्वर उन अनेक विषयों में से एक है जिसपर योगी चित्त को एकाग्र कर सकता है। ईश्वर का एक मात्र प्रयोजन अपने कार्यों की भलाई करना है।" इस प्रकार योग में ईश्वर का अधिकतर व्यावहारिक महत्व है। ईश्वर या उस के वाचक 'प्रणव' के जप से तथा उसके अर्थ की भावना से चित्त एकाग्र होता है। पातञ्जलि के अनुसार भी ईश्वर का प्रणिधान करने से समाधि में सिद्धि मिलती है।[1] अत प्राचीन योगदर्शन में ईश्वर का सैद्धान्तिक महत्व अधिक नहीं है। स्वय पतञ्जलि ने जगत की समस्या हल करने के लिये ईश्वर की आवश्यकता नही समझी। प्रो० मैक्समूलर लिखते हैं—"मैं नही समझता कि राजेन्द्रलाल मित्र ठीक थे जबकि उन्होंने अपनी योग की रूपरेखा में एक परम ईश्वर में विश्वास को पतञ्जलि के दर्शन का सबसे पहला और सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व बत लाया।" परन्तु योगदर्शन के पिछले लेखकों ने ईश्वर के स्वरूप का सैद्धातिक दृष्टि से भी विवेचन किया है और उसके अस्तित्व के लिये भी युक्तियाँ दी हैं। ईश्वर के लक्षण बतलाते हुये पातञ्जलि ने योगसूत्र में कहा है —"क्लेश कर्म विपाकाशयैरपरामृष्ट पुरुषविशेष ईश्वर"[2] अर्थात्

ईश्वर का स्वरूप अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश इन पाँच क्लेशो से, पुण्य और पाप कर्मों से उत्पन्न जाति, आयु तथा भोगरूप फलो से, उनसे उत्पन्न वासनाओ से (जीवित में रहते हैं) असंस्पृष्ट, एक विशेष प्रकार के पुरुष को ईश्वर कहते हैं। वासनाओ के कारण जीव को भोग करना पड़ता है। ईश्वर इन भोगो से स्वतंत्र है। वह केवली पुरुष से भी भिन्न है। जीव बन्धन से मुक्त होकर केवली होता है परन्तु, ईश्वर

---

१ समाधि सिद्धिरीश्वर प्रणिधानात।

२. योगसूत्र।

न कभी बन्धन में था और न होगा। अतः वह केवली से भिन्न है। कपिल आदि जैसे मुक्त पुरुष पहले बन्धन में रहकर फिर मुक्त होते हैं। ईश्वर ने पहले भी बन्धन नहीं थे। अतः वह मुक्त पुरुषों से भी भिन्न है। प्रकृति को ही आत्मा समझने वाला पुरुष शरीर के नष्ट हो जाने पर 'प्रकृति लीन' हो जाता है परन्तु फिर भी भविष्य में उसके बन्धन की संभावना रहती है क्योंकि वह मुक्तवत् होकर भी फिर हिरण्यगर्भ के स्वरूप को धारण करता है। अतः ईश्वर प्रकृतिलीन पुरुष से भी भिन्न है। ज्ञानशक्ति इच्छाशक्ति और क्रियाशक्ति के कारण ही वह ईश्वर कहलाता है। वह सर्वज्ञ और समस्त माया का अधिष्ठाता है। उसमें अनादि विवेक-ख्याति अथवा शाश्वत ऐश्वर्य है। वह सबसे श्रेष्ठ और निरतिशय है। उसके समान और उससे अधिक गुण सम्पन्न कोई नहीं है। वास्तव में ईश्वर ही वही है जिसमें उपरोक्त गुणों की पराकाष्ठा हो। इन गुणों का ज्ञान शास्त्र से होता है। अन्तःकिरण से ये गुण ईश्वर में हैं। वह सर्वेश ईश्वर अर्थात् ऐश्वर्य सम्पन्न है। वह सदा मुक्त है। वह कपिल आदि गुरुओं का भी गुरु है। इस प्रकार वह एक पुरुष विशेष ही है। अतः पतञ्जलि ने ईश्वर को सांख्य के पच्चीस तत्त्वों से अलग नहीं माना है। ईश्वर को अपना उपकार के लिए कुछ नहीं करना है। प्राणियों के प्रति दया करना ही उसका उद्देश्य है। उसने ज्ञान तथा धर्म के उपदेशों द्वारा कल्प प्रलय तथा महाप्रलय में 'संसार के प्राणियों का उद्धार हम करेंगे' इस प्रकार जीवों के प्रति अनुग्रह दिखाने की प्रतिज्ञा की है।

योग दर्शन में ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध करने के लिये निम्नलिखित युक्तियाँ दी गई हैं—

ईश्वर के अस्तित्व के प्रमाण

(१) ईश्वर का अस्तित्व शास्त्र सम्मत है। वेद उपनिषद् आदि समस्त शास्त्रों ने ईश्वर की आदि सत्ता को माना है। उसी का साक्षात्कार जीवन का चरम लक्ष्य माना गया है।

( ) जिस वस्तु की न्यूनाधिक महत्ता रहती है उसकी एक अल्पतम और एक अधिकतम सीमा भी होनी चाहिये जैसे संसार के छोटे बड़े परिमाण में अल्पतम परिमाण अणु है और अधिकतम आकाश। इसी प्रकार ज्ञान और शक्ति आदि की भी एक अधिकतम सीमा होनी चाहिये। अर्थात् एक पुरुष ऐसा होना चाहिये जिसमें सर्वाधिक ज्ञान और अधिकतम शक्ति हो। वही परमपुरुष ईश्वर है। यदि उसके समान ज्ञान और शक्तिवाला कोई दूसरा पुरुष होता तो उन दोनों में संघर्ष होने से जगत में अव्यवस्था फैल जाती। अतः ईश्वर अद्वितीय है।

(३) पुरुष और प्रकृति के संयोग और वियोग से क्रमशः जगत की सृष्टि तथा लय होता है। भिन्न तत्त्व होने के कारण उनका संयोग और वियोग

स्वभवत नही हो सकता। अत एव अनन्त बुद्धिमान और जीवो के अदृष्टानुसार प्रकृति से पुरुष का सयोग अथवा वियोग करने वाला निमित्त कारण होना चाहिये। यही ईश्वर है। ईश्वर की प्रेरणा बिना प्रकृति से जगत का विकास नही कर सकती जो जीवो की आत्मोन्नति और युक्ति के अनुकूल हो।

पतञ्जलि के अनुसार ईश्वर प्रणिधान भी समाधि का एक साधन है। परन्तु

ईश्वर प्रणिधान

बाद के लेखको के अनुसार ईश्वर प्रणिधान ही समाधि का सर्वोत्कृष्ट साधन है क्योकि ईश्वर केवल ध्यान का ही विषय नही बल्कि महाप्रभु है जो अपनी कृपा से उपासको के पाप दूर करके योग का मार्ग सुगम बना देता है। ईश्वर का सच्चा उपासक और उसी पर निर्भर रहनेवाला साधक सदैव उसी के ध्यान मे लीन रहता है और उसे सम्पूर्ण जगत मे व्याप्त देखता है। इसे भक्त को ईश्वर की सर्वोच्च विभूतियाँ, हृदय की शुद्धता और बुद्धि का प्रकाश मिलते है। प्रणव ईश्वर का वाचक शब्द है। उसका जप, और उसके अर्थ की भावना करने से चित एकाग्र होता है। समाहितचित होकर ईश्वर के चिन्तन से सात्विकी बुद्धि निर्मल हो जाती है। उससे समस्त विघ्न नष्ट हो जाते है। ईश्वर के प्रणिधान से 'प्रत्येक् चेतन' अर्थात् अपने स्वरूप का साक्षात्कार होता है।

योग द्वारा भारतीय दार्शनिक जिस भूमि मे पदार्पण करते थे उसका आभास

आलोचना

पूर्व और पश्चिम, प्राचीनकाल और आधुनिक युग सभी देश काल मे ऋषियो को मिला है। मिस कॉस्टर (Miss Coster) के शब्दो मे—"मुझे विश्वास है कि जिसे लोग इस जीवन का यवनिकापात समझ लेते है उससे भी परे एक प्रदेश है और जो दृढ सकल्प लेकर चढेगे वे वहाँ तक पहुँच कर उसका पता भी पा सकते है।"

पाश्चात्य मनोवैज्ञानिको ने कभी कभी योग की रहस्यवाद, आत्म (Auto suggestion) तथा मानसिक व्याधि (Psycho-pathic States) से तुलना की है। ये समस्त आक्षेप योग विषयक अज्ञान पर आधारित है। योग व्यावहारिक विषय है। उसका अभ्यास किये बिना अथवा योग्य गुरु से सीखे बिना उसके विषय मे कुछ कहना व्यर्थ और अनुचित है।

प्रो० गार्बे (Garbe) के अनुसार पतञ्जलि के योग सूत्र के ईश्वर विषयक श्लोक न केवल पुस्तक के शेष भाग से असम्बद्ध है बल्कि उस मत के आधारभूत सिद्धान्तो के भी विरुद्ध है। डा० राधाकृष्णन भी इस मत का समर्थन करते है। योग का ईश्वर जीवन का लक्ष्य नही है। योग का अर्थ ईश्वर साक्षात्कार का प्रकृति पुरुष का विवेक है। ईश्वर जगत का सृष्टा और पालक न होकर एक पुरुष विशेष मात्र है। ईश्वर की भक्ति अन्तिम लक्ष्य पर पहुँचने के अनेक मार्गों मे से एक है। विज्ञान भिक्षु ने भी योग मे ईश्वर का स्थान गौण माना

है। इतना तो मानना ही पड़ेगा कि कम से कम पतञ्जलि के योग शास्त्र में ईश्वर को अधिक महत्व नहीं दिया गया है। ईश्वर को एक पुरुष विशेष मानने के कारण उससे योग (Union) का विचार उठ ही नहीं सकता था।

वास्तव में सांख्य और योग किसी ने भी ईश्वर के प्रश्न को अधिक महत्व नहीं दिया और इन दोनों दर्शनों में इस प्रश्न को लेकर परस्पर विरोध अधिक नहीं है। यह पीछे बतलाया जा चुका है कि योग में ईश्वर को अधिक महत्व नहीं दिया गया है। दूसरी ओर सांख्य ने ईश्वर के विचार का अत्यधिक विरोध नहीं किया है। प्राचीन सांख्य के दो महान प्रतिनिधि ग्रन्थ तत्त्व समास और कारिका में ईश्वर को मानने की कठिनाइयों का जिक्र भी नहीं किया गया है जबकि बाद के कुछ सांख्य मतानुयायियों ने इसी प्रश्न को लेकर ईश्वर का खंडन किया है। प्रो० मैक्समूलर के अनुसार—'उसका (कपिल का) दर्शन जगत के स्रष्टा अथवा बनाने वाले पुरुष के बिना है, परन्तु यदि इसलिए हम उसे नास्तिक कहें तो हमें यही नाम न्यूटन (Newto) की जगत की व्यवस्था और डार्विन (Darwi) के विकासवाद को भी देना पड़ेगा। यद्यपि हम जानते हैं कि न्यूटन और डार्विन दोनों ही पूर्णतः धार्मिक व्यक्ति थे। इसके अतिरिक्त कपिल ने वेदों पर भी विश्वास प्रदर्शित किया है। अतः कपिल के सांख्य में ईश्वर की आवश्यकता न होते हुए भी उसे निरीश्वरवादी नहीं कहा जा सकता। बाद का सांख्य ही नास्तिक है। इसी प्रकार आरम्भ के योगदर्शन में ईश्वर का केवल व्यावहारिक महत्व माना गया है। बाद के योग दर्शन में ही ईश्वर के पक्ष में सिद्धान्तों का विकास हुआ है। अतः मूल सांख्य और योग में ईश्वर के प्रश्नों को लेकर विरोध नहीं है। विज्ञान भिक्षु के शब्दों में—"कपिल ने ईश्वर नहीं बल्कि प्रणाली का खंडन किया है और उसी का उसके विरोधी ने मंडन किया है। इस प्रकार न तो सांख्य ईश्वर को असिद्ध करने की चेष्टा करता है और न योग उसको सिद्ध करने का प्रयास करता है। अतः सांख्य और योग को एक ही दर्शन का सैद्धान्तिक और व्यावहारिक पक्ष माना जा सकता है।

एकादश अध्याय

न्याय दर्शन

प्रमाण विचार

अन्य भारतीय दर्शनो के समान न्याय दर्शन मे भी प्रमाण विचार ही तत्व विचार का आधार है। अत न्याय दर्शन के तत्व विचार को जानने से पहले उसमे ज्ञान और प्रमाण का स्वरूप समझ लेना आवश्यक है।

ज्ञान और उसके भेद

ज्ञान वस्तुओ की अभिव्यक्ति को कहते हैं। वह दीपक के समान अपने विषयों को प्रकाशित करता है। ज्ञान के दो भेद है—यथा प्रमा (प्रमिति) तथा अप्रमा। न्याय के अनुसार प्रमा का अर्थ 'निश्चित ज्ञान' अथवा 'यथार्थ ज्ञान' है। यथार्थ ज्ञान, जैसी वस्तु हो उसको उसी प्रकार, अर्थात् सर्प को सर्प और घट को घट जानना है। प्रमा यथार्थ अनुभव है। यह स्मृति से भिन्न, ज्ञानेन्द्रिय तथा वस्तु के सयोग से साक्षात या परम्परा रूप मे उत्पन्न ज्ञान है। प्रमा वस्तु का असदिग्ध अनुभव है। इसमे स्मृति नही आती क्योकि वह बीती हुई वस्तु अथवा घटना पर आधारित है। इसमे सशयात्मक ज्ञान अथवा भ्रम भी नही आता क्योकि उसमे ज्ञान असदिग्ध नही होता। रस्सी मे सर्प का ज्ञान प्रत्यक्ष होते हुए भी यथार्थ नही है, अत वह प्रमा नही है। न्याय के अनुसार जो ज्ञान ज्ञान वस्तु के यथार्थ धर्म का प्रकाशक हो वह सत्य होता है और जो ऐसा नही होता वह अयथार्थ अथवा भ्रम होता है।[1] यथार्थ ज्ञान के अनुसार व्यवहार करने पर सफलता मिलती है। अत इसे 'अनुकूल-प्रवृत्ति-सामर्थ्य' कहते हैं। भ्रम अथवा मिथ्या ज्ञान के अनुसार कार्य करने मे विफलता मिलती है। अत यह प्रवृत्तिसवाद कहलाता है। इस प्रकार प्रमा और भ्रम सर्वथा विरुद्ध हैं। प्रमा मे तर्क भी नही आता क्योकि केवल तर्क के आधार पर निश्चित ज्ञान नही हो सकता। युक्ति किसी वस्तु का यथार्थ अनुभव नही है। प्रमा के चार भेद हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द। इनसे अतिरिक्त ज्ञान अप्रमा कहलाता है। अप्रमा अयथार्थ अनुभव पर आधारित है। यह अनिश्चित अथवा अयथार्थ ज्ञान है। जो वस्तु जैसी हो उसको उसी रूप मे न जानना अथवा दूसरे रूप मे जानना 'अयथार्थ ज्ञान' है जैसे अधेरे मे रस्सी को

---

१ तद्वति तत्प्रकारक ज्ञान यथार्थम्। तदभाववति तत्प्रकारक ज्ञान भ्रम.।

में समझना सीपी को चाँदी या शरीर को आत्मा समझना आदि अप्रमा भ्रम है। न्याय के अनुसार स्मृति संशय भ्रम और तर्क अप्रमा माने जाते हैं। अब हम पहले प्रमा का विचार करेंगे।

प्रत्यक्ष

गौतम के अनुसार—"प्रत्यक्ष एक अव्यभिचारी ज्ञान है जो इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न होता है, जो स्पष्ट है और किसी नाम के साथ सम्बन्धित नहीं है। इस मत के अनुसार प्रत्यक्ष ज्ञानेन्द्रिय तथा वस्तु के सन्निकर्ष से उत्पन्न साक्षात और यथार्थ ज्ञान है। उदाहरण के लिए जब कोई वस्तु मेरी आँख के इतने निकट सम्पर्क में है कि मुझे उसकी यथार्थता में कोई सन्देह नहीं तब वह प्रत्यक्ष ज्ञान है। यदि मैं किसी दूर की वस्तु को आदमी समझता हूँ और मुझे अपने इस ज्ञान में सन्देह है तो इन्द्रिय के साथ वस्तु का साक्षात सन्निकर्ष होने पर भी प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता। इसी प्रकार रस्सी को सर्प समझने में ज्ञान असंदिग्ध होते हुए भी यथार्थ नहीं होता। अतः भ्रमात्मक ज्ञान को भी प्रत्यक्ष में सम्मिलित नहीं कर सकते। नैयायिकों ने छः प्रकार के सन्निकर्ष माने हैं—'संयोग' 'संयुक्त समवाय' 'संयुक्त समवेत समवाय' 'समवाय' 'समवेत समवाय' तथा 'विशेषण-विशेष्य भाव'। विस्तार के भय से यहाँ इनका विस्तृत वर्णन नहीं किया जा रहा है।

प्रत्यक्ष की इस व्याख्या में अलौकिक और योगज प्रत्यक्ष नहीं आते क्योंकि उनका ज्ञान इन्द्रिय-संयोग के बिना होता है। सुख दुःख आदि विषयों का प्रत्यक्ष इन्द्रिय संयोग के बिना ही होता है। अतः प्रत्यक्ष का सामान्य लक्षण इन्द्रिय संयोग नहीं बल्कि साक्षात-प्रतीति है। किसी वस्तु का साक्षात्कार होने पर ही उसका प्रत्यक्ष ज्ञान होता है अर्थात प्रत्यक्ष में ज्ञान किसी पुराने अनुभव अथवा किसी अनुमान के बिना होता है। अतः कुछ नैयायिकों के अनुसार प्रत्यक्ष साक्षात प्रतीति है अर्थात् प्रत्यक्ष एक ऐसा ज्ञान है जो किसी अन्य ज्ञान के कारण से न प्राप्त हुआ हो।

प्रत्यक्ष के भेद कई प्रकार से किये गये हैं। एक प्रकार से प्रत्यक्ष के दो भेद हैं—

१ इन्द्रियार्थ सन्निकर्षोत्पन्न ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्।

—न्यायसूत्र १ १ ४।

२ ज्ञानाकरणकं ज्ञानम् प्रत्यक्षम्।

प्रत्यक्ष के भेद लौकिक तथा अलौकिक

लौकिक तथा अलौकिक । लौकिक प्रत्यक्ष म ज्ञान इन्द्रिय-सयोग से हाता है । अलौयिक प्रत्यक्ष में इन्द्रियो के विना ही साक्षात ज्ञान होता है । लौविव प्रत्यक्ष के भी दो भेद हैं—वाह्य तथा मानस । भिन्न भिन्न इन्द्रिया के अनुसार वाह्य प्रत्यक्ष के पाच भेद हैं—'चाक्षुस', 'रासन', 'घ्राणज', 'त्वाच' तथा 'श्रावण' प्रत्यक्ष । मानस प्रत्यक्ष मे मन और वस्तु के साक्षात सम्वन्ध मे सुख, दु ख, ज्ञान, द्वेप, धम तथा अधम आदि का ज्ञान होता है इम प्रकार वाह्य और मानम दो प्रकार के लौकिक प्रत्यक्ष के छ भेद होते हैं। अन्य दृष्टि से लौकिक प्रत्यक्ष के अन्य दो भेद हात हैं—निर्विकल्पक तथा मविकल्पक । इनके अतिरिक्त एक और प्रकार का भी प्रत्यक्ष माना गया है जिसे प्रत्यभिज्ञा कहते हैं । अत इस दृष्टि से लौकिव प्रत्यक्ष के तीन भेद हैं—सविकल्प, निर्विकल्प और प्रत्यभिज्ञा । प्रत्यक्ष के इन तीन भेवो को वौद्ध तथा अद्वैत वेदान्ती नही मानते है। दूसरी ओर अलौकिक प्रत्यक्ष भी तीन प्रकार का होता है यथा सामान्य-लक्षण, ज्ञान-लक्षण तथा योगज ।

(१) **निर्विकल्पक प्रत्यक्ष**—गौतम ने अपने सूत्र मे इसी को प्रत्यक्ष माना है।

लौकिक प्रत्यक्ष के तीन भेद

वाह्य इन्द्रिय का विपय के साथ सन्निकप होने पर सबसे पहले आत्मा मे एक ज्ञान उत्पन्न होता है जिसे न्याय दर्शन मे 'सम्मुग्ध' या 'अव्याकृत' ज्ञान कहा जाता है। इसमे केवल वस्तु के अस्तित्व का भान होता है, उसके गुण, नाम इत्यादि किसी विशेप धम का ज्ञान नही हाता। गुण आदि विकल्पो से रहित होने के कारण यह 'निर्विकल्पक प्रत्यक्ष' कहलाता हैं। यह प्रत्यक्ष का प्रथम अविकसित रूप है। इसका अस्तित्व प्रत्यक्ष नही बल्कि अनुमान से सिद्ध किया जाता है। नैयायिको के अनुसार सविकल्पक ज्ञान से पहले निर्विकल्प ज्ञान होना चाहिये । सविकल्पक ज्ञान विशेप विशेपण रूप और निर्विकल्पक ज्ञान विशेप और विवेपण का पृथक पृथक ज्ञान है। प्रत्यक्ष की इन दो अवस्थाओ का इसलिये अनुमान किया जाता है क्योंकि विशेष्य तथा विशेषण को पृथक पृथक जाने विना उन दोनो का सम्वन्ध नही स्थापित किया जा सकता ।

(२) **सविकल्पक प्रत्यक्ष**—निर्विकल्पक प्रत्यक्ष से व्यवहार मे कोई भी काम नही चल सकता । निर्विकल्पक प्रत्यक्ष मे वस्तु के विषय मे 'यह क्या है' 'यह मनुष्य है या पशु' इत्यादि विकल्प नही उठते । न्याय मत के अनुसार उत्पन्न होने के पहले क्षण मे तो प्रत्येक वस्तु का 'ज्ञान' नाम, जाति, गुण आदि विकल्पो से रहित होता है परन्तु बाद मे दूसरे क्षण उसी ज्ञान मे वस्तु के नाम, जाति,

आकृति गुण आदि विकल्पों का भी भान होता है और यही निर्विकल्प ज्ञान वाक्यों के द्वारा व्यवहार के लिये प्रकट किया जाता है। यही सविकल्पक ज्ञान है। इस प्रकार सविकल्पक प्रत्यक्ष में यह ज्ञान होता है कि 'यह मनुष्य है' 'यह काला है' 'यह स्थिर है' इत्यादि। यह प्रत्यक्ष का विकसित रूप है और इसी से जगत के व्यवहार चलते हैं।

(४) प्रत्यभिज्ञा—प्रत्यभिज्ञा का अर्थ पहचान (Recognition) है। इसमें किसी वस्तु को देखने से ही यह भान होता है कि उसे पहले भी देखा था। उदाहरण के लिये यदि एक वर्ष पहले जिस व्यक्ति से आपका परिचय कराया गया था उससे अब मिलने पर आपको यह आभास होता है कि यह वही व्यक्ति है जिसे आपने एक वर्ष पूर्व देखा था तो इस ज्ञान को प्रत्यभिज्ञा कहेंगे। इसमें प्रत्यक्ष अनुभव का भाव सदा वर्तमान रहता है।

अलौकिक प्रत्यक्ष के तीन भेद

(१) सामान्य-लक्षण—सामान्य धर्म के द्वारा जो प्रत्यक्ष होता है वह साधारण प्रत्यक्ष से भिन्न है अतः यह अलौकिक सामान्य लक्षण प्रत्यक्ष कहलाता है, जब हम यह कहते हैं कि मनुष्य-मात्र मरणशील है तो यह वाक्य सामान्य लक्षण प्रत्यक्ष द्वारा सभी मनुष्यों के मरणशील होने के ज्ञान पर आधारित है। जब हम किसी को देखकर यह कहते हैं कि यह मनुष्य है तो हमें उसके मनुष्यत्व का प्रत्यक्ष होता है अर्थात् नैयायिकों के अनुसार मनुष्य का ज्ञान उसके सामान्य धर्म 'मनुष्यत्व' के प्रत्यक्ष से होता है। इसी प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर हम मनुष्य धर्म विशिष्ट सभी व्यक्तियों को जानते हैं और यह कहते हैं कि मनुष्य मरणशील है क्योंकि मरण शीलता मनुष्यता का ही धर्म है।

(२) ज्ञान-लक्षण प्रत्यक्ष—इसमें इस प्रकार के प्रत्यक्ष आते हैं जैसे बर्फ ठंडा पत्थर ठोस और घास मुलायम दीखती है। यहाँ पर ठंडापन ठोसपन तथा मुलायमियत आदि त्वाच-प्रत्यक्ष के विषय हैं फिर वे आँखों से कैसे दिखलाई पड़ते हैं? नैयायिक इसको इस प्रकार समझाते हैं। अतीत काल में हमने कई बार चन्दन-काष्ठ को देखा है। उसको देखने के साथ उसको सूंघने से हमारे मन में उसके रंग तथा गन्ध में एक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। इसी कारण चन्दन को देखने से ही उसकी गन्ध का भी प्रत्यक्ष हो जाता है। इस उदाहरण में वर्तमान गन्ध का अनुभव अतीत के गन्ध के स्मरण पर आधारित है। अतीत ज्ञान पर आधारित होने के कारण इसे ज्ञान-लक्षण प्रत्यक्ष कहते हैं। यह अलौकिक है क्योंकि साधारणतः एक इन्द्रिय दूसरे विषय का अनुभव नहीं कर सकती जबकि इसमें ऐसा ही होता है।

(३) योगज प्रत्यक्ष—योगियों को सिद्धि के प्रभाव से प्रत्यक्ष रूप में जो ज्ञान साधारण अथवा असाधारण प्रत्यक्ष के बिना होता है वह योगज प्रत्यक्ष कहलाता है। यह अनुभव उन्हीं लोगों को हो सकता है। जिन्होंने योगाभ्यास द्वारा अलौकिक शक्ति प्राप्त की है। इस शक्ति से उन्हें भूत तथा भविष्य, सूक्ष्म तथा गूढ़, निकट तथा दूरस्थ, सभी प्रकार की वस्तुओं का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। यह शक्ति योग में 'सिद्धि' से स्वतः प्राप्त हो जाती है तथा इसका कभी नाश नहीं होता। योगज प्रत्यक्ष को अन्य भारतीय दार्शनिक भी मानते हैं।
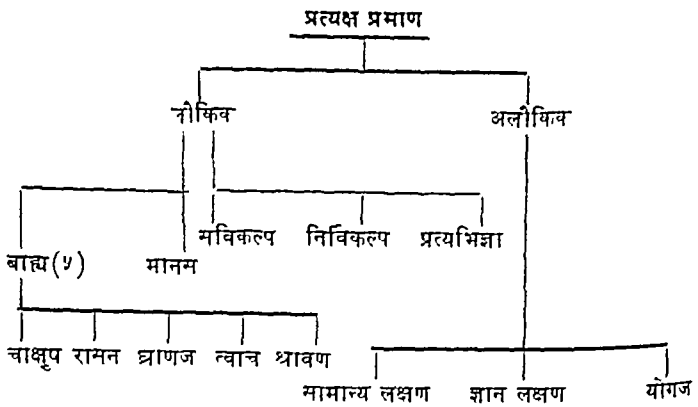
अनुमान

अनुमान 'अनुमा' ज्ञान का साधन है। वह एक ऐसा ज्ञान है जिसके पूर्व अन्य ज्ञान हो चुका है। वह परोक्ष है और हेतु अथवा लिंग से होता है जो कि साध्य से अनिवार्य रूप से सम्बन्धित है। अनुमान का शाब्दिक अर्थ दूसरे ज्ञान के पश्चात् (अनु) होने वाला ज्ञान (मान) है। 'व्याप्ति अथवा अविना भाव नियम' अनुमान का आधार है। हेतु और साध्य का अनिवार्य सम्बन्ध 'व्याप्ति' कहलाता है। व्याप्ति के द्वारा पक्ष धर्मता का ज्ञान परामर्श कहलाता है। अतः अनुमान को परामर्श द्वारा प्राप्त ज्ञान कहा गया है। अर्थात् लिंग के द्वारा साध्य के पक्ष में उपस्थिति का ज्ञान जो कि पक्ष धर्मता में है और व्याप्ति से अनिवार्य रूप से सम्बन्धित है।[1] उदाहरण के लिये 'पहाड़ में आग है क्योंकि वहाँ धुंआ है और

व्याख्या

१ परामर्श जन्य ज्ञानमनुमिति।
व्याप्ति विशिष्ट पक्ष धर्मताज्ञानं परामर्शः ॥

जहाँ धुँआ है वहाँ आग है' यहाँ धुँआ और आग में व्याप्ति सम्बन्ध है अतः पहाड़ से उठते धुँएँ को देखकर व्याप्ति के कारण पहाड़ में आग का अनुमान किया जाता है क्योंकि पहले देखा गया है कि जहाँ धुँआ है वहाँ आग भी है।
अनुमान में तीन पद और कम से कम तीन वाक्य होते हैं। अनुमान के ये तीन अवयव क्रमशः पक्ष साध्य और हेतु अथवा लिंग हैं। ये अनुमान के अवयव पाश्चात्य तर्क शास्त्र के Syllogism के क्रमशः Minor Major तथा Middle पदों के अनुरूप हैं। पक्ष अनुमान का वह अंग है जिसके सम्बन्ध में अनुमान किया जाता है। साध्य उसे कहते हैं जो पक्ष के सम्बन्ध में सिद्ध किया जाता है। और जिसके द्वारा पक्ष के सम्बन्ध में साध्य सिद्ध किया जाता है उसे हेतु अथवा लिंग कहते हैं। हेतु ही यह सिद्ध करता है कि साध्य का सम्बन्ध पक्ष के साथ है। अतः हेतु को साधन भी कहते हैं। उदाहरण के लिये उपरोक्त 'पहाड़ में आग' के अनुमान में धुँआ अनुमान का साधन है। यही वह लिंग अथवा चिह्न या हेतु है जिसे देखकर आग की उपस्थिति का अनुमान लगाया जाता है। यह अनुमान आग और धुँए के अनिवार्य सम्बन्ध पर आधारित है। इस प्रकार इस आग और धुँए वाले अनुमान के तीन भाग होंगे। (१) पर्वत में धुँआ है। (२) धुँआ तथा आग में व्याप्ति है (जिसे हम पहले से ही जानते हैं।) (३) पर्वत में आग है। यहाँ पर पर्वत पक्ष है क्योंकि उसी के सम्बन्ध में अनुमान किया जा रहा है 'आग' साध्य है क्योंकि पक्ष (पहाड़) के सम्बन्ध में उसे ही सिद्ध किया जा रहा है, और धुँआ लिंग है। इस प्रकार मानसिक विचार क्रम की दृष्टि से इस अनुमान में सबसे पहले हेतु सहित पक्ष का ज्ञान है फिर हेतु तथा साध्य की व्याप्ति का ज्ञान है और उसके पश्चात् साध्य के साथ पक्ष के सम्बन्ध का निर्णय है। परन्तु इसी अनुमान को वाक्यों में इस प्रकार रखा जायेगा —

पर्वत में आग है।
क्योंकि पर्वत में धुँआ है।
जहाँ धुँआ है वहाँ आग है जैसे चूल्हे म।

इसमें सबसे पहले पक्ष का सम्बन्ध साध्य के साथ स्थापित किया गया है। इसके बाद हेतु बतलाया गया है और अन्त में उदाहरण द्वारा यह बतलाया गया है कि साध्य के साथ हेतु का अविच्छेद्य सम्बन्ध है। भारतीय अनुमान का यह क्रम पाश्चात्य Syllogism से केवल वाक्यों में क्रम से भिन्न है अन्यथा तीनों वाक्य वही हैं। उपरोक्त उदाहरण में तीनों वाक्य पाश्चात्य Syllogism के क्रमशः Conclusion, Minor Premise तथा Major Premise से मिलते हैं। Syllogism में यह क्रम इस प्रकार है—Major Premise, Minor Premise

तथा Conclusion इस प्रकार Syllogism के क्रम से अनुमान का क्रम एकदम विपरीत है। Syllogism म Mujore Premise सवसे पहले आता है, किन्तु अनुमान मे यह सवसे अन्त मे आता ह। Syllogism मे Conclusion मवमे अन्त में आता है परन्तु अनुमान मे यह मवसे पहले होता है। अनुमान के तीनो वाक्य निश्चयात्मक (Categorical) हैं। ये या तो अस्तिवाचक (Affirmative) या नास्तिवाचक (Negative) हो मकते है।

स्वार्थ और पराथ अनुमान

अनुमान के प्रयोजन के दृष्टिकोण मे भारतीय दार्शनिको ने उसके दो भेद किये हैं—स्वार्थ और पराथ। स्वार्थ अनुमान अपने लिये होता है और परार्थ दूसरो को ममझने के लिये होता है। स्वार्थ अनुमान मे वाक्यो को क्रमवद्ध रूप मे प्रकट करने की आवश्यकता नही है। परन्तु परार्थ अनुमान मे वाक्यो को क्रमवद्ध तथा श्रखलित रूप मे प्रकट करने की आवश्यकता है। नैयायिको के अनुसार पराथ अनुमान मे पाँच अवयवय होते हैं। पचावयव अनुमान का उदाहरण निम्न लिखित है—

(१) **प्रतिज्ञा**—पवत मे आग है।
(२) **हेतु**—क्योकि (पर्वत मे) धुआ है।
(३) **दृष्टान्त**—जहाँ धुंआ है वहाँ आग है जैसे चूल्हे मे।
(४) **उपनय**—इस पवत मे धुंआ है।
(५) **निगमन**—इसलिये इस पर्वत मे आग है।

यहाँ पर प्रतिज्ञा का उद्देश्य जिस विपय पर विचार हो रहा है उसको पहले ही स्पष्ट कह देना है। हेतु प्रतिज्ञा का कारण दिखलाता है। दृष्टान्त एक पूर्ण व्यापक वाक्य है जो उदाहरण महित माध्य और हेतु का अविच्छिन्न सम्वन्ध दिखलाता है। उपनय यह वतलाता है कि दृष्टान्त-वाक्य प्रस्तुत विवेच्य विपय मे भी लागू होता है। निगमन वह है जो कि पहले के वाक्यो से निकलता है। इस अनुमान मे तीन बार 'लिंग' का दर्शन होता है। पहली बार धुंआ चूल्हे मे दिखाई पडा। दूसरी वार पहाड मे और तीसरी बार पहाड मे आग से व्याप्त 'धुंआ' दिखलाई पडा। इसके पश्चात् ही 'अनुमति' हो जाती है। अत अनुमान का लक्षण किया गया है—'तृतीयलिंग परामर्श अनुमानम्'। इस पचावयव अनुमान को गौतम ने 'परमन्याय' कहा है क्योकि इन पाँच वाक्यो मे चारो प्रमाणो का समावेश है।

अनुमान के उपरोक्त दो भेद प्रयोजन के आधार पर किये गए हैं—व्याप्ति के प्रकार-भेद मे गौतम के प्राचीन न्याय मे अनुमान के तीन भेद किये गए हैं—पूर्ववत् शेषवत् और मामान्यतोदृष्ट। इनमे पहले दो कार्य-कारण के नियत सम्बन्ध

के द्वारा होते हैं। सामान्यतोदृष्ट कार्य-कारण के द्वारा नहीं होता। न्याय के अनुसार कार्य के अव्यवहित नियत पूर्ववर्ती घटना को कारण कहते हैं और कारण के नित्य अव्यवहित परवर्ती घटना को कार्य कहते हैं।

(१) पूर्ववत्—'पूर्व' का अर्थ है पहले अथवा कारण और वत् का अर्थ है 'जैसा' या अनुसार। इस प्रकार पूर्ववत् अनुमान वह है जो पहले के जैसा हो अर्थात् जिसमे कारण के अनुसार कार्य का अनुमान लगाया गया हो। इस प्रकार पूर्ववत् अनुमान मे वर्तमान कारण से भविष्यत कार्य का अनुमान लगा लिया जाता है। जैसे मेघ को देखकर 'वर्षा होगी' यह अनुमान पूर्ववत् अनुमान है। पूर्ववत् अनुमान में साधन और साध्य मे कारण-कार्य सम्बन्ध है।

(२) शेषवत्—'शेष' का अर्थ है कार्य और 'वत्' का अर्थ है अनुसार। इस प्रकार कार्य के अनुसार कारण के अनुमान को शेषवत् अनुमान कहते है। पूर्ववत् अनुमान के विरुद्ध यहाँ पर व्याप्ति मे साधन तथा साध्य के बीच कार्य-कारण सम्बन्ध है। इसमे वर्तमान कार्य से विगत कारण का अनुमान किया जाता है जैसे नदी मे जल की अधिकता वेग अथवा मैलापन को देखकर 'कही वर्षा हुई होगी' यह अनुमान शेषवत् है। किसी वस्तु के एक अश को परख कर शेष भाग मे उसी गुण का अनुमान करना भी शेषवत् अनुमान है जैसे एक लोटे समुद्र के जल मे नमक पाकर समुद्र के शेष जल में भी नमक का अनुमान शेषवत् अनुमान है। शास्त्रकारो ने शेषवत् का एक और भी अर्थ किया है। जब 'प्रसक्त' अथवा सम्भावितो का प्रतिषेध हो जाय और अन्य कोई सम्भावित पदार्थ न रह जाय तो जो बचता है उसे 'शेष' कहेगे। इस 'शेष' के द्वारा अनुमान शेषवत् अनुमान कहा जायेगा। जैसे विशेष गुण होने के कारण 'शब्द' काल दिक् अथवा मन मे नहीं है। कानो से सुना जाने के कारण यह पृथ्वी जल अग्नि वायु अथवा आत्मा का भी विशेष गुण नही हो सकता। शेष बचा आकाश। क्यों द्रव्य कोई दूसरा है नही। अतः 'शब्द आकाश का गुण है' यह शेषवत् अनुमान से सिद्ध हुआ।

(३) सामान्यतोदृष्ट—साधारण रूप से परोक्ष वस्तु का जिसके द्वारा ज्ञान हो उसे 'सामान्यतोदृष्ट' अनुमान कहते हैं जैसे सूर्य को प्रात काल पूर्व दिशा मे और सायकाल पश्चिम दिशा मे देखकर सूर्य मे गति का अनुमान। सामान्यतोदृष्ट अनुमान मे प्रयुक्त व्याप्ति मे साधन-पद साध्यपद का न कारण है और न कार्य ही है। इसमे कारण-कार्य सम्बन्ध के आधार पर नही बल्कि इस आधार पर होता है कि साधन और साध्य सदा एक दूसरे के साथ पाए जाते है। उपरोक्त उदाहरण मे सूर्य के दिशा-परिवर्तन के साथ उसकी गति का अनुमान इसलिये लगा लिया गया क्योंकि अन्यान्य वस्तुओ मे स्थान-परिवर्तन के साथ उनकी गति भी दिखलाई पडती है। अतः सूर्य की गति न देखने पर भी स्थान

तथा Conclusion इस प्रकार Syllogism के क्रम मे अनुमान का क्रम एकदम विपरीत है। Syllogism मे Majore Premise सबसे पहले आता है, किन्तु अनुमान मे यह सबसे अन्त मे आता है। Syllogism म Conclusion सबसे अन्त में आता है परन्तु अनुमान मे यह सबसे पहले होता है। अनुमान के तीनो वाक्य निश्चयात्मक (Categorical) हैं। ये या तो अस्तिवाचक (Affirmative) या नास्तिवाचक (Negative) हो सकते हैं।

स्वार्थ और पराथ अनुमान

अनुमान के प्रयोजन के दृष्टिकोण मे भारतीय दार्शनिको ने उसके दो भेद किये हैं—स्वार्थ और पराथ। स्वाथ अनुमान अपने लिये होता है और पराथ दूसरो को समझने के लिये होता है। स्वार्थ अनुमान मे वाक्यो को क्रमबद्ध रूप मे प्रकट करने की आवश्यकता नही है। परन्तु परार्थ अनुमान मे वाक्यो को क्रमबद्ध तथा श्रृखलित रूप मे प्रकट करने की आवश्यकता है। नैयायिको के अनुसार पराथ अनुमान मे पाँच अवयवय होते हैं। पचावयव अनुमान का उदाहरण निम्न लिखित है—

(१) **प्रतिज्ञा**—पर्वत मे आग है।
(२) हेतु—क्योकि (पवत मे) धुआ है।
(३) **दृष्टान्त**—जहाँ धुंआ है वहाँ आग है जैसे चूल्हे मे।
(४) उपनय—इस पवत मे धुंआ है।
(५) **निगमन**—इसलिये इस पर्वत मे आग है।

यहाँ पर प्रतिज्ञा का उद्देश्य जिस विषय पर विचार हो रहा है उसको पहले ही स्पष्ट कह देना है। हेतु प्रतिज्ञा का कारण दिखलाता है। दृष्टान्त एक पूर्ण व्यापक वाक्य है जो उदाहरण सहित साध्य और हेतु का अविच्छिन्न सम्बन्ध दिखलाता है। उपनय यह बतलाता है कि दृष्टान्त-वाक्य प्रस्तुत विवेच्य विषय मे भी लागू होता है। निगमन वह है जो कि पहले के वाक्यो से निकलता है। इस अनुमान मे तीन बार 'लिग' का दर्शन होता है। पहली बार धुंआ चूल्हे मे दिखाई पडा। दूसरी बार पहाड मे और तीसरी बार पहाड मे आग से व्याप्त 'धुंआ' दिखलाई पडा। इसके पश्चात् ही 'अनुमति' हो जाती है। अत अनुमान का लक्षण किया गया है—'तृतीयलिंग परामर्श अनुमानम्'। इस पचावयव अनुमान को गौतम ने 'परमन्याय' कहा है क्योंकि इन पाँच वाक्यो मे चारो प्रमाणो का समावेश है।

अनुमान के उपरोक्त दो भेद प्रयोजन के आधार पर किये गए हैं—व्याप्ति के प्रकार-भेद मे गौतम के प्राचीन न्याय मे अनुमान के तीन भेद किये गए हैं—पूर्ववत् शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट। इनमे पहले दो कार्य-कारण के नियत सम्बन्ध

के द्वारा होते हैं। सामान्यतोदृष्ट कार्य-कारण के द्वारा नहीं होता। न्याय के अनुसार कार्य के अव्यवहित नियत पूर्ववर्ती घटना को कारण कहते हैं और कारण के नियत अव्यवहित परवर्ती घटना को कार्य कहते हैं।

(१) पूर्ववत्—'पूर्व' का अर्थ है पहले अथवा कारण और वत् का अर्थ है 'जैसा' या अनुसार। इस प्रकार पूर्ववत् अनुमान वह है जो पहले के जैसा हो अर्थात् जिसमें कारण के अनुसार कार्य का अनुमान लगाया गया हो। इस प्रकार पूर्ववत् अनुमान में वर्तमान कारण से भविष्यत कार्य का अनुमान लगा लिया जाता है। जैसे मेघ को देखकर 'वर्षा होगी' यह अनुमान पूर्ववत् अनुमान है। पूर्ववत् अनुमान में साधन और साध्य में कारण-कार्य सम्बन्ध है।

(२) शेषवत्—'शेष' का अर्थ है कार्य और 'वत्' का अर्थ है अनुसार। इस प्रकार कार्य के अनुसार कारण के अनुमान को शेषवत् अनुमान कहते हैं। पूर्ववत् अनुमान के विरुद्ध यहाँ पर व्याप्ति में साधन तथा साध्य के बीच कार्य-कारण सम्बन्ध है। इसमें वर्तमान कार्य से विगत कारण का अनुमान किया जाता है जैसे नदी में जल की अधिकता वेग अथवा मँटमैलेपन को देखकर 'कहीं वर्षा हुई होगी' यह अनुमान शेषवत् है। किसी वस्तु के एक अंश को परख कर शेष भाग में उसी गुण का अनुमान करना भी शेषवत् अनुमान है जैसे एक लोटे समुद्र के जल में नमक पाकर समुद्र के शेष जल में भी नमक का अनुमान शेषवत् अनुमान है। शास्त्रकारों ने शेषवत् का एक और भी अर्थ किया है। जब 'प्रसक्त' अथवा सम्भावितों की प्रतिषेध हो जाय और अन्य कोई सम्भावित पदार्थ न रह जाय तो जो बचता है उसे 'शेष' कहेंगे। इस 'शेष' के द्वारा अनुमान शेषवत् अनुमान कहा जायेगा। जैसे विभव गुण होने के कारण 'शब्द' काल दिग् अथवा मन में नहीं है। कानों से सुना जाने के कारण वह पृथ्वी जल अग्नि वायु अथवा आत्मा का भी विशेष गुण नहीं हो सकता। शेष बचा आकाश। तथा द्रव्य कोई दूसरा है नहीं। अतः 'शब्द' आकाश का गुण है यह शेषवत् अनुमान से सिद्ध हुआ।

(३) सामान्यतोदृष्ट—साधारण रूप से परोक्ष वस्तु का जिसके द्वारा ज्ञान हो उसे 'सामान्यतोदृष्ट' अनुमान कहते हैं जैसे सूर्य को प्रातःकाल पूर्व दिशा में और सायंकाल पश्चिम दिशा में देखकर सूर्य में गति का अनुमान। सामान्यतोदृष्ट अनुमान में प्रयुक्त व्याप्ति में साधन-पद साध्यपद का न कारण है और न कार्य ही है। इसमें कारण-कार्य सम्बन्ध के आधार पर नहीं बल्कि इस आधार पर होता है कि साधन और साध्य बराबर एक दूसरे के साथ पाए जाते हैं। उपरोक्त उदाहरण में सूर्य के दिशा-परिवर्तन के साथ उसकी गति का अनुमान इसलिये लगा लिया गया क्योंकि अन्यान्य वस्तुओं में स्थान-परिवर्तन के साथ उनकी गति भी दिखलाई पड़ती है। अतः सूर्य की गति न देखने पर भी स्थान

परिवर्तन के आधार पर उसकी गति का अनुमान कर लिया गया। इस प्रकार यह अनुमान सामान्य सादृश्य के अनुभवो के द्वारा होते हैं। अत सामान्यतोदृष्ट अनुमान उपमान से मिलता जुलता है।

व्याप्ति-स्थापन प्रणाली के प्रकार भेद के अनुसार नव्य न्याय ने अनुमान के तीन भेद किये है—केवलान्वयी, केवल व्यतिरेकी तथा अन्वय व्यतिरेकी।
१ **केवलान्वयी**—जहाँ साधन और साध्य मे नित्य साहचर्य हो अर्थात् जिसकी व्याप्ति केवल अन्वय के द्वारा स्थापित होती है और जिसमे व्यतिरेक का सर्वथा अभाव रहता है उसे केवलान्वयी अनुमान कहते है। जैसे सभी प्रमेय अभिधेय (नाम से पुकारने योग्य) हैं।

घट प्रमेय (ज्ञेय) है।
अत घट अभिधेय है।

इस अनुमान के प्रथम वाक्य मे उद्देश्य और विधेय के बीच व्याप्ति सम्बन्ध है। इसके विधेय और उद्देश्य के किसी भी अश मे व्यतिक्रम नहीं हो सकता क्योकि यह सभव नही है कि किसी भी ज्ञेय पदाथ का नाम नही दिया जा सकता। यहाँ व्याप्ति सिद्ध करने के लिये कोई व्यतिरेकी दृष्टान्त अर्थात् 'जो अभिधेय पर नही हैं, वह अज्ञेय है।' ऐसा दृष्टान्त नही है क्योंकि यह पहले ही कहा जा चुका है कि ऐसी कोई वस्तु हम नही बता सकते जिसका कोई नाम न रखा जा सकता हो। इसलिये इस प्रकार की व्याप्ति का नाम केवलान्वयी है।

जहाँ सावन और साध्य की अन्वय मूलक व्याप्ति मे नही बल्कि साध्य के अभाव के साथ सावन के अभाव की व्याप्ति के ज्ञान से अनुमान होता है उसे केवल व्यतिरेकी अनुमान कहते हैं। इसमे पक्ष के अतिरिक्त साधन का ऐसा और कोई दृष्टान्त नहीं जिसमे उसका साध्य के साथ अन्वय देखा जाय अत इस व्याप्ति की स्थापना व्यतिरेकी प्रणाली से ही हो सकती है। इस अनुमान का उदाहरण यो दिया जा सकता हैं—

(२) **केवल व्यतिरेकी**

अन्य भूतो मे जो भिन्न नही है उसमे गन्ध नहीं है।
पृथ्वी मे गन्ध है।
अत पृथ्वी अन्य भूतो से भिन्न है।

इस अनुमान मे प्रथम वाक्य मे साध्य के अभाव के साथ साधन के अभाव की व्याप्ति दिखलाई गई है। साधन 'गन्ध' को पक्ष 'पृथ्वी' के अतिरिक्त और कहीं देखना सभव नहीं है। अत साधन और साध्य मे अन्वय मूलक व्याप्ति

नहीं स्थापित हो सकती। इस प्रकार यहाँ अनुमान केवल व्यतिरेक मूलक व्याप्ति के आधार पर किया गया है।

जहाँ साधन और साध्य का सम्बन्ध अन्वय तथा व्यतिरेक दोनों के द्वारा स्थापित किया गया हो वहाँ अन्वय-व्यतिरेकी अनुमान होता है।

(३) अन्वय व्यतिरेकी — इसमें व्याप्ति का ज्ञान अन्वय और व्यतिरेक दोनों की सम्मिलित प्रणाली पर निर्भर करता है—साधन के उपस्थित रहने पर साध्य भी उपस्थित रहता है। साध्य के अनुपस्थित रहने पर साधन भी अनुपस्थित रहता है। अन्वया व्यतिरेकी अनुमान का उदाहरण निम्नलिखित युग्म अनुमान से दिया जा सकता है —

(१) सभी धूमवान पदार्थ वह्निमान हैं
पर्वत धूमवान है
अतः पर्वत वह्निमान है।

(२) सभी वह्निहीन पदार्थ धूमहीन हैं
पर्वत धूमवान है;
अतः पर्वत वह्निमान है।
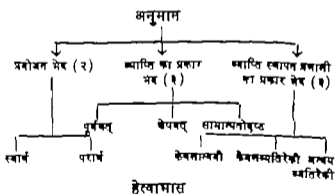
हेत्वाभास

अनुमान हेतु पर आधारित होता है। यदि हेतु शुद्ध है तो अनुमान भी शुद्ध होता है। यदि हेतु दूषित है तो अनुमान भी दूषित होता है। यही दूषित हेतु 'असत् हेतु' अर्थात् हेत्वाभास कहलाता है। हेत्वाभास का अर्थ है कि जो देखने में तो हेतु के समान है परन्तु वास्तव में हेतु नहीं है। हेत्वाभास पाँच प्रकार के होते हैं— (१) असिद्ध (२) विरुद्ध (३) सव्यभिचार अथवा अनैकान्तिक (४) सत्प्रतिपक्ष अथवा प्रकरणसम और (५) बाधितविषय अथवा कालात्ययापदिष्ट।

असिद्ध अथवा साध्यसम हेत्वाभास — जो हेतु स्वयं साध्य की भाँति असिद्ध हो उसको साध्यसम कहते हैं क्योंकि जैसे अभी तक साध्य का अस्तित्व (१) असिद्ध सिद्ध नहीं है वैसे ही हेतु का अस्तित्व भी सिद्ध नहीं रहता। स्वयं असिद्ध रहने के कारण यह निगमन की सत्यता को भी सिद्ध नहीं करता। असिद्ध हेत्वाभास के निम्नलिखित तीन भेद हैं—

(क) **आश्रयासिद्ध या पक्षासिद्ध**—जिसमें 'पक्ष' या 'आश्रय' असिद्ध हो, जैसे—

प्रतिज्ञा—आकाश का कमल सुगन्ध वाला है।

हेतु—क्योंकि (वह) कमल है।

उदाहरण—जो कमल है वह सुगन्ध वाला है जैसे तालाब में उगने वाला कमल। यहाँ 'आकाश का कमल' जो पक्ष अथवा आश्रय है स्वयं असिद्ध है।

(ख) **स्वरूपासिद्ध**—जिसमें हेतु का पक्ष में रहना असंभव हो, जैसे—

प्रतिज्ञा—शब्द अनित्य है।

हेतु—क्योंकि वह (शब्द) आँख से देखा जाता है।

उदाहरण—जो आँख से देखा जाता है वह अनित्य है जैसे घड़ा, पुस्तक आदि यहाँ हेतु का स्वरूप ही असिद्ध (स्वरूप+असिद्ध) है क्योंकि शब्द आँख से नहीं देखा जाता।

(ग) **व्याप्यत्वासिद्ध**—जहाँ हेतु का साध्य के साथ व्याप्य होना असिद्ध हो। यह दो प्रकार का है (अ) व्याप्ति को सिद्ध करने वाले प्रमाण के अभाव से (आ) हेतु में उपाधि के होने से। इसके उदाहरण निम्नलिखित हैं—

(अ) **प्रतिज्ञा**—शब्द क्षणिक है अर्थात् एक ही क्षण में रहने वाला है।

हेतु—क्योंकि वह सत् है

उदाहरण—जो सत् है वह क्षणिक है जैसे बादल का टुकड़ा।

उपनय—सत् शब्द में है।

निगमन—इसलिये शब्द क्षणिक है।

यहाँ दृष्टान्त के अशुद्ध होने से व्याप्ति असिद्ध है।

(आ) **प्रतिज्ञा**—यज्ञ में की गई हिंसा अधर्म का साधन है।

हेतु—क्योंकि वह हिंसा है।

उदाहरण—जहाँ हिंसा है वहाँ अधर्म का साधन है।

यहाँ हेतु अशुद्ध है क्योंकि हिंसा हिंसा होने के कारण नहीं बल्कि निषिद्ध होने से अधर्म का साधन होती है।

जो हेतु साध्य के विपरीत बात को सिद्ध करे। इसमें हेतु पक्ष में साध्य के अस्तित्व को नहीं बल्कि उसके अभाव को ही सिद्ध करता

(२) विरुद्ध है जैसे —

प्रतिज्ञा—शब्द नित्य है।

हेतु—क्योंकि वह उत्पन्न होता है।

यहाँ हेतु 'नित्य' रूपी साध्य के विपरीत 'अनित्य' को सिद्ध करता है क्योंकि उत्पन्न होने वाला नित्य नहीं अनित्य होता है।

३ सव्यभिचार अथवा अनैकान्तिक—सव्यभिचार हेतु के द्वारा निगमन की सिद्धि निश्चित रूप से नहीं होती परन्तु विरुद्ध हेतु के द्वारा निगमन का खंडन ही हो जाता है। यह तीन प्रकार का है —

(अ) साधारण अनैकान्तिक—जो हेतु पक्ष सपक्ष तथा विपक्ष इन तीनों में रहे जैसे —

प्रतिज्ञा—शब्द नित्य है।

हेतु—क्योंकि वह प्रमेय (ज्ञान का विषय) है।

(आ) असाधारण अनैकान्तिक—जो हेतु सपक्ष तथा विपक्ष में न रह कर केवल पक्ष में रहे जैसे —

प्रतिज्ञा—पृथ्वी नित्य है।

हेतु—क्योंकि यह गन्ध रखने वाली है।

(इ) अनुपसंहारी—जिस हेतु में न तो अन्वय दृष्टान्त हो और न व्यतिरेक दृष्टान्त हो जैसे —

प्रतिज्ञा—सभी अनित्य हैं।

हेतु—क्योंकि वे प्रमेय हैं।

४ सत्प्रतिपक्ष अथवा प्रकरणसम—जिस हेतु में साध्य के विपरीत को सिद्ध करने का दूसरा हेतु उपस्थित हो। इस प्रकार एक अनुमान का दूसरा प्रतिपक्षी अनुमान भी सम्भव हो जाता है जैसे —

(१) प्रतिज्ञा—शब्द नित्य है।

हेतु—क्योंकि वह आकाश के समान अमूर्त है।

(२) प्रतिज्ञा—शब्द अनित्य है।

हेतु—क्योंकि वह घट की भाँति एक कार्य है।

इस उदाहरण में द्वितीय अनुमान में हेतु अमूर्त द्वारा शब्द की नित्यता सिद्ध की गई है और द्वितीय अनुमान में हेतु 'कार्य' के द्वारा उसकी अनित्यता सिद्ध की गई है। दूसरे अनुमान का हेतु ठीक होने के कारण उससे पहले अनुमान का हेतु खंडित हो जाता है। अतः पहले अनुमान में 'सत्प्रतिपक्ष' दोष है। विरुद्ध

मे हेतु के द्वारा ही निगमन का खडन हो सकता है परन्तु 'सत्प्रतिपक्ष' मे निगमन का खडन अन्य सभावित अनुमान के हेतु द्वारा होता है ।

५ बाधितविषय या कालात्ययापदिष्ट

इसमे दृढ़ प्रमाणो के द्वारा पक्ष मे साध्य का होना बाधित अथवा असिद्ध होता है जैसे—

प्रतिज्ञा—आग गरम नही है,
हेतु—क्योकि वह उत्पन्न होती है, जैसे—जल ।

इस उदाहरण मे 'गरम न होना' साध्य है और उत्पन्न होना हेतु है । सभी प्रत्यक्ष प्रमाण से यह जानते हैं कि आग गरम होती है । अत यहाँ पर साध्य का पक्ष मे होना प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित है । जब कोई अनुमान किसी दूसरे अनुमान से खण्डित हो जाता है तो सत्यप्रतिपक्ष दोष होता है और जब कोई अनुमान, प्रत्यक्ष अथवा अनुमान के अतिरिक्त अन्य किसी प्रमाण से खण्डित हो जाता है तब बाधित विषय दोष होता है ।

तर्कशास्त्र मे ये ही पाँच प्रकार के 'हेत्वाभास' माने जाते हैं । इन्ही को उलट-पुलट कर देने से इनके कुछ और भी भेद हो जाते हैं । हेतु के 'अतिव्याप्ति' 'अव्याप्ति', तथा 'असम्भव' दोष इसी प्रकार के हैं । ये इन्ही पाँच हेत्वाभासो मे आ जाते हैं ।

(४) उपमान

उपमान क्या है ?

उपमान को उपमिति भी कहते हैं। न्याय के अनुसार संज्ञा-संज्ञि-सम्बन्ध के ज्ञान को उपमान कहते हैं।[1] इसके द्वारा किसी नाम और उसके नामी के सम्बन्ध का ज्ञान होता है। यह दो मुख्य वस्तुओं के बीच में विद्यमान साधारण-धर्म अथवा सादृश्य के ज्ञान पर आधारित है। इसके लिये यह आवश्यक है कि किसी परिचित वस्तु के साथ अज्ञात वस्तु के सादृश्य का ज्ञान प्राप्त रहे और आगे चलकर इन्हीं सादृश्यों का प्रयत्न हो। उदाहरण के लिये मान लीजिये कि आपने गवय अर्थात नीलगाय को कभी नहीं देखा। कोई जंगल का रहने वाला आपसे यह बतलाता है कि 'गवय' गाय से मिलती जुलती और उसी के आकार प्रकार की होती है। अब यदि आप गाय के समान कोई पशु जंगल में देखते हैं और यह समझते हैं कि 'यही गवय नाम का जन्तु है' तो यह ज्ञान उपमान के द्वारा प्राप्त होता है। यहाँ पर नाम और नामी में सम्बन्ध है अर्थात गवय कहलाने वाला पशु जैसा कि उसका नाम है, गाय के समान है। उपमान की इस क्रिया में जब हम गवय में गौ के सादृश्य को देखते हैं और पहले सुनी हुई इस बात का स्मरण करते हैं कि गवय गाय के समान ही है तभी हम जानते हैं कि इसका नाम गवय है।

उपमान पर अन्य दर्शनों के विचार

चार्वाक उपमान को प्रमाण नहीं मानते क्योंकि उनके मतानुसार इससे नामी का यथार्थ ज्ञान नहीं मिल सकता। बौद्ध दार्शनिकों के अनुसार उपमान कोई स्वतंत्र प्रमाण नहीं है बल्कि प्रत्यक्ष और शब्द का ही एक परिवर्तित रूप है। वैशेषिक तथा सांख्य दर्शनों के अनुसार उपमान न तो कोई स्वतन्त्र प्रमाण है और न कोई विशेष प्रकार का ज्ञान ही है बल्कि एक प्रकार का अनुमान ही है। जैन दर्शन के अनुसार उपमान प्रत्यभिज्ञा है। मीमांसक और वेदान्ती न्याय के समान उपमान को एक स्वतन्त्र प्रमाण मानते हैं परन्तु इसका कुछ भिन्न अर्थ करते हैं।

(५) शब्द

न्याय दर्शन के अनुसार शब्द आप्तवाक्य है[2] और शब्द प्रमाण आप्तवाक्य का यथार्थ समझने में है। वाक्य पदों का समूह है और पद वह है जिसमें अर्थ की अभिव्यक्ति करने की शक्ति है। प्राचीन न्याय के अनुसार पद की यह शक्ति ईश्वर के कारण है और बाद के नैयायिकों के अनुसार यह परम्परा के कारण

---

१ संज्ञा संज्ञिसम्बन्धज्ञानमुपमितिः। तत्करणं सादृश्यज्ञानम्।

२ आप्तवाक्यं शब्दः। आप्तस्तु यथार्थवक्ता। वाक्यं पदसमूहः। शक्तं पदम्। ईश्वरसंकेतः शक्तिः।

मे हेतु के द्वारा ही निगमन का खडन हो सकता है परन्तु 'सत्प्रतिपक्ष' मे निगमन का खडन अन्य सभावित अनुमान के हेतु द्वारा होता है।

इसमे दृढ़ प्रमाणो के द्वारा पक्ष मे साध्य का होना बाधित अथवा असिद्ध होता है जैसे—

५ बाधितविषय या कालात्ययापदिष्ट — प्रतिज्ञा—आग गरम नहीं है,
हेतु—क्योकि वह उत्पन्न होती है, जैसे—जल।

इस उदाहरण मे 'गरम न होना' साध्य है और उत्पन्न होना हेतु है। सभी प्रत्यक्ष प्रमाण से यह जानते हैं कि आग गरम होती है। अत यहाँ पर साध्य का पक्ष मे होना प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित है। जब कोई अनुमान किसी दूसरे अनुमान से खडित हो जाता है तो सत्प्रतिपक्ष दोष होता है और जब कोई अनुमान, प्रत्यक्ष अथवा अनुमान के अतिरिक्त अन्य किसी प्रमाण से खडित हो जाता है तब बाधित विषय दोष होता है।

तर्कशास्त्र मे ये ही पाँच प्रकार के 'हेत्वाभास' माने जाते हैं। इन्हीं का उलट-पुलट कर देने से इनके कुछ और भी भेद हो जाते हैं। हेतु के 'अतिव्याप्ति' 'अव्याप्ति', तथा 'असम्भव' दोष इसी प्रकार के हैं। ये इन्हीं पाँच हेत्वाभासो में आ जाते हैं।

(४) उपमान

उपमान को उपमिति भी कहते हैं। न्याय के अनुसार संज्ञा-संज्ञि-सम्बन्ध के ज्ञान को उपमान कहते हैं।[1] इसके द्वारा किसी नाम और उसके नामी के सम्बन्ध का ज्ञान होता है। यह दो मुख्य वस्तुओं के बीच में विद्यमान साधारण धर्म अथवा सादृश्य के ज्ञान पर आधारित है। इसके लिये यह आवश्यक है कि किसी परिचित वस्तु के साथ अज्ञात वस्तु के सादृश्य का ज्ञान प्राप्त रहे और आगे चलकर इसी सादृश्य का प्रत्यक्ष हो। उदाहरण के लिए मान लीजिये कि आपने गवय अर्थात् नीलगाय को कभी नहीं देखा। कोई जंगल का रहने वाला आपसे यह बतलाता है कि 'गवय' गाय से मिलती जुलती और उसी के आकार-प्रकार की होती है। अब यदि आप गाय के समान कोई पशु जंगल में देखते हैं और यह समझते हैं कि 'यही गवय नाम का पशु है' तो यह ज्ञान उपमान के द्वारा प्राप्त होता है। यहाँ पर नाम और नामी में सम्बन्ध है अर्थात् गवय कहलाने वाला पशु जैसा कि उसका नाम है, गाय के समान है। उपमान की इस क्रिया में जब हम गवय में गो के सादृश्य को देखते हैं और पहले सुनी हुई इस बात का स्मरण करते हैं कि गवय गाय के समान ही है तभी हम जानते हैं कि इसका नाम गवय है।

उपमान क्या है?

चार्वाक उपमान को प्रमाण नहीं मानते क्योंकि उनके मतानुसार इससे नामी का यथार्थ ज्ञान नहीं मिल सकता। बौद्ध दार्शनिकों के अनुसार उपमान कोई स्वतंत्र प्रमाण नहीं है बल्कि प्रत्यक्ष और शब्द का ही एक परिवर्तित रूप है। वैशेषिक तथा सांख्य दर्शनों के अनुसार उपमान न तो कोई स्वतन्त्र प्रमाण है और न कोई विशेष प्रकार का ज्ञान ही है बल्कि एक प्रकार का अनुमान ही है। जैन दर्शन के अनुसार उपमान प्रत्यभिज्ञा है। मीमांसक और वेदान्ती न्याय के समान उपमान को एक स्वतन्त्र प्रमाण मानते हैं परन्तु इसका कुछ भिन्न अर्थ करते हैं।

उपमान पर अन्य दर्शनों के विचार

(५) शब्द

न्याय दर्शन के अनुसार शब्द आप्तवाक्य है और शब्द प्रमाण आप्तवाक्य का यथार्थ समझने में है। वाक्य पदों का समूह है और पद वह है जिसमें अर्थ की अभिव्यक्ति करने की शक्ति है। प्राचीन न्याय के अनुसार पद की यह शक्ति ईश्वर के कारण है और बाद के नैयायिकों के अनुसार यह परम्परा के कारण

---

१ संज्ञासंज्ञिसम्बन्धज्ञानमुपमितिः। तत्करणं सादृश्यज्ञानम्।

२ आप्तवाक्यं शब्दः। आप्तस्तु यथार्थवक्ता। वाक्यं पदसमूहः। शक्तं पदम्। ईश्वरसंकेतः शक्तिः।

है। अत प्रमाण सभी शब्द नही बल्कि यथार्थवादी अथवा आप्तव्यक्तियो के ही शब्द है। यदि किसी व्यक्ति का यथार्थ ज्ञान रहे और वह उस ज्ञान को परोपकार के लिये प्रगट करे तो उसके वचन सत्य समझे जाते है। ज्ञान शब्द मात्र से नही बल्कि उसका अर्थ समझ लेने से होता है। अत शब्द प्रमाण आप्त व्यक्तियो के वचन के अर्थ का ज्ञान है।

अर्थ के विषय की दृष्टि से शब्द के दो भेद किये गये है—दृष्टार्थ तथा अदृष्टार्थ।

दृष्टार्थ और अदृष्टार्थ शब्द

दृष्टार्थ शब्द वे है जिनसे ऐसी वस्तुओ का ज्ञान होता है जिनका प्रत्यक्ष हो सके, जैसे साधारण मनुष्यो तथा महात्माओ के विश्वसनीय वचन, धर्मग्रन्थो की दृष्ट पदार्थो के सम्बन्ध मे उक्तियाँ, न्यायालय मे साक्षियो के वचन, विश्वस्त कृषको की कृषि सम्बन्धी उक्तियाँ तथा धर्मग्रन्थो मे वर्षा के लिये बतलाये हुये यज्ञो के विधान आदि। अदृष्टार्थ शब्द वे है जिनसे अदृष्ट वस्तुओ का ज्ञान प्राप्त हो जैसे साधारण मनुष्यो, महात्माओ, धर्म गुरुओ और धर्मग्रन्थो के विश्वसनीय वचन, परमाणु आदि विषयो के सम्बन्ध मे वैज्ञानिको के वचन, पाप और पुण्य के सम्बन्ध मे धर्म-गुरुओ के वचन और ईश्वर, जीव की नित्यता आदि के सम्बन्ध मे धर्म ग्रन्थो की उक्तियाँ इत्यादि।

शब्द की उत्पत्ति की दृष्टि से उसके दो भेद किये गये है—वैदिक और लौकिक।

वैदिक और लौकिक शब्द

नैयायिको के अनुसार शब्द की उत्पत्ति किसी व्यक्ति से ही होती है चाहे वह व्यक्ति कोई मनुष्य हो या स्वयं भगवान हो। वैदिक शब्द स्वयं ईश्वर के वचन हैं। लौकिक शब्द मनुष्यो के वचन है। अत वैदिक शब्द पूर्णत निर्दोष और भ्रान्तिहीन हैं। लौकिक शब्द सत्य भी हो सकते हैं और मिथ्या भी हो सकते हैं। इनमे सत्य वे होते हैं जो विश्वास योग्य व्यक्तियो के वचन होते हैं।

वाक्य विवेचन

शब्द विश्वसनीय व्यक्तियो की लिखित अथवा कथित वाक्यो के अर्थ का ज्ञान है। वाक्य क्या है? वह ऐसे पदो का समूह है जो एक विशेष ढंग से क्रमबद्ध रहते है। पद ऐसे अक्षरो का समूह है जो विशेष प्रकार से क्रमबद्ध रहते हैं। पद की विशेषता उसके अर्थ मे ही है। उसका किसी विषय के साथ निश्चित सम्बन्ध रहता है। अत सुने जाने या पढ़े जाने पर वह उस विषय का ज्ञान उत्पन्न कर देता है। इस प्रकार शब्द अर्थ का प्रतीक है।

वाक्य का लक्षण

उसकी अर्थ बोध कराने की क्षमता ईश्वर के कारण है क्योंकि ईश्वर ही संसार में सब प्रकार की व्यवस्था अथवा एकरूपता का नियामक है।

वाक्य पदों का अर्थ समूह है। पर अर्थ पूर्ण समूह सभी पूर्ण नहीं हो सकते। वाक्य के अर्थ के ज्ञान (वाक्यार्थबोध के लिये वाक्य में आकांक्षा योग्यता सन्निधि तथा तात्पर्य ज्ञान इन चार बातों की आवश्यकता है। यही वाक्यार्थ बोध के चार कारण हैं।

वाक्यार्थ बोध के नियम

(१) आकांक्षा—दूसरे पद के उच्चारण हुए बिना जब किसी एक पद का अभिप्राय समझ में न आये तो इन पदों के परस्पर सम्बन्ध को आकांक्षा कहते हैं। आकांक्षा किसी एक पद से पूर्ण अर्थ बोध नहीं हो सकता। वाक्य पूरा करने के लिये एक पद का दूसरे पदों के साथ सम्बन्ध स्थापित करना अत्यन्त आवश्यक है। उदाहरण के लिये यदि कोई कहे 'देवदत्त' तो यह सुन कर मन में देवदत्त के सम्बन्ध में अधिक सुनने की इच्छा होती है जिसकी तृप्ति अन्य शब्दों को सुने बिना नहीं हो सकती। जब यदि कहा जाय 'जाता है' तो इसे सुन कर आकांक्षा निवृत्त हो जाती है क्योंकि देवदत्त और 'जाता है' इन दोनों पदों के मिलने से एक सम्बद्ध ज्ञान उत्पन्न होता है। अतः ये दोनों पद 'साकांक्ष' हैं।

(२) योग्यता—पदों में परस्पर अर्थ का बोध होने की शक्ति योग्यता कही जाती है। 'आग से सींचो' इस वाक्य के पदों में योग्यता का अभाव है क्योंकि आग और 'सींचना' में परस्पर विरोध है। बिना योग्यता के युक्त वाक्य से शब्द बोध नहीं हो सकता। अतः योग्यता पदों में परस्पर विरोध का अभाव है।

(३) सन्निधि—समीप पदों को एक साथ अथवा बिना अधिक विलम्ब किये उच्चारण करना 'सन्निधि' कही जाती है। इसे ही आसत्ति भी कहते हैं। वाक्य अर्थसूचक तभी हो सकता है जब कि समय और स्थान की दृष्टि से उसके पद परस्पर निकट हों। पदों के बीच में स्थान अथवा समय का बहुत अन्तर होने पर वाक्य नहीं बन सकता देवदत्त—एक—गाय—लाता—है यदि ये पाँच पद पाँच दिनों में बोले जावें अथवा पाँच स्थानों पर लिखे जावें तो उनमें आकांक्षा और योग्यता रहने पर भी उनसे वाक्य नहीं बन सकता। अतः शब्द बोध में 'सन्निधि' भी अत्यन्त आवश्यक है।

(४) तात्पर्य ज्ञान—वाक्यार्थ बोध के लिये उपरोक्त तीनों बातों के अतिरिक्त वक्ता अथवा लेखक के तात्पर्य अथवा अभिप्राय का ज्ञान भी अत्यन्त आवश्यक है। जैसे यदि भोजन करते हुये कोई व्यक्ति 'सैन्धव ले आओ' ऐसा कहे तो जब तक सुनने वाले को उन शब्दों का तात्पर्य न मालूम हो तब तक वह यह नहीं समझ

सकता कि बोलने वाला 'नमक' चाहता है या 'सिन्धु देश का घोड़ा' क्योंकि 'सैन्धव' शब्द के दोनों ही अर्थ होते हैं और वर्तमान प्रसंग दाल में नमक की कमी भी हो सकती है और भोजन करके शीघ्र किसी आवश्यक काम में जाने के लिये घोड़े की भी आवश्यकता पड़ सकती है। अत यहा पर वाक्यार्थ बोध के लिये वक्ता का 'तात्पर्य' जानना अनिवार्य है। साधारण मनुष्यों के वाक्यों को प्रकरण के अनुसार समझा जा सकता है। परन्तु वैदिक मंत्रों का समझने के लिये मीमांसा के नियमों की सहायता लेनी पड़ती है।

नैयायिक ज्ञान के प्रामाण्य के विषय में परत प्रामाण्यवादी हैं। अर्थात उनके अनुसार प्रमाण स्वय अपने प्रामाण्य का निर्णय नहीं करता बल्कि अपने प्रामाण्य के लिये अन्य प्रमाण पर निर्भर रहता है। उदाहरण के लिये यदि हमे दूर से कहीं जलाशय दिखलाई पड़ता है तो हम जल लाने को चल पड़ते हैं। परन्तु यह ज्ञान प्रामाणिक तभी होगा जब कि वहा जाकर हमे जल मिले। न्याय के विरुद्ध मीमांसा दर्शन इस विषय में 'स्वत प्रामाण्यवादी' है। अत दोनों में परस्पर काफी तर्क वितर्क हुआ है। इस तर्क वितर्क का वर्णन मीमांसा दर्शन के विवरण के प्रसंग में किया गया है।

न्याय परत प्रामाण्यवादी है

कार्यकारण सम्बन्ध

न्याय दर्शन के अनुसार कारण का कार्य से 'अन्यथा सिद्ध नियत पूर्ववृत्ति' का सम्बन्ध है।[1] इस प्रकार कारण की तीन विशेषताएँ हैं— १ वह कार्य से पहले होना चाहिये (पूर्ववृत्ति)। २ वह अनिवार्य नियत रूप से कार्य से पूर्व होना चाहिये (नियत पूर्व वृत्ति)। ३ वह निरपेक्ष रूप से कार्य से पूर्व होना चाहिये (अन्यथा सिद्ध)। कार्य को अपने स्वय के पहले अभाव का प्रतियोगी (प्रागभाव प्रतियोगी) कहा गया है। उसके होने पर उसका अभाव नष्ट हो जाता है। अपने होने के पहले उसका नितान्त अभाव था। उत्पत्ति नवीन सृष्टि है।

कारण और कार्य

इस प्रकार कारण और कार्य में नित्य सम्बन्ध मानकर भी नैयायिक उन्हें एक दूसरे से सर्वथा भिन्न मानते हैं। कार्य और कारण में 'अत्यन्त भेद' है। कार्य कारण से सर्वथा भिन्न है और किसी भी रूप में कारण में नहीं रहता। उत्पन्न होने के पूर्व कार्य का 'प्रागाभाव' कारण में है। नाश होने के पश्चात उसका 'ध्वंसाभाव'

असत्कार्यवाद

१ अन्यथा सिद्धत्वे सति कार्यनियतपूर्व वृत्ति कारणम्।

हो जाता है। परन्तु फिर भी न्यायमत के अनुसार समवाय सम्बन्ध के द्वारा कार्य सदैव कारण में रहता है। अतः समवाय सम्बन्ध से कार्य अपने 'समवायि कारण' में ही उत्पन्न होता है अन्यत्र नहीं। समवाय सम्बन्ध नित्य है। यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि कारण से सर्वथा भिन्न कार्य जिसका उत्पत्ति के पूर्व नितान्त अभाव है और जो नाश के पश्चात् बिलकुल नहीं बचता अपने 'समवायि कारण' से नित्य सम्बन्ध के द्वारा कैसे सम्बद्ध है। न्याय के पास इसका कोई उत्तर नहीं है। अपनी दुर्बलता को छिपाने के लिए ये चार्वाक दार्शनिकों के समान 'स्वभाववाद' का सहारा लेते हैं। अतः न्याय के मतानुसार घड़ा जब कभी उत्पन्न होता है तब वह मिट्टी से ही उत्पन्न होता है यह घड़े और मिट्टी का स्वभाव है। इस प्रकार न्याय मतानुयायी 'असत्कार्यवादी' हैं। ये कार्य और कारण में 'अभेद-सहिष्णु अत्यन्त भेद' मानते हैं। असत्कार्यवाद और सत्कार्यवाद के मानने वालों में परस्पर खूब तर्क-वितर्क हुये हैं जिसका संक्षिप्त वर्णन हम सांख्य दर्शन के अध्याय में कर चुके हैं।

अन्यथासिद्ध

न्याय के अनुसार कार्य की उत्पत्ति के लिए जिसका नियत रूप से पहले रहना नितान्त आवश्यक हो जिसके न रहने से वह कार्य उत्पन्न ही न हो सके और जो अन्यथा सिद्ध न हो वही कारण है। अतः अन्यथासिद्ध वह कारण है जिसके न रहने पर भी कार्य हो सके। न्याय में पाँच प्रकार के अन्यथासिद्ध कारण माने हैं जो कि वास्तविक कारण नहीं हैं। (१) कारण के गुण जैसे कुम्हार के डण्डे का रंग आदि घड़े की उत्पत्ति से पूर्व उपस्थित होने पर भी उसका कारण नहीं है। (२) कारण का कारण अथवा दूर का कारण भी अनिवार्य नहीं है इस प्रकार कुम्हार का पिता घड़े का कारण नहीं है। (३) इसी प्रकार कारण के अन्य कार्य भी परस्पर कारण-कार्य रूप में सम्बन्धित नहीं हैं। कुम्हार के डण्डे से उत्पन्न शब्द घड़े का कारण नहीं है चाहे वह नियत रूप से पूर्वगामी क्यों न हो। रात के बाद दिन और दिन के बाद रात आती है परन्तु इनमें कोई कारण-कार्य सम्बन्ध नहीं है। (४) दिक् (Space) आदि नित्य द्रव्य आवश्यक पूर्ववृत्ति नहीं हैं। (५) कुम्हार के गधे के समान अनावश्यक वस्तुएँ सदैव उपस्थित रहते हुये भी कार्य (घड़े) की नियत पूर्व वृत्ति नहीं हैं।

इस प्रकार न्याय के अनुसार कारण कार्य का नियतपूर्व गामी तो है ही साथ ही अनन्यथासिद्ध भी है। वह कार्य की समस्त आवश्यक और निरपेक्ष पूर्व गामी वस्तुओं का योग है। ये वस्तुएँ 'कारण सामग्री' कहलाती हैं। विरोधी वस्तुओं के अभाव को 'प्रतिबन्धकाभाव' कहते हैं। कारण सामग्री की उपस्थिति के साथ साथ कार्य की उत्पत्ति होने के लिये प्रतिबन्धकाभाव भी होना चाहिये।

न्याय के अनुसार कारण तीन प्रकार के हैं— समवायि, असमवायि और निमित्त।

कारण के भेद

(१) **समवायि कारण**—वह है जिसमें समवाय-सम्बन्ध से कार्य उत्पन्न हो। जैसे सूत कपड़े का समवायि कारण है क्योंकि सूतों में समवाय-सम्बन्ध से कपड़ा उत्पन्न होता है। समवाय-सम्बन्ध से जब तक एक पदार्थ विद्यमान रहता है अर्थात् नष्ट नहीं होता तबतक वह दूसरे से आश्रित होकर ही स्थित रहता है। 'समवाय-सम्बन्ध' रखने वाले दोनों पदार्थ 'अयुत सिद्ध' कहलाते हैं। घड़ा और उसका रूप दोनों अयुतसिद्ध हैं क्योंकि घड़े के बिना उसका रूप नहीं रह सकता। रूप जब तक रहेगा तब तक घड़े का आश्रित होकर रहेगा। नैयायिकों ने इन पाँच जोड़ों को अयुतसिद्ध कहा है—(अ) अवयव और अवयवी, (आ) गुण और गुणी, (इ) क्रिया और क्रियावान, (ई) जाति और व्यक्ति, (उ) नित्य द्रव्य और विशेष। इनमें प्रत्येक जोड़े में परस्पर 'समवाय-सम्बन्ध है।

(२) **असमवायि कारण**—न्याय के अनुसार जो किसी कार्य के पहले नियत-रूप से रहे तथा अन्यथा सिद्ध न हो और जो कार्य के साथ साथ उस कार्य के समवायि कारण में समवाय-सम्बन्ध से रहे वह उस कार्य का असमवायि कारण है। जैसे सूतों में रहने वाला 'संयोग' उन सूतों से उत्पन्न 'कपड़ा रूपी कार्य' का 'असमवायि कारण' है। इस उदाहरण में कपड़े का समवायि-कारण सूत है और सूतों में परस्पर संयोग सम्बन्ध है। संयोग गुण है जो समवाय-सम्बन्ध से सूतों में है और सूतों के संयोग के बिना कपड़ा नहीं उत्पन्न हो सकता। अतः संयोग कपड़े का कारण भी है और उन्हीं सूतों में समवाय-सम्बन्ध से 'कपड़ा रूपी कार्य' भी साथ साथ वर्तमान है।

असमवायि कारण का एक दूसरा लक्षण भी बतलाया जाता है—जो किसी कार्य का कारण हो तथा कार्य के साथ साथ समवाय सम्बन्ध से उस कार्य के समवायि कारण में अथवा 'समवायि कारण के समवायि कारण' में समवाय-सम्बन्ध से रहे वही उस कार्य का असमवायि कारण है। जैसे 'सूत रूप' 'पटरूप' का असमवायि कारण है क्योंकि 'सूत का रूप' 'कपड़े के रूप' का कारण है और कपड़े के रूप के समवायि कारण अर्थात् कपड़े के समवायि कारण अर्थात् सूत में कपड़ा रूपी समवायि कारण के साथ साथ समवाय-सम्बन्ध से उपस्थिति है।

असमवायि कारण के नाश होने से कार्य का नाश हो जाता है। असमवायि कारण केवल 'गुण' और 'क्रिया' होती है।

(३) **निमित्त कारण**—जो कार्य के पूर्व नियत रूप से रहे और अन्यथा सिद्ध न हो उसे नैयायिकों ने 'निमित्तकारण' कहा है। यह समवायि कारण तथा असमवायि कारण दोनों से भिन्न है।

अभाव के समवायि अथवा असमवायि कारण नहीं होते क्योंकि अभाव किसी पदार्थ में समवाय-सम्बन्ध से नहीं रहता और न कोई पदार्थ ही अभाव में समवाय सम्बन्ध से रहता है। अत अभाव का केवल निमित्त कारण होता है। सब पदार्थों में ये तीनों कारण पाए जाते हैं। ईश्वर के सभी 'विशेष गुण' निमित्त कारण हैं। निमित्तकारण कार्य को उत्पन्न करके उससे पृथक् हो जाता है। इन तीनों कारणों में कार्य को उत्पन्न करने के लिए जो सबसे अधिक उपकारक हो उसे न्याय में करण कहा है।

तत्त्व विचार

प्रमाण का विचार करने के पश्चात् अब प्रमेय का विचार किया जायगा। न्याय के अनुसार आत्मा शरीर इन्द्रियाँ और उनके विषय बुद्धि मन प्रवृत्ति दोष प्रेत्यभाव फल दुःख और अपवर्ग ये बारह प्रमेय हैं। इनमें से कुछ ही प्रमेय जड़ जगत् में रहते हैं। जगत् के सम्बन्ध में न्याय के विचार वैशेषिक दर्शन के ही समान हैं। अत वैशेषिक दर्शन के प्रसंग में जगत् का विस्तार से विचार किया जाएगा।

प्रमेय

आत्मा

आत्मा के सम्बन्ध में न्याय वैशेषिक वस्तुवादी है। आत्मा द्रव्य है। बुद्धि या ज्ञान सुख-दुःख राग-द्वेष इच्छा कृति या प्रयत्न संस्कार संख्या परिमाण पृथक्त्व संयोग और विभाग आदि उसमें गुण के रूप में रहते हैं। ये जड़ जगत् के गुणों से भिन्न हैं क्योंकि इनका बाह्य इन्द्रियों से बोध नहीं हो सकता। ये एक ऐसे द्रव्य के गुण हैं जो जड़ द्रव्यों से भिन्न है। आत्मा नित्य है क्योंकि न उसकी उत्पत्ति होती है और न नाश। काल और दिक् दोनों ही दृष्टियों से बिल्कुल असीम होने के कारण आत्मा विभु है। मनुष्य के कायिक वाचिक तथा मानसिक बुरे और भले कार्यों से उत्पन्न बुरे और भले संस्कार आत्मा में रहते हैं और यह संस्कार मरने के समय जीवात्मा के साथ एक स्थूल शरीर को छोड़कर दूसरे में प्रवेश करते हैं। इनके ही प्रभाव से जीवात्मा भोग करता है।

आत्मा क्या है ?

नैयायिकों के अनुसार चैतन्य आत्मा का स्वभाव नहीं बल्कि एक आगन्तुक गुण है। आत्मा में चैतन्य का संचार तभी होता है जबकि उसका मन के साथ मन का इन्द्रियों के साथ और इन्द्रियों का बाह्य विषयों के साथ सम्पर्क होता है। इस सम्पर्क के अभाव में आत्मा में चैतन्य नहीं हो सकता। अत शरीर मुक्त आत्मा में चैतन्य भी नहीं रहता। अत नैयायिक वेदान्तियों

चैतन्य आगन्तुक गुण है

का यह मत नही मानत कि आत्मा स्वप्रकाश-चैतन्य है। नैयायिको के अनुसार कोई पदार्थ शुद्ध चैतन्त नही हो सकता। चैतन्य के लिये आश्रम द्रव्य का होना आवश्यक है। आत्मा ज्ञान नही बल्कि ज्ञाता है। वह अहकार का आश्रय और भोजन है। नैयायिक आत्मा को बौद्धो के समान विज्ञानो का सन्तान अथवा प्रवाह मात्र भी नही मानते क्योकि वैसा मानने पर स्मृति को नही समझाया जा सकता। आत्मा को मन भी नही माना जा सकता क्योकि तब सुख-दुख आदि मन के ही गुण होगे और मन के अणु तथा अप्रत्यक्ष होने के कारण ये भी अणु तथा अप्रत्यक्ष होगे परन्तु व्यवहार मे हमे सुख दुःख की प्रत्यक्ष अनुभूति होती है। इसी प्रकार आत्मा बाह्य इन्द्रियो से भी भिन्न है क्योकि कल्पना, स्मृति, विचार आदि मानसिक व्यापार बाह्य इन्द्रियो के कार्य नही है। शरीर आत्मा नही है क्योकि उसकी अपनी चेतना या ज्ञान नहीं है। अत नैयायिक चार्वाक मत का भी खडन करते हैं।

आत्मा का ज्ञान

आत्मा का ज्ञान कैसे होता है? इस विषय मे न्यायदर्शन मे विशेषत दो मत मिलते हैं। नव्य न्याय के अनुसार मन के साथ आत्मा का सयोग होने पर 'मै हूँ' इस प्रकार का एक मानस प्रत्यक्ष होता है और इस मानस प्रत्यक्ष से आत्मा का साक्षात ज्ञान होता है। परन्तु कुछ अन्य नैयायिको के अनुसार आत्मा को प्रत्यक्ष विषय के रूप मे नही जाना जा सकता। आत्मा को ज्ञाता, भोक्ता अथवा कर्ता के रूप मे ही जाना जाता है। आत्मा का ज्ञान किसी न किसी गुण के द्वारा होता है। बुद्धि, सुख, दुःख या प्रयत्न आदि प्रत्यक्ष-गुण-विशिष्ट रूप मे ही आत्मा को जाना जा सकता है। अपनी आत्मा का प्रत्यक्ष स्वय किया जा सकता है परन्तु दूसरो की आत्माओ को बुद्धि-परिचालन-कार्यों से अनुमान लगाकर जाना जा सकता है क्योंकि इन कार्यों का कारण शरीर नही हो सकता।

आत्मा के अस्तित्व के प्रमाण

इस प्रकार इस दूसरे मत के अनुसार इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुख और बुद्धि आदि प्रत्यक्ष गुणो का अस्तित्व ही आत्मा के अस्तित्व का प्रमाण है क्योकि यह सब आत्मा के गुण है और इनको शरीर, इन्द्रियो अथवा मन आदि के गुण मानकर नही समझाया जा सकता। इच्छा तभी हो सकती है जबकि कोई ऐसा स्थायी आत्मा हो जिसने अतीत मे वस्तुओ से सुख प्राप्त किया हो और जो वर्तमान वस्तुओ को अतीत की वस्तुओ के समान समझ कर उनसे सुख पाने की इच्छा रखता हो। इस प्रकार सुख दुःख की अतीत स्मृति के आधार पर ही समझाया जा सकता है, अत उनकी उपस्थिति आत्मा के अस्तित्व का प्रमाण है। इसी प्रकार द्वेष और प्रयत्न भी स्थायी आत्मा के बिना नही हो सकते। बुद्धि या ज्ञान भी आत्मा का अस्तित्व सिद्ध करता है। सबसे पहले आत्मा मे किसी

वस्तु को जानने की इच्छा होती है। तब आत्मा उस पर बुद्धि के द्वारा विचार करता है और अन्त में उस विषय का ज्ञान प्राप्त कर लेता है।

अपवर्ग अथवा मोक्ष

नैयायिक मोक्ष को अपवर्ग कहते हैं। अपवर्ग का अर्थ है जीवात्मा के इक्कीस प्रकार के दुःख तथा उन दुःखों के कारणों की आत्यन्तिक निवृत्ति। ये इक्कीस प्रकार के दुःख शरीर, मनस् को लेकर छः इन्द्रियाँ तथा उन इन्द्रियों के छः रूप रस विषय और उनके छः ज्ञान, रस ज्ञान आदि छः ज्ञान तथा सुख और दुःख इन इक्कीसों से उत्पन्न होता है। अतः मोक्ष दुःख के पूर्ण निरोध की अवस्था है। इसमें आत्मा शरीर और इन्द्रियों के बन्धनों से मुक्त हो जाता है क्योंकि उनको छोड़े बिना दुःखों से छुटकारा नहीं हो सकता। दुःखों का यह नाश अल्पकालिक नहीं बल्कि सदा के लिये है। अपवर्ग आत्मा की वह अवस्था है जिसे धर्म ग्रन्थों में 'अभयम्, अजरम्, अमृत्युपदम्' आदि कहा गया है। यहाँ यह ध्यान रखने की बात है कि शरीर से मुक्त हो जाने पर आत्मा के दुःखों का ही नहीं बल्कि सुखों का भी अन्त हो जाता है। अतः मुक्त आत्मा सुख दुःख से परे निराकार अनुभूतिहीन बिल्कुल अचेतन हो जाता है।

अपवर्ग क्या है ?

गौतम के अनुसार मिथ्या ज्ञान के नाश होने से राग द्वेष आदि दोषों का नाश हो जाता है पश्चात् प्रवृत्ति नहीं होती फिर जन्म ही नहीं लेना पड़ता और जन्म न होने से दुःख का नाश होने से मुक्ति मिलती है। मिथ्या ज्ञान के नाश के लिए तत्त्व ज्ञान की आवश्यकता है। तत्त्व ज्ञान न्याय शास्त्र के बारह प्रमेयों को जानने से होता है। परन्तु इन बारह प्रमेयों के यथार्थ ज्ञान के लिये 'संशय' से लेकर निग्रह स्थान पर्यन्त चौदह पदार्थों और प्रमाणों का भी ज्ञान आवश्यक है। ये चौदह पदार्थ निम्न लिखित हैं—(१) संशय (२) प्रयोजन (३) दृष्टान्त (४) सिद्धान्त (५) अवयव (६) तर्क (७) निर्णय (८) वाद (९) जल्प (१०) वितण्डा (११) हेत्वाभास (१२) छल (१३) जाति और (१४) निग्रह स्थान। न्याय सूत्र के अनुसार पिछले जन्मों के कर्म जन्य संस्कारों या संचित कर्मों के ज्ञान को योगाभ्यास के प्रभाव से प्राप्त करके उन कर्मों के भोगने योग्य भिन्न-भिन्न शरीरों को 'कायव्यूह' के द्वारा उत्पन्न करके कर्मों के नाश से दीनता को छोड़कर, सभी भोगों को भोग लेने के बाद पूर्व कर्मों का नाश हो जाने से भविष्य में होने वाले शरीरों के अभाव में जब वर्तमान शरीर का नाश होता है तभी इक्कीस दुःखों की आत्यन्तिकी निवृत्ति होती है और साधक मुक्त हो जाता है। इस प्रकार

अपवर्ग पाने के उपाय

न्याय ने अपवर्ग प्राप्त करने के लिये योगाभ्यास पर बड़ा जोर दिया है। शास्त्रो के श्रवण से साधक ससार से विरक्त होकर मोक्ष की इच्छा करता है। फिर आत्मा पर मनन करने से उसका आत्मविषयक ज्ञान सुदृढ होता है। अष्टाग योग का अभ्यास करके ध्यान तथा समाधि मे पूर्ण परिपाक को प्राप्त करके साधक आत्मा का साक्षात्कार करता है। इसके बाद निष्काम कर्म करने से उसके कर्म जन्म सस्कार नही उत्पन्न होते अर्थात् कर्म सचित नही होते और इसलिये मुक्त आत्मा का पुनर्जन्म नही होता। इससे शरीर के बन्धनो के साथ साथ दुःख भी छूट जाते है। यही अपवर्ग है।

ईश्वर

ईश्वर क्या है ?

ईश्वर जगत का स्रष्टा, पालक तथा सहारक है। वह जगत का उपादान नही बल्कि निमित्त कारण है। वह जीवात्माओ के कर्मो का प्रयोजक कारण भी है। उसी की प्रेरणा से जीवो के सभी कर्म होते है। जैसे कोई बुद्धिमान और दयालु पिता अपने पुत्र को उसकी मेधा, योग्यता और उपार्जित गुणो के अनुसार कार्य करने को प्रेरित करता है वैसे ही ईश्वर भी जीवो के अदृष्ट (अतीत सस्कार) के अनुसार उन्हे कर्म करने तथा उसके अनुसार फल पाने को प्रेरित करता है। अत ईश्वर जीवों के कर्मो का प्रयोजक-कर्त्ता है। वह मनुष्य तथा अन्य जीवो का धर्म व्यवस्थापक, कर्म-फल-दाता और सुख-दुःखो का निर्णायक है। वह विश्व कर्मा है। वह शून्य से नही बल्कि अपने साथ रहने वाली नित्य सत्ताओ परमाणुओ, दिक्, काल, आकाश, मन तथा आत्माओ से जगत की सृष्टि करता है। उसी इच्छा से जगत स्थित रहता है। अत वह जगत का पोषक भी है धार्मिक प्रयोजनो के लिये जगत के सहार की आवश्यकता होने पर वह अपनी विध्वसक शक्तियो द्वारा जगत का सहार करता है। अत वह जगत का सहारक भी है। दिक्, काल आदि द्रव्यो का ईश्वर के साथ शरीर और आत्मा का सम्बन्ध है। अत वे उसे सीमित नही करते। मनुष्य के पाप और पुण्य के अनुसार चलने पर भी वह सर्व शक्तिमान है। सभी वस्तुओ और घटनाओं का यथार्थ ज्ञान होने से वह सर्वज्ञ है। अपने नित्य ज्ञान से वह ससार के सभी विषयो का अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त कर लेता है। वह नित्य-ज्ञान-युक्त है अर्थात् वह ज्ञान का आश्रय है स्वय ज्ञान नही है। उसमे आधिपत्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान तथा वैराग्य, ये षडैश्वर्य पूर्ण और अखड रूप से विद्यमान हैं।

ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने के लिये न्याय दर्शन के प्राय दस प्रमाणो मे से मुख्य निम्नलिखित है —

ईश्वर के लिये प्रमाण

(१) ईश्वर जगत की सावयव वस्तुओं का कर्त्ता है—जगत में दो प्रकार की वस्तुएँ हैं सावयव और निरवयव। दिक् काल आकाश आत्मा मन और क्षिति जल अग्नि तथा वायु के परमाणु निरवयव तथा नित्य हैं अतः उनके सृष्टा का प्रश्न नहीं उठता। परन्तु इनके अतिरिक्त वस्तुएँ सावयव हैं और न अणु हैं न विभु। अतः उनका कुछ न कुछ कारण अवश्य है। किसी बुद्धिमान कर्त्ता के सचालन के बिना इनके उपादान कारणों से यह रूप अथवा आकार नहीं आ सकता जो इनमें मिलता है। इस कर्त्ता में साधन का ज्ञान लक्ष्य पूर्ति की इच्छा और प्रयत्न की शक्ति (ज्ञान-चिकीर्षा कृति) होना आवश्यक है। यह सर्वज्ञ भी होना चाहिये अन्यथा उसे परमाणु जैसी सूक्ष्म सत्ताओं का कैसे ज्ञान होगा। इस प्रकार कर्त्ता के ये समस्त गुण ईश्वर में ही मिलते हैं। अतः जगत के कर्त्ता के रूप में ईश्वर का अस्तित्व असंदिग्ध है।

(२) भाग्य-भेद के कारण अदृष्ट का अधिष्ठाता ईश्वर है—जगत में सब प्राणियों का भाग्य भिन्न भिन्न है। कोई अमीर घर में जन्म लेता है कोई गरीब घर में। कोई मेहनत करके भी पेट भर खाना नहीं जुटा पाता। किसी को घर बैठे हजार मिल जाते हैं। कुछ मूर्ख हैं कुछ बुद्धिमान। नैयायिकों के अनुसार जीवों का यह भाग्य भेद उनके अदृष्ट के कारण है। अदृष्ट अच्छे या बुरे कर्मों से उत्पन्न पुण्यों या पापों का भंडार है। अच्छे कर्म हमारी आत्माओं में पुण्य उत्पन्न करते हैं और बुरे कर्म पाप उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार अदृष्ट इस जन्म और पूर्व जन्म के अच्छे बुरे कर्मों का भंडार है। अच्छे कर्मों के अच्छे और बुरे कर्मों के बुरे फल होते हैं। अतः अदृष्ट के अनुसार मनुष्यों को इस जन्म में तथा अगले जन्म में भी सुख दुःख मिलता है। परन्तु अदृष्ट अचेतन है अतः वह स्वतः अदृष्ट कर्मों और उनके फलों में व्यवस्था नहीं उत्पन्न कर सकता। उसके लिये एक बुद्धिमान संचालक की आवश्यकता है। जीवात्मा अदृष्ट का संचालक नहीं हो सकता क्योंकि अपनी अदृष्ट के सम्बन्ध में वह कुछ नहीं जानता और अदृष्ट का काम आत्मा की इच्छा के विरुद्ध भी हो सकता है। अतः नैयायिकों के अनुसार अदृष्ट का संचालक नित्य सर्व शक्तिमान और सर्वज्ञ परमात्मा ही हो सकता है। इस प्रकार से भाग्य भेद अदृष्ट और अदृष्ट ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करता है।

(३) धर्म ग्रन्थों की प्रामाणिकता का कारण ईश्वर है—वेदों की प्रामाणिकता भी ईश्वर के अस्तित्व का प्रमाण है। वेद प्रामाणिक हैं अतः उनका कर्त्ता ईश्वर भी प्रामाणिक है। जैसे किसी विज्ञान के कुछ सत्यों को जान कर उसको प्रामाणिक माना जा सकता है उसी प्रकार वेद के लौकिक विधानों को जान कर अलौकिक

विधान सहित सम्पूर्ण वेद का प्रामाणिक मानना चाहिये। वेदों की प्रामाणिकता उसके रचयिता पर निर्भर है। वेदों का कर्ता जीव नहीं हो सकता क्योंकि जीव उनके अलौकिक और अतीन्द्रिय विषयों को नहीं जान सकता। वेदों का कर्ता तो वही हो सकता है जो भूत, वर्तमान और भविष्य, मध्य-परिणामी, विभु, और अणु, इन्द्रियगम्य और अतीन्द्रिय सभी विषयों का अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त कर सकता हो। अत वेदों का कर्ता ईश्वर है और उसी से वेदों की प्रामाणिकता है। जैसे विज्ञानों की प्रामाणिकता उनके प्रवर्तकों पर निर्भर है उसी प्रकार वेदों की प्रामाणिकता ईश्वर पर निर्भर है।

(४) **आप्त वचन भी ईश्वर को प्रमाणित करते हैं**—ईश्वर की प्रामाणिकता का चौथा प्रमाण श्रुति है। वेद, उपनिषद, गीता सभी मे ईश्वर के अस्तित्व को माना गया है। श्रुति ऋषि महात्माओ के साक्षात अनुभव का भडार है। ईश्वर का अस्तित्व तर्क मे नही बल्कि अनुभव मे ही सिद्ध किया जा सकता है। अत जिन्हें व्यक्तिगत रूप मे अनुभव नही हो पाता उन्हें आप्त वचन अथवा श्रुति पर ही निर्भर रहना चाहिये। कुसुमाञ्जलि के अनुसार जैसे वैज्ञानिक नियम की सत्यता के लिये वैज्ञानिकारण और उनके विज्ञान ही प्रमाण हैं उसी प्रकार ईश्वर-सिद्धि के लिये श्रुति भी प्रमाण है।

ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिये उदयन ने निम्नलिखित श्लोक मे तर्क उपस्थित किये हैं —

उदयन के तर्क **कार्यायोजन धृत्यादे पदात प्रत्ययत श्रुते ।**
वाक्यात् सख्याविशेषाच्च साध्यो विश्वविदव्यय ।[1]

(१) **कार्यात**—जगत कार्य है अत उसका एक निमित्त कारण भी होगा। यह बुद्धिमान कारण ही ईश्वर है।

(२) **आयोजनात**—परमाणु निष्क्रिय है अत उनके आवश्यक सयोग के लिये ईश्वर के द्वारा उन्हें गति मिलना आवश्यक है। ईश्वर के बिना अदृष्ट परमाणुओ मे गति का सचार नही कर सकता।

(३) **धृत्यादे**—जगत को धारण और नाश करने वाला ईश्वर है। उसी के सकल्प मे सृष्टि स्थिति और प्रलय होते हैं।

(४) **पदात**—पदो मे अपने विषयो का अर्थ करने की शक्ति ईश्वर से आती है। प्रत्येक शब्द किसी विषय अथवा वस्तु का प्रतीक है।

(५) **प्रत्ययत**—ईश्वर प्रामाणिक वेदो का रचयिता है।

(६) **श्रुते**—श्रुति ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करती है।

---

१ न्याय कुसुमाञ्जलि ५ । १

(७) वाक्यात्—वैदिक वचनों मे नैतिक नियम तथा निषेध बतलाए गये है। ईश्वर ही नैतिक वाक्यो का रचयिता है। वैदिक नियम दैवी नियम है।

(८) संख्या विशेषात्—न्याय वैशेषिक के अनुसार 'द्व्यणुक' दो अणुओं के सूक्ष्म द्रव्य से नही बल्कि उनकी संख्या दो से बनता है। संख्या एक तो प्रत्यक्ष मालूम पड़ती है परन्तु अन्य सब मानसिक प्रत्यय है। सृष्टि के समय आत्माएँ, अणु अदृष्ट दिक् काल मानस आदि सभी अचेतन रहते है। अतः संख्या ईश्वर की ही अपेक्षा बुद्धि पर निर्भर रहेगी और उसी से सृष्टि होगी। अतः ईश्वर का अस्तित्व मानना आवश्यक है।

(९) अदृष्टात्—हम अपने कर्मानुसार फल भोगते है। कर्मो से पाप पुण्य होते है और पाप पुण्य का भंडार अदृष्ट कहलाता है। परन्तु यह अदृष्ट अचेतन है। अतः अदृष्ट के अनुसार कर्म फल होने के लिये ईश्वर की आवश्यकता है।

ईश्वर विरोधी युक्तियाँ और उनके उत्तर

(१) ईश्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध मे पीछे दी हुई तीसरी और चौथी युक्ति मे अन्योन्याश्रय दोष का आक्षेप किया जा सकता है। सर्व दर्शन संग्रह के अनुसार यहाँ अन्योन्याश्रय दोष नही है क्योंकि यह दोष तभी होता है जब दो विषय एक ही दृष्टि से परस्पर निर्भर हो जबकि यहाँ वे दो भिन्न भिन्न दृष्टियों से एक दूसरे पर निर्भर है। अस्तित्व की दृष्टि से वेद ईश्वर पर निर्भर है क्योंकि ईश्वर ने वेद बनाये। मनुष्य के ज्ञान की दृष्टि से ईश्वर वेद पर निर्भर है क्योंकि उससे ही मनुष्य को ईश्वर का ज्ञान होता है।

(२) न्याय के ईश्वरवाद के विरुद्ध दूसरा आक्षेप यह है कि यदि ईश्वर संसार का कर्ता है तो वह अवश्य शरीरी होगा क्योंकि शरीर के बिना कोई कर्म नही किया जा सकता। नैयायिक इसका उत्तर इस प्रकार देते है। ईश्वर का अस्तित्व या तो श्रुति से सिद्ध हो गया है या नही। यदि सिद्ध हो गया है तो फिर यह आक्षेप उठाना व्यर्थ है। यदि सिद्ध नही हुआ तो यह आक्षेप उठाने की क्या आवश्यकता है।

न्याय के ईश्वरवाद के विरुद्ध तीसरा आक्षेप सृष्टि रचना मे ईश्वर के प्रयोजन को लेकर है। सृष्टि मे ईश्वर का अपना प्रयोजन नही है क्योंकि वह पूर्ण है। यह प्रयोजन दूसरो के लिये भी नही हो सकता क्योंकि दूसरो के लिये प्रयत्न करने वाला भी बुद्धिमान नही समझा जा सकता। यदि यह प्रयोजन करुणा है तो संसार मे दुखी क्यो है। अतः ईश्वर को संसार का कर्ता नही माना जा सकता है। इसके उत्तर मे नैयायिको का कहना है कि ईश्वर ने संसार को करुणावश बनाया है जीवों के अदृष्ट के कारण सृष्टि होने से उसमे सुख दुख दोनो का होना स्वाभाविक है। परन्तु ईश्वर सृष्टि के अधीन

विधान सहित सम्पूर्ण वेद को प्रामाणिक मानना चाहिये। वेदों की प्रामाणिकता उसके रचयिता पर निर्भर है। वेदों का कर्ता जीव नहीं हो सकता क्योंकि जीव उनके अलौकिक और अतीन्द्रिय विषयों को नहीं जान सकता। वेदों का कर्ता तो वही हो सकता है जो भूत, वर्तमान और भविष्य, मध्य-परिणामों, विभु, और अणु, इन्द्रियगम्य और अतीन्द्रिय सभी विषयों का अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त कर सकता हो। अतः वेदों का कर्ता ईश्वर है और उसी से वेदों की प्रामाणिकता है। जैसे विज्ञानों की प्रामाणिकता उनके प्रवर्तकों पर निर्भर है उसी प्रकार वेदों की प्रामाणिकता ईश्वर पर निर्भर है।

(४) **आप्त वचन भी ईश्वर को प्रमाणित करते हैं**—ईश्वर की प्रामाणिकता का चौथा प्रमाण श्रुति है। वेद, उपनिषद, गीता सभी में ईश्वर के अस्तित्व को माना गया है। श्रुति ऋषि महात्माओं के साक्षात् अनुभव का भंडार है। ईश्वर का अस्तित्व तर्क में नहीं बल्कि अनुभव में ही सिद्ध किया जा सकता है। अतः जिन्हें व्यक्तिगत रूप में अनुभव नहीं हो पाता उन्हें आप्त वचन अथवा श्रुति पर ही निर्भर रहना चाहिये। कुसुमाञ्जलि के अनुसार जैसे वैज्ञानिक नियम की सत्यता के लिये वैज्ञानिकारण और उनके विज्ञान ही प्रमाण हैं उसी प्रकार ईश्वर-सिद्धि के लिये श्रुति भी प्रमाण हैं।

ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिये उदयन ने निम्नलिखित श्लोक में नौ तर्क उपस्थित किये हैं —

उदयन के तर्क **कार्यायोजन धृत्यादे पदात् प्रत्ययतः श्रुतेः।**
वाक्यात् संख्याविशेषाच्च साध्यो विश्वविदव्ययः।[1]

(१) **कार्यात्**—जगत कार्य है अतः उसका एक निमित्त कारण भी होगा। यह बुद्धिमान कारण ही ईश्वर है।

(२) **आयोजनात्**—परमाणु निष्क्रिय है अतः उनके आवश्यक संयोग के लिये ईश्वर के द्वारा उन्हें गति मिलना आवश्यक है। ईश्वर के बिना अदृष्ट परमाणुओं में गति का संचार नहीं कर सकता।

(३) **धृत्यादे**—जगत को धारण और नाश करने वाला ईश्वर है। उसी के संकल्प से सृष्टि, स्थिति और प्रलय होते हैं।

(४) **पदात्**—पदों में अपने विषयों का अर्थ करने की शक्ति ईश्वर से आती है। प्रत्येक शब्द किसी विषय अथवा वस्तु का प्रतीक है।

(५) **प्रत्ययतः**—ईश्वर प्रामाणिक वेदों का रचयिता है।

(६) **श्रुते**—श्रुति ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करती है।

---

१ न्याय कुसुमाञ्जलि V १

(७) वाक्यात्—वैदिक वचनों में नैतिक नियम तथा निषेध बतलाए गये हैं। ईश्वर ही नैतिक वाक्यों का रचयिता है। वैदिक नियम दैवी नियम हैं।

( ) संख्या विशेषात्—न्याय वैशेषिक के अनुसार 'द्व्यणुक' दो अणुओं के सूक्ष्म द्रव्य से नहीं बल्कि उनकी संख्या 'दो' से बनता है। संख्या एक तो प्रत्यक्ष मालूम पड़ती है परन्तु अन्य सब मानसिक प्रत्यय हैं। सृष्टि के समय आत्माएँ, अणु, अदृष्ट दिक काल मानस आदि सभी अचेतन रहते हैं। अतः संख्या ईश्वर की ही अपेक्षा बुद्धि पर निर्भर रहेगी और उसी से सृष्टि होगी। अतः ईश्वर का अस्तित्व मानना आवश्यक है।

(९) अदृष्टात्—हम अपने कर्मानुसार फल भोगते हैं। कर्मों से पाप पुण्य होते हैं और पाप पुण्य का भंडार अदृष्ट कहलाता है। परन्तु यह अदृष्ट अचेतन है। अतः अदृष्ट के अनुसार कर्म फल होने के लिये ईश्वर की आवश्यकता है।

ईश्वर विरोधी युक्तियाँ और उनके उत्तर

(१) ईश्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध में पीछे दी हुई तीसरी और चौथी युक्ति में अन्योन्याश्रय दोष का आक्षेप किया जा सकता है। सर्व दर्शन संग्रह के अनुसार यहाँ अन्योन्याश्रय दोष नहीं है क्योंकि यह दोष तभी होता है जब दो विषय एक ही दृष्टि से परस्पर निर्भर हों जबकि यहाँ वे दो भिन्न भिन्न दृष्टियों से एक दूसरे पर निर्भर हैं। अस्तित्व की दृष्टि से वेद ईश्वर पर निर्भर है क्योंकि ईश्वर ने वेद बनाये। मनुष्य के ज्ञान की दृष्टि से ईश्वर वेद पर निर्भर है क्योंकि उससे ही मनुष्य को ईश्वर का ज्ञान होता है।

(२) न्याय के ईश्वरवाद के विरुद्ध दूसरा आक्षेप यह है कि यदि ईश्वर संसार का कर्ता है तो वह अवश्य शरीरी होगा क्योंकि शरीर के बिना कोई कर्म नहीं किया जा सकता। नैयायिक इसका उत्तर इस प्रकार देते हैं। ईश्वर का अस्तित्व या तो युक्ति से सिद्ध हो गया है या नहीं। यदि सिद्ध हो गया है तो फिर यह आक्षेप उठाना व्यर्थ है। यदि सिद्ध नहीं हुआ तो यह आक्षेप उठाने की क्या आवश्यकता है।

न्याय के ईश्वरवाद के विरुद्ध तीसरा आक्षेप सृष्टि रचना में ईश्वर के प्रयोजन को लेकर है। सृष्टि में ईश्वर का अपना प्रयोजन नहीं है क्योंकि वह पूर्ण है। वह प्रयोजन दूसरों के लिये भी नहीं हो सकता क्योंकि दूसरों के लिये प्रयत्न करने वाला भी बुद्धिमान नहीं समझा जा सकता। यदि यह प्रयोजन करुणा है तो संसार में दुःखी जन क्यों हैं। अतः ईश्वर को संसार का कर्ता नहीं माना जा सकता है। इसके उत्तर में नैयायिकों का कहना है कि ईश्वर ने संसार को करुणावश बनाया है जीवों के अदृष्ट के कारण सृष्टि होने से उसमें सुख दुःख दोनों का होना स्वाभाविक है। परन्तु ईश्वर सृष्टि के अधीन

नहीं है। जैसे मनुष्य का शरीर उसको परतन्त्र नहीं बनाता बल्कि श्रम करने और लक्ष्य प्राप्त करने में उसका सहायक होता है वैसे ही संसार ईश्वर को परतन्त्र नहीं बनाता बल्कि उसके प्रयोजन की पूर्ति में सहायक होता है।

आलोचना

भारतीय दर्शन में न्याय का मुख्य योगदान उसका तर्क शास्त्र, ज्ञान शास्त्र और विवेचन प्रणाली है और इन क्षेत्रों में उसने मूल्यवान विचार उपस्थित किये हैं। न्याय भारतीय दर्शन पर इस आक्षेप का मुँह तोड़ जवाब है कि आप्त वचनों पर अवलम्बित होने के कारण भारतीय दर्शन युक्ति प्रधान नहीं है।

परन्तु तत्त्व विचार के क्षेत्र में न्याय के विचार का स्तर नीचा है। आत्मा के सम्बन्ध में न्याय का विचार सर्वथा युक्तिहीन है। उसने चैतन्य को आत्मा का आकस्मिक गुण माना है। दार्शनिक दृष्टि से इस मत का वेदान्त में पर्याप्त खंडन हो चुका है परन्तु अपनी अनुभूति के आधार पर भी कोई भी चैतन्य को आत्मा का आकस्मिक गुण नहीं मानेगा।

आत्मा का विचार असमीचीन होने के कारण ही न्याय में अपवर्ग का विचार बड़े नीचे स्तर पर है। मुक्त जीव में भी सांसारिक-दशा 'स्वरूप योग्यता' के रूप में रहती है। फिर शरीर आदि सामग्री मिल जाने पर मुक्त और संसारी में क्या भेद रह जायेगा। यदि मुक्ति का अर्थ चैतन्य और आनन्द सहित समस्त गुणों का निषेध है तब मुक्तात्मा एक शिला के समान है इसी का उपहास करते हुए श्रीहर्ष ने कहा है

मुक्तये यः शिलात्वाय शास्त्रमूचे सचेतसाम्।
गोतमं तमवेक्ष्यैव यथा वित्थ तथैव सः॥

न्याय वैशेषिक का ईश्वर सम्बन्धी मत भी समीचीन नहीं है। शंकर ने इस मत की आलोचना की है। न्याय वैशेषिक और शंकर के ईश्वर सम्बन्धी विचारों की तुलना इस पुस्तक में शंकर वेदान्त के प्रसंग में की गई है। न्याय का ईश्वरवाद (Theism) अविकसित और अपूर्ण है।

द्वादश अध्याय

वैशेषिक दर्शन

नामकरण की व्याख्या

वैशेषिक दर्शन में 'विशेष' नामक पदार्थ की विशद व्याख्या की गई है अतः इसका नाम वैशेषिक पड़ा। इस दर्शन के प्रवर्तक कणाद थे। कणाद इतने त्यागी थे कि खेतों से चुने हुए अन्न कणों के सहारे जीवन यापन करते थे। अतः इनका नाम कणाद पड़ा। कण का अर्थ अणु अथवा 'विशेष' भी हो सकता है। अतः कणाद का अर्थ 'विशेष के दर्शन' पर रहने वाला भी हो सकता है। विद्वानों में एक कारिका प्रचलित है।

द्वित्वे च पाकजोत्पत्तौ विभागे च विभागजे।
यस्य न स्खलिता बुद्धिस्तं वै 'वैशेषिकं' विदुः॥

अतः द्वित्वोत्पत्ति पाकज विभागज विभाग आदि विषयों का विशेष रूप से प्रतिपादन करने के कारण भी इस दर्शन का नाम वैशेषिक पड़ा मालूम देता है। कणाद का वास्तविक नाम 'उलूक' था। अतः वैशेषिक दर्शन 'कणाद' अथवा 'औलूक्य' दर्शन भी कहलाता है।

ज्ञान विचार

न्याय के समान वैशेषिक दर्शन में भी 'बुद्धि' उपलब्धि' 'ज्ञान' तथा 'प्रत्यय' आदि समानार्थक शब्द माने गए हैं। बुद्धि के प्रधान रूप से दो भेद हैं—विद्या और अविद्या।

विद्या

विद्या चार प्रकार की है—प्रत्यक्ष अनुमान स्मृति तथा आर्ष। नैयायिक स्मृति तथा आर्ष को नहीं मानते। वैशेषिकों ने न्याय के 'शब्द' का 'आगम' को अनुमान में तथा उपमान को प्रत्यक्ष में मान लिया है। वैसे प्रत्यक्ष और अनुमान की व्याख्या के विषय में न्याय और वैशेषिक में मतभेद नहीं है। आर्ष ज्ञान प्रातिभज्ञान अर्थात प्रतिभा से उत्पन्न ज्ञान है। इसमें इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष की आवश्यकता नहीं है। भूत और भविष्य का प्रत्यक्ष के समान ज्ञान रखने वाले वैदिक ऋषियों में आर्ष ज्ञान था। कभी कभी यह विशुद्ध अन्तःकरण वाले व्यक्तियों में भी हो सकता है।

वैशेषिक मत में अविद्या भी ज्ञान के अन्तर्गत है। इस अविद्या को मिथ्या ज्ञान कहा गया है। अविद्या के चार भेद हैं—संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय तथा स्वप्न। 'संशय' और 'विपर्यय' का अर्थ वैशेषिक दर्शन में भी न्याय दर्शन के समान है। अध्यवसाय अनिश्चयात्मक ज्ञान को कहते हैं जैसे जिन्होंने कटहल कभी नहीं देखा उन्हें उसे देखकर शंका रहेगी कि यह क्या है। वैशेषिक के अनुसार स्वप्न में बाहर इन्द्रियाँ मन में लीन हो जाती हैं और मन 'मनोवाह-नाड़ी' के द्वारा 'पुरीतत्' नाड़ी में विश्राम करने चला जाता है। वहाँ पहुँचने से पूर्व, पिछले कर्मों के संस्कारों के कारण और वात, पित्त तथा कफ की विषमता के कारण उस समय मन को अदृष्ट के सहारे अनेक प्रकार के विषयों का प्रत्यक्ष होता है। इसको स्वप्नज्ञान कहते हैं।

अविद्या

पदार्थ विचार

जैसे न्याय दर्शन मुख्यतः 'प्रमाण' का विचार करता है, वैसे ही वैशेषिक दर्शन विशेषतः 'प्रमेय' का विवेचन करता है। वैशेषिक दर्शन के अनुसार जगत की समस्त वस्तुएँ सात पदार्थों में बाँटी जा सकती हैं। पदार्थ का अर्थ वह वस्तु है जिसका किसी 'पद' (शब्द) से बोध होता हो। अतः इन सातों पदार्थों में संसार की वे समस्त वस्तुएँ आ जाती हैं जिनका नामकरण संभव है। ये सातों पदार्थ ये हैं—(१) द्रव्य, (२) गुण, (३) कर्म, (४) सामान्य, (५) विशेष, (६) समवाय और (७) अभाव। इन सातों पदार्थों में दो प्रकार के पदार्थ हैं—भाव पदार्थ और अभाव पदार्थ। भाव पदार्थ वे हैं जिनकी सत्ता है अर्थात जो विद्यमान हैं। उपरोक्त सातों पदार्थों में पहले छः भाव पदार्थ हैं। वैशेषिक सूत्र में केवल इन्हीं का उल्लेख मिलता है। 'अभाव' नामक सातवाँ पदार्थ बाद के ग्रन्थकारों द्वारा जोड़ा हुआ है।

पदार्थ

(१) द्रव्य

वैशेषिक सूत्र के अनुसार द्रव्य गुण कर्म का आधार और अपने सावयव कार्यों का समवायी कारण है।[1] जैसे सूत से बने कपड़े में सूत कपड़े का समवायी कारण है। द्रव्य गुण कर्म से भिन्न होते हुए भी उनका आधार है। उनके बिना गुण अथवा कर्म नहीं रह सकते। द्रव्य नौ प्रकार के हैं—(१) पृथ्वी, (२) जल, (३) तेज, (४) वायु, (५) आकाश, (६) काल, (७) दिक्, (८) आत्मा और (९) मन। इनमें पहले

पंच भूत

१ क्रियागुणवत् समवायिकारण द्रव्यम्।

—वैशेषिक-सूत्र १ १ १५

पाँच 'पञ्चभूत' कहलाते हैं। इनमें से प्रत्येक में कोई न कोई ऐसा विशेष गुण है जिसका बाह्य इन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता है। पृथ्वी में गन्ध जल में रस तेज में रूप वायु में स्पर्श और आकाश में शब्द गुण है। इनका प्रत्यक्ष क्रमश: घ्राण रसना चक्षु, त्वचा और कान से होता है। ये इन्द्रियाँ भी क्रमश: पृथ्वी जल तेज वायु और आकाश से उत्पन्न मानी जाती हैं। आकाश को छोड़ कर शेष चारों भूत द्रव्य कारण रूप में नित्य और कार्य रूप में अनित्य हैं। इस प्रकार पृथ्वी जल तेज और वायु के परमाणु नित्य हैं क्योंकि ये परमाणु निरवयव और इसलिये अनादि तथा अनन्त होते हैं। परन्तु परमाणुओं के संयोग से बने सभी कार्य द्रव्य अनित्य हैं क्योंकि संयोगजन्य सावयव होने के कारण ये अवयव-विश्लेष या विनाश को प्राप्त हो सकते हैं। पाँचवा द्रव्य आकाश शब्द का आधार है। सीमित परिमाण तथा प्रकट रूप न होने के कारण आकाश का प्रत्यक्ष नहीं होता। शब्द के ज्ञान से ही उसका अनुमान लगाया जाता है क्योंकि प्रत्येक गुण का कोई न कोई आधार अवश्य होता है और शब्द पृथ्वी जल तेज तथा वायु में से किसी का भी गुण नहीं हो सकता। इसके दो कारण हैं। एक तो इन द्रव्यों के क्रमश: गन्ध रस रूप तथा स्पर्श गुण श्रवणगोचर नहीं होते और शब्द श्रवणगोचर होता है। दूसरे इन द्रव्यों से शून्य स्थान में भी शब्द का प्रादुर्भाव होता है। शब्द दिक्-काल मन और आत्मा का भी गुण नहीं हो सकता क्योंकि उसके अभाव में भी ये विद्यमान रहते हैं। अत: आकाश ही शब्द का आधार है। निरवयव होने के कारण आकाश एक और नित्य है। ऊपर, नीचे और चारों दिशाओं में उसके गुण शब्द के मालूम होने के कारण आकाश विभु अथवा सर्व व्यापी तथा असीम है।

दिक् और काल भी आकाश के समान अनाकार, एक नित्य और सर्व व्यापी हैं।

दिक् और काल

दिक् का अनुमान 'यहाँ' 'वहाँ' 'निकट' और 'दूर' आदि प्रत्ययों के ज्ञान के कारण होता है। इसी प्रकार भूत भविष्य वर्तमान प्राचीन और अर्वाचीन—इन प्रत्ययों के आधार पर काल का अनुमान लगाया जाता है। इस प्रकार आकाश दिक् और काल ये तीनों वास्तव में एक एक हैं परन्तु उपाधिभेद के कारण ये अनेक प्रतीत होते हैं और इनके अंश भी एक दूसरे से भिन्न जान पड़ते हैं।

आत्मा के विषय में वैशेषिक का मत न्याय मत के ही समान है। आत्मा नित्य

आत्मा

सर्वव्यापी और चैतन्य का आधार है। उसका ज्ञान मानस प्रत्यक्ष से होता है। भिन्न भिन्न शरीर में आत्मा भी भिन्न भिन्न है। अत: आत्मा अनेक हैं। जीवात्मा के अतिरिक्त आत्मा का दूसरा प्रकार परमात्मा है। परमात्मा एक है और जगत का कर्ता है।

मन के अस्तित्व का अनुमान इन दो बातों पर निर्भर है—(१) जैसे जगत के

मन

वाह्य पदार्थों के प्रत्यक्ष ज्ञान के लिये वाह्य इन्द्रियों की आवश्यकता पड़ती है उसी प्रकार ज्ञान, इच्छा, सुख, दुख आदि आभ्यन्तरिक पदार्थों के साक्षात्कार के लिये आभ्यन्तरिक इन्द्रिय की आवश्यकता है यही मन है। (२) इन्द्रिय के वाह्य विषय से संयुक्त होने पर भी मनोयोग के बिना वस्तु का ज्ञान नहीं होता। दूसरे पाचों इन्द्रियों के एक साथ विषयों से संयुक्त होने पर भी एक विशेष क्षण में एक ही विषय की अनुभूति होती है। अत इससे जहाँ मन का अस्तित्व सिद्ध होता है वहाँ यह भी सिद्ध होता है कि मन अणु तथा निरवयव है। यदि मन अणु न होता तो एक ही क्षण में उसके भिन्न भिन्न अवयवों का भिन्न इन्द्रियों से संयोग होकर सबके विषयों का एक साथ ज्ञान होता। परन्तु व्यवहार में ऐसा नही होता। अत मन निरवयव या अणुरूप है और प्रत्यक्ष का आभ्यन्तरिक साधन (इन्द्रिय) है। आत्मा इसी के द्वारा विषयों को ग्रहण करता है।

(२) गुण

वैशेषिक दर्शन के अनुसार गुण वह पदार्थ है जो द्रव्य में ही रहता है पर जिसमें और कोई गुण या कर्म नहीं रह सकता। गुण द्रव्य के बिना नहीं रह सकते इसीलिये ये गुण अर्थात् परतन्त्र या पर निर्भर कहलाते हैं। जैसा कि पहले बतलाया गया है द्रव्य ही कार्य का उपादान या समवायी कारण होता है। अत गुण केवल असमवायी कारण ही हो सकता है। वह गौण रूप से कार्य में सहायक होता है। सभी गुणों के द्रव्य पर आश्रित होने के कारण गुण का गुण नही हो सकता। गुण में कर्म अथवा गति भी नहीं होती। वह द्रव्य में निष्क्रिय होकर रहता है। इस प्रकार वह द्रव्य और कर्म दोनों से भिन्न है।

गुण के भेद

गुण चौबीस होते हैं—(१) रूप (२) रस (३) गन्ध (४) स्पर्श (५) शब्द (६) संख्या (७) परिमाण (८) पृथकत्व (९) संयोग (१०) विभाग (११) परत्व (१२) अपरत्व (१३) बुद्धि (१४) सुख (१५) दुख (१६) इच्छा (१७) द्वेष (१८) प्रयत्न (१९) गुरुत्व (२०) द्रव्यत्व (२१) स्नेह (२२) संस्कार (२३) धर्म (२४) अधर्म। इनगुणों के भी और भेद किए गए हैं जैसे रूप के भेद श्वेत (उजला), कृष्ण (काला), रक्त (लाल), पीत (पीला), नील (नीला), हरित (हरा) आदि। रस के भेद—मधुर (मीठा) अम्ल (खट्टा), लवण (नमकीन), कटु (कड़वा), तिक्त (तीता), कषाय (कसैला) आदि। शब्द के भेद—ध्वन्यात्मक या अस्फुट जैसे घंटी का शब्द और वर्णात्मक या स्फुट जैसे 'क' का उच्चारण। परिमाण के भेद—अणु (सबसे छोटा), ह्रस्व (छोटा), दीर्घ

(बड़ा) महत् (सबसे बड़ा)। परिमाण वह गुण है जिसके कारण छोटे बड़े का भेद दिखाई देता है। संख्या में एक से लेकर ऊपर की ओर अनन्त संख्यायें हैं। संख्या वह गुण है जिसके कारण एक दो तीन जैसे शब्दों का व्यवहार किया जाता है। पृथक्त्व के कारण एक वस्तु और दूसरी वस्तु में भेद दिखाई पड़ता है।[1]

संयोग और विभाग

संयोग दो पृथक रह सकने वाले द्रव्यों के सम्बन्ध का नाम है जैसे हाथ और कलम का सम्बन्ध। कारण कार्य का सम्बन्ध संयोग नहीं है क्योंकि इन का पृथक अस्तित्व सम्भव नहीं है। विभाग संयोग के अन्त या विच्छेद का नाम है जैसे कलम का हाथ से छूट जाना। वैशेषिक दर्शन में संयोग तीन प्रकार का माना गया है—

(१) अन्यतर कर्मज—जहाँ एक द्रव्य आकर दूसरे से मिलता है जैसे पेड़ से पत्ता टूटकर पृथ्वी पर गिरा। (२) उभय कर्मज—जहाँ दोनों द्रव्यों की क्रिया से संयोग होता है जैसे दो योद्धाओं का आपस में भिड़ जाना। (३) संयोगज—जहाँ एक संयोग से दूसरा संयोग होता है जैसे हाथ का कलम से और कलम का कागज से संयोग होने पर गौण रूप से हाथ और कागज में भी संयोग है। यह संयोगज संयोग है संयोग के इन भेदों के अनुसार ही विभाग के भी तीन भेद हैं—(१) अन्यतर कर्मज—जहाँ एक द्रव्य की क्रिया से संयोग का अन्त होता है जैसे पत्ते का वृक्ष से टूटना। (२) उभय कर्मज—जहाँ दोनों द्रव्य की क्रिया से द्रव्यों का विभाग होता है जैसे दोनों योद्धा एक दूसरे को छोड़कर अलग हो जाँय। (३) विभागज—जहाँ एक विभाग से दूसरा विभाग होता है जैसे कलम छोड़ देने पर हाथ का सम्बन्ध कागज से भी छूट जाता है।

---

१ निम्न छप्पय की सहायता से ये चौबीसों गुण आसानी से याद रखे जा सकते हैं—

आदि सुख दुख द्वेष इच्छा गन्ध, रस वर्ण
संयोग विभाग गुरु (गुरुत्व) द्रव (द्रवत्व) ही प्रमानिये।
संख्या अरु शब्द एव बुद्धि अरु प्रयतन
पृथक्त्व द्रव्यत्व स्नेह,संस्कार जानिये।
धर्म और अधर्म परिमाण स्पर्श नम्र
वैशेषिक गुण नाम चौबिस बखानिये॥

परत्व और अपरत्व के भी दो भेद है—कालिक और दैशिक। कालिक (काल के) परत्व का अर्थ प्राचीनत्व और अपरत्व का अर्थ नवीनत्व है। इसी प्रकार दैशिक (देश के) परत्व का अर्थ दूरत्व और अपरत्व का अर्थ निकटत्व हैं।

परत्व और अपरत्व

बुद्धि (ज्ञान) के भेदो का वर्णन न्याय दर्शन के प्रसग मे हो चुका है। सुख दुख, इच्छा और द्वेष को सभी जानते है। प्रयत्न के तीन भेद हैं—(१) प्रवृत्ति—किसी वस्तु की प्राप्ति का प्रयत्न। (२) निवृत्ति—किसी वस्तु से छुटकारे का प्रयत्न। (३) जीवन योनि—प्रासाधारण की क्रिया।

बुद्धि, सुख, दुख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न

जल आदि तरल पदार्थों के बहने का कारण उनका द्रव्यत्व गुण है। इसी प्रकार घी आदि पदार्थों मे पार्थिव कणो को आपस मे मिलाकर पिंड बना देने का गुण 'स्नेह' कहलाता है। सस्कार के तीन भेद है—(१)वेग—जिससे किसी वस्तु मे गति होती है (२) भावना—जिससे किसी विषय की स्मृति या प्रत्यभिज्ञा होती है (३) स्थितिस्थापकत्व—जिससे कोई पदार्थ विक्षोभित होने पर पुन अपनी पूर्व स्थिति मे आ जाता है जैसे रबड की गेंद। धर्म पुण्य हैं और उससे विहित कर्म उत्पन्न होते हैं तथा सुख की प्राप्ति होती है। अधर्म पाप है और उससे निषिद्ध कर्म उत्पन्न होते हैं तथा दुख प्राप्त होता है।

द्रवत्व, स्नेह, सस्कार, धर्म, अधर्म

वैसे तो इन गुणो के भेदों को लेने से गुण बहुत हो जायँगे परन्तु इन चौवीस गुणो मे मूल निष्क्रिय धर्मों (गुणों) को ही गिना गया है। शेष अवान्तर गुण इन्ही के भेद हैं और इनमे सम्मिलित हैं। अत ये चौबीस गुण मूल हैं और इन्ही के मिलने से अन्य यौगिक गुण बनते हैं।

गुणों के चोबीस होने का कारण

(३) कर्म

कर्म द्रव्य के मूल गति शील धर्मों का पारिभाषिक नाम है। द्रव्य का निष्क्रिय स्वरूप गुण और सक्रिय कर्म है। कर्म से द्रव्यो का सयोग और विभाग होता है। कर्म का गुण नही होता। गुण द्रव्य पर ही आश्रित होता है। कर्म सर्वव्यापी द्रव्यो मे नही हो सकता क्योकि उनमे स्थानान्तर नही हो सकता अत कर्मों का आधार मूर्त द्रव्य जैसे पृथ्वी जल, वायु, तेज और मन ही हो सकते है।

कर्म क्या है ?

कर्म के भेद

कर्म के पाँच भेद हैं—(१) उत्क्षेपण अर्थात् ऊपर फेंकना। इसमें कर्म के द्वारा ऊपरी प्रदेश से संयोग होता है जैसे पत्थर को ऊपर फेंकना। (२) अवक्षेपण—अर्थात् नीचे फेंकना। इसमें कर्म के द्वारा निचले प्रदेश के साथ संयोग होता है जैसे पेड़ से फल का गिरना। (३) आकुंचन—अर्थात् सिकुड़ना। यह वह कर्म है जिसमें शरीर से और भी निकटतर प्रदेश के साथ संयोग होता है जैसे हाथ मोड़ना। (४) प्रसारण—अर्थात् फैलाना। इस कर्म से शरीर से दूरवर्ती प्रदेश के साथ संयोग होता है जैसे हाथ फैलाना। (५) गमन—अर्थात् चलना। इन चारों कर्मों के अतिरिक्त अन्य सभी क्रियायें 'गमन' में आ जाती हैं जैसे चलना फिरना आदि। पृथ्वी जल तेज आदि दृष्टिगोचर पदार्थों के कर्म प्रत्यक्ष होते हैं। परन्तु मन जैसे अगोचर पदार्थ के कर्म या गति का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं हो सकता।

(४) सामान्य

सामान्य वह पदार्थ है जिसके कारण भिन्न भिन्न व्यक्ति एक जाति में सम्मिलित होकर एक नाम से पुकारे जाते हैं जैसे मानव गाय घोड़ा आदि जाति वाचक शब्दों से पुकारे जाने वाले जीव में एक ऐसा सामान्यगुण होता है जो पूरी जाति में पाया जाता है। सामान्य में वस्तुओं अथवा व्यक्तियों में समानता होती है। सामान्य के सम्बन्ध में भारतीय दर्शन में निम्नलिखित तीन विभिन्न मत हैं —

सामान्य के सम्बन्ध में तीन विभिन्न मत

(१) नामवाद (Nominalism)—के अनुसार सामान्य कोई सर्वनिष्ठ आवश्यक धर्म न होकर केवल एक नाम मात्र है। इस नाम से ही एक जाति के व्यक्तियों में समानता होती है और भिन्न नाम होने के कारण अन्य जातियों से भिन्नता होती है। सामान्य की अपनी कोई सत्ता नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति सत्य तथा स्वलक्षण है। व्यक्ति से अतिरिक्त जाति की कोई सत्ता नहीं है। भारतीय दर्शन में इस मत का प्रतिपादन बौद्ध दर्शन में किया गया है।

(२) सामान्य के सम्बन्ध में दूसरा मत सामान्य प्रत्ययवाद (Conceptualism) है। इस मत के अनुसार सामान्य की सत्ता व्यक्तियों से पृथक कुछ नहीं है और न वह उनमें बाहर से आकर ही लगा जाता है। सामान्य और व्यक्ति अभिन्न हैं। वह व्यक्तियों का सर्वनिष्ठ आवश्यक धर्म अथवा उनका आन्तरिक स्वरूप है जिसे हमारी बुद्धि ग्रहण करती है। भारतीय दर्शन में यह मत जैन और अद्वैत वेदान्त दर्शन में मिलता है।

(३) सामान्य के सम्बन्ध में तीसरा मत वस्तुवाद (Realism) कहलाता है। इसके अनुसार सामान्य मानसिक प्रत्यय अथवा नाम मात्र न होकर अपनी स्वतन्त्र

सत्ता रखते है। सामान्य नित्य पदार्थ है और व्यक्तियों से भिन्न होकर भी उनमें व्याप्त है। इस प्रकार सामान्य अनेकानुगत (अनेक व्यक्तियों में समवेत) है।[1] सामान्य के कारण ही भिन्न व्यक्तियों में एकता होती है वह द्रव्य, गुण और कर्म में रहता है।[2] उसीके कारण वे एक जाति अथवा नाम से पुकारे जाते हैं। भारतीय दर्शन में न्याय वैशेषिक यह मत उपस्थित करते है।

सामान्य के भेद

व्यापकता की दृष्टि से सामान्य तीन प्रकार के होते है—(१) पर, (२) अपर और (३) परापर। 'पर' सबसे अधिक व्यापक सामान्य को कहते है जैसे सत्ता। 'अपर' सबसे कम व्यापक सामान्य को कहते है जैसे घटत्व। 'परापर' पर और अपर के बीचवाला सामान्य है जैसे द्रव्यत्व। यह सत्ता की अपेक्षा अपर और घटत्व की अपेक्षा पर है।

(५) विशेष

विशेष सामान्य का ठीक उलटा है। निरवयव और नित्य द्रव्य का विशिष्ट व्यक्तित्व ही 'विशेष' कहलाता है। ये द्रव्य है—दिक्, काल, आकाश, मन, आत्मा तथा चार भूतो के परमाणु। विशेष के कारण ही एक द्रव्य के भिन्न भिन्न परमाणुओ और एक जाति के भिन्न भिन्न व्यक्तियो मे भेद किया जाता है। विशेष उन द्रव्यो के वे व्यक्तिगत स्वरूप है जिन से वे एक दूसरे से पहचाने जाते हैं। सावयव और अनित्य कार्य द्रव्य जैसे मेज कुर्सी आदि में भेद करने के लिये विशेष की आवश्यकता नही होती। विशेष निरवयव और नित्य द्रव्यो में ही होते है। ऐसे द्रव्य असख्य है। अत विशेष भी निरवयव, नित्य और असख्य हैं। विशेष का विश्लेषण नही किया जा सकता। अत ये अन्त्य (Ultimate) है। ये स्वत पहचाने जाते हैं। इनका प्रत्यक्ष ज्ञान नही हो सकता क्योंकि ये परमाणु के समान अगोचर है।

(६) समवाय

समवाय क्या है ?

प्रशस्तपाद के अनुसार समवाय उस सम्बन्ध को कहते हैं जो कि अयुतसिद्ध वस्तुओ मे होता है, जिनमे परस्पर आधार्य और आधार का सम्बन्ध है और जो इस प्रत्यय का हेतु है कि 'यह उसमे है'।[3] इस प्रकार समवाय से जुडी हुई वस्तुएँ अयुतसिद्ध अर्थात् अपृथक रूप मे सम्बद्ध होती हैं। ये अयुतसिद्ध सम्बन्ध वाले जोडे ये हैं —अवयव और अवयवी, गुण और गुणी, क्रिया और

---

१ नित्यमेकमनेकानुगत सामान्यम्।

२ द्रव्य गुण कर्म वृत्ति।

३ अयुत सिद्धानामाधार्याधार भूताना य सम्बन्ध इहप्रत्यय हेतु स समवाय।

क्रियावान् व्यक्ति और जाति विशेष और नित्य द्रव्य।[1] इस प्रकार धागों में कपड़ा, फूल में खुशबू, पानी में गति, मनुष्यों में 'मनुष्यत्व' तथा परमाणु में अपना धर्म होता है।

वैशेषिक ने दो प्रकार के सम्बन्ध माने हैं—समवाय और संयोग। इन दोनों में निम्नलिखित भेद हैं —

समवाय और संयोग

(१) संयोग अनित्य और अनित्य है, समवाय नित्य सम्बन्ध है।

(२) संयोग युतसिद्ध अर्थात् दो द्रव्यों के युक्त होने से बनने वाला सम्बन्ध है। समवाय अयुतसिद्ध अर्थात् वह सम्बन्ध है जो युक्त होने से न होता हो।

(३) संयोग एक या दोनों वस्तुओं के कर्म से होता है। समवाय पदार्थों में सदैव विद्यमान रहता है। संयुक्त पदार्थों का सम्बन्ध पारस्परिक होता है।

(४) संयोग बाह्य सम्बन्ध है समवाय आन्तरिक सम्बन्ध है। संयोग से मिले पदार्थ पृथक् भी रह सकते हैं। समवाय से जुड़े हुये पदार्थ पृथक् नहीं रह सकते। अवयवी और अवयव की एक दूसरे से पृथक् सत्ता नहीं हो सकती।

(७) अभाव

उपरोक्त छः पदार्थों से पृथक् होने के कारण अभाव सातवाँ पदार्थ माना जाता है।

अभाव क्या है ?

कणाद ने छः ही पदार्थ माने हैं तथापि वैशेषिक सूत्र में प्रमेय रूप में अभाव का उल्लेख मिलता है। वैशेषिक दर्शन के प्रामाणिक ग्रन्थ प्रशस्तपाद भाष्य में अभाव का विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है। 'अभाव' किसी वस्तु का न होना है। अमावस्या की रात में चाँद के अभाव को कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। अतः अभाव को मानना आवश्यक है।

अभाव के भेद

मुख्य रूप से अभाव के दो भेद हैं—(१) संसर्गाभाव—अर्थात् एक वस्तु का दूसरी वस्तु में अभाव जैसे चन्द्रमा में गर्मी का अभाव है।

(२) अन्योन्याभाव—अर्थात् एक वस्तु का दूसरी वस्तु न होना जैसे चन्द्रमा सूर्य नहीं है।

संसर्गाभाव के भी तीन भेद हैं — (अ) प्रागभाव—अर्थात् कार्य द्रव्य की उत्पत्ति के पूर्व उसका अभाव जैसे घड़ा बनने से पूर्व मिट्टी में घड़े का अभाव

---

१ ययोर्द्वयोर्मध्ये एकमविनश्यदपराश्रितमेवावतिष्ठते तावयुतसिद्धौ—अवयवावयविनौ गुणगुणिनौ क्रियाक्रियावन्तौ, जातिव्यक्ती विशेषनित्यद्रव्ये चेति।

—तर्क संग्रह

सत्ता रखते हैं । सामान्य नित्य पदार्थ है और व्यक्तियों से भिन्न होकर भी उनमें व्याप्त है । इस प्रकार सामान्य अनेकानुगत (और व्यक्तियों में समवेत) है ।[1] सामान्य के कारण ही भिन्न व्यक्तियों में एकता होती है वह द्रव्य, गुण और कर्म में रहता है ।[2] उसीके कारण वे एक जाति अथवा नाम से पुकारे जाते हैं । भारतीय दर्शन में न्याय वैशेषिक यह मत उपस्थित करते हैं ।

सामान्य के भेद

व्यापकता की दृष्टि से सामान्य तीन प्रकार के होते हैं—(१) पर, (२) अपर और (३) परापर । 'पर' सबसे अधिक व्यापक सामान्य को कहते हैं जैसे सत्ता । 'अपर' सबसे कम व्यापक सामान्य को कहते हैं जैसे घटत्व । 'परापर' पर और अपर के बीचवाला सामान्य है जैसे द्रव्यत्व । यह सत्ता की अपेक्षा अपर और घटत्व की अपेक्षा पर है ।

(५) विशेष

विशेष सामान्य का ठीक उलटा है । निरवयव और नित्य द्रव्य का विशिष्ट व्यक्तित्व ही 'विशेष' कहलाता है । ये द्रव्य हैं—दिक्, काल, आकाश, मन, आत्मा तथा चार भूतों के परमाणु । विशेष के कारण ही एक द्रव्य के भिन्न भिन्न परमाणुओं और एक जाति के भिन्न भिन्न व्यक्तियों में भेद किया जाता है । विशेष उन द्रव्यों के वे व्यक्तिगत स्वरूप हैं जिन से वे एक दूसरे से पहचाने जाते हैं । सावयव और अनित्य कार्य द्रव्य जैसे मेज कुर्सी आदि में भेद करने के लिये विशेष की आवश्यकता नहीं होती । विशेष निरवयव और नित्य द्रव्यों में ही होते हैं । ऐसे द्रव्य असंख्य हैं । अतः विशेष भी निरवयव, नित्य और असंख्य हैं । विशेष का विश्लेषण नहीं किया जा सकता । अतः वे अन्त्य (Ultimate) हैं । ये स्वतः पहचाने जाते हैं । इनका प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं हो सकता क्योंकि ये परमाणु के समान अगोचर हैं ।

(६) समवाय

समवाय क्या है ?

प्रशस्तपाद के अनुसार समवाय उस सम्बन्ध को कहते हैं जो कि अयुतसिद्ध वस्तुओं में होता है, जिनमें परस्पर आधार्य और आधार का सम्बन्ध है और जो इस प्रत्यय का हेतु है कि 'यह उसमें है' ।[3] इस प्रकार समवाय से जुड़ी हुई वस्तुएँ अयुतसिद्ध अर्थात् अपृथक रूप में सम्बद्ध होती हैं । ये अयुतसिद्ध सम्बन्ध वाले जोड़े ये हैं —अवयव और अवयवी, गुण और गुणी, क्रिया और

---

१ नित्यमेकमनेकानुगतं सामान्यम् ।
२ द्रव्य गुण कर्म वृत्ति ।
३ अयुत सिद्धानामाधार्याधार भूतानां यः सम्बन्ध इहप्रत्यय हेतुः स समवायः ।

क्रियावान व्यक्ति और जाति विशेष और नित्य द्रव्य।[1] इस प्रकार धागों में कपड़ा, फूल में सुगन्ध, पानी में गति, मनुष्यों में 'मनुष्यत्व' तथा परमाणु में अपना धर्म होता है।

समवाय और संयोग

वैशेषिक ने दो प्रकार के सम्बन्ध माने हैं—समवाय और संयोग। इन दोनों में निम्नलिखित भेद हैं —

(१) संयोग क्षणिक और अनित्य है समवाय नित्य सम्बन्ध है।

(२) संयोग युतसिद्ध अर्थात् दो द्रव्यों के युक्त होने से बनने वाला सम्बन्ध है। समवाय अयुतसिद्ध अर्थात् वह सम्बन्ध है जो युक्त होने से न होता हो।

(३) संयोग एक या दोनों वस्तुओं के कर्म से होता है। समवाय पदार्थों में सदैव विद्यमान रहता है। संयुक्त पदार्थों का सम्बन्ध पारस्परिक होता है।

(४) संयोग बाह्य सम्बन्ध है समवाय आन्तरिक सम्बन्ध है। संयोग से मिले पदार्थ पृथक भी रह सकते हैं। समवाय से जुड़े हुये पदार्थ पृथक नहीं रह सकते। अवयवी और अवयव की एक दूसरे से पृथक सत्ता नहीं हो सकती।

(७) अभाव

अभाव क्या है ?

उपरोक्त छः पदार्थों से पृथक होने के कारण अभाव सातवाँ पदार्थ माना जाता है। कणाद ने छः ही पदार्थ माने हैं तथापि वैशेषिक सूत्र में प्रमेय रूप में अभाव का उल्लेख मिलता है। वैशेषिक दर्शन के प्रामाणिक ग्रन्थ प्रशस्तपाद भाष्य में अभाव का विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है। 'अभाव' किसी वस्तु का न होना है। अमावस्या की रात में चाँद के अभाव को कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। अतः अभाव को मानना आवश्यक है।

अभाव के भेद

मुख्य रूप से अभाव के दो भेद हैं—(१) संसर्गाभाव—अर्थात् एक वस्तु का दूसरी वस्तु में अभाव जैसे चन्द्रमा में गर्मी का अभाव है।

(२) अन्योन्याभाव—अर्थात एक वस्तु का दूसरी वस्तु न होना जैसे चन्द्रमा सूर्य नहीं है।

संसर्गाभाव के भी तीन भेद हैं — (अ) प्रागभाव—अर्थात् कार्य द्रव्य की उत्पत्ति के पूर्व उसका अभाव जैसे घड़ा बनने से पूर्व मिट्टी में घड़े का अभाव

---

१ ययोर्द्वयोर्मध्ये एकमविनश्यदवस्थमपराश्रितमेवावतिष्ठते तावयुतसिद्धौ—अवयवावयविनौ गुणगुणिनौ क्रियाक्रियावन्तौ जातिव्यक्ती विशेषनित्यद्रव्ये चेति।

—तर्क संग्रह

प
द्रव्य ९
गुण २४
कर्म ५
उत्क्षेपण
आकुंचन
अवक्षेपण
प्रसारण
पृथ्वी
तेज
आकाश
दिक
मन
जल
वायु
काल
आत्मा
१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११
रूप६
रस६
गन्ध२
स्पर्श३
शब्द२
सख्या
परिमाण४
पृथक्त्व
सयोग
विभाग
परत्व
सुगध
दुर्गंध
अस्फुट
स्फुट
कालिक
अणु
ह्रस्व
दीर्घ
महत्
उष्ण
शीत
शीतोष्ण
अन्यतर कर्मज
उभय कर्मज
विभाग
मधुर
अम्ल
लवण
कटु
तिक्त
कषाय
श्वेत
कृष्ण
रक्त
पीत
नील
हरित

प्रागभाव अनादि परन्तु सान्त है। मिट्टी में घड़े का अभाव अनादि काल से था परन्तु घड़ा बनने से उस अनादि प्रागभाव का अन्त हो जाता है।

संसर्गाभाव के भेद

(आ) ध्वंसाभाव—अर्थात् कार्य द्रव्य के नष्ट हो जाने पर उसका अभाव जैसे घड़े के टूट जाने पर उसके टुकड़ों में उसका अभाव। ध्वंसाभाव आदि (जिसका आदि) किन्तु अनन्त माना जाता है। घड़ा टूटने पर ध्वंसाभाव का आदि तो होता है परन्तु यह घड़ा फिर कभी लौटकर नहीं आ सकता अतः ध्वंसाभाव का कभी अन्त नहीं हो सकता।

(इ) अत्यन्ताभाव—अर्थात् दो वस्तुओं में त्रैकालिक (भूत, भविष्य, वर्तमान) सम्बन्ध का अभाव जैसे अग्नि में शीतलता का अभाव। अत्यन्ताभाव अनादि और अनन्त है वह सर्वकालिक है। अग्नि में शीतलता का अभाव सदा से है और सदा रहेगा। इस प्रकार अत्यन्ताभाव की न कभी उत्पत्ति होती है और न कभी विनाश होता है।

संसर्गाभाव और अन्योन्याभाव में भेद

संसर्गाभाव और अन्यान्याभाव में निम्नलिखित भेद हैं—(१) संसर्गाभाव दो वस्तुओं में संसर्ग या सम्बन्ध का अभाव है। अन्यान्याभाव एक वस्तु का दूसरी वस्तु में अभाव है। (२) संसर्गाभाव सम्बन्ध (Relation) का अभाव है। अन्योन्याभाव तादात्म्य (Identity) का अभाव है। खरगोश के सींग नहीं होते, संसर्गाभाव के इस उदाहरण में खरगोश और सींग में सम्बन्ध का अभाव है। गधा घोड़ा नहीं है, अन्योन्याभाव के इस उदाहरण में गधे और घोड़े में तादात्म्य का अभाव है।

सृष्टि विचार

परमाणुवाद

वैशेषिक के अनुसार जगत के सभी कार्य द्रव्य पृथ्वी, जल, तेज और वायु इन चार प्रकार के परमाणुओं से बनते हैं। इसलिये सृष्टि सम्बन्धी वैशेषिक मत परमाणुवाद (Atomism) कहलाता है। परमाणुवाद जगत के अनित्य द्रव्यों की ही सृष्टि और प्रलय का क्रम बतलाता है। आकाश, दिक्, काल, मन, आत्मा और भौतिक परमाणु, जगत के इन नित्य पदार्थों की न तो सृष्टि होती है और न विनाश ही होता है।

वैशेषिक परमाणुवाद आध्यात्मिक है, ईश्वर परमाणुओं की गति का सूत्रधार है।

सृष्टि और ईश्वर

वह जीवों का उनके अदृष्ट के अनुसार कर्मफल का भोग कराने के लिए परमाणुओं में क्रिया प्रवर्तित करता है। ईश्वर की इच्छा से ही सृष्टि और प्रलय होते हैं। महेश्वर अखिल विश्व के स्वामी अथवा शासक हैं। सृष्टि और प्रलय का यह चक्र अनादि है।

परमाणुओं से सृष्टि

पुरातन क्रम को ध्वंस करके नवीन का निर्माण करने को सृष्टि कहते हैं। ईश्वर के सृष्टि रचना का संकल्प करने पर जीवात्माओं के अदृष्ट के अनुसार उनके शरीर और बाह्य द्रव्य आदि भोग साधन बनने लगते हैं और अदृष्ट जीवात्माओं को उस दिशा में प्रवृत्ति करने लगता है। यह समस्त जगत और उसके कार्य द्रव्य चार प्रकार के द्वयणुकों, त्र्यणुकों तथा उनके वृहत्तर संयोगों के परिणाम हैं। परमाणुओं के संयोग उनकी गति अथवा कर्म के कारण होते हैं। यह गति अदृष्ट के कारण है और अदृष्ट की गति ईश्वर की प्रेरणा से है। दो परमाणुओं का प्रथम संयोग द्वयणुक कहलाता है। इसका और परमाणु का ज्ञान अनुमान से होता है। सूक्ष्म होने के कारण इनका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। त्र्यणुक या त्रसरेणु ही वह सूक्ष्मतम कार्य द्रव्य है जो महत् और दीर्घ है तथा दृष्टिगोचर हो सकता है। यह तीन द्वयणुकों के संयोग से बनता है। फिर इसी प्रकार कालान्तर में महाभूतों की उत्पत्ति होती है। वायु, जल, पृथ्वी और तेज परमाणुओं से क्रमश वायु, जल, पृथ्वी और तेज महाभूत की उत्पत्ति होती है। उत्पन्न होकर वायु नित्य आकाश में निरंतर प्रवाहित होने लगता है। जलवायु में अवस्थित होकर उसी के द्वारा प्रवाहित होने लगता है। इसी प्रकार पृथ्वी और तेज दोनों जल महाभूत में अवस्थित रहते हैं। इसके पश्चात ईश्वर के अभिध्यान मात्र से विश्व का गर्भ स्वरूप ब्रह्माण्ड-उत्पन्न हो जाता है। यह पार्थिव और तैजस परमाणुओं का बीजरूप है। इस ब्रह्माण्ड को ब्रह्मा या विश्वात्मा संचालित करता है जो कि अनन्त ज्ञान वैराग्य और ऐश्वर्य का भंडार है। ब्रह्मा सृष्टि को इस प्रकार घुमाते हैं कि पुराकृत धर्म और अधर्म के अनुसार जीवों को सुख-दुख का भोग होता रहता है। ईश्वर की इच्छा से ही यह समस्त कार्य होता है।

प्रलय

सृष्टि के पश्चात प्रलय और प्रलय के पश्चात सृष्टि का क्रम अनादि है। अनेक योनियों में भ्रमण करने और सुख-दुख भोगने के उपरान्त प्रलय में जीवों को विश्राम करने का अवकाश मिलता है। दो प्रलयों के बीच की एक सृष्टि को 'कल्प' कहते हैं। अब नियमानुसार अन्य जीवात्माओं के समान विश्वात्मा ब्रह्मा भी अपना

प्रागभाव अनादि परन्तु सान्त है। मिट्टी में घड़े का अभाव अनादि काल से था परन्तु घड़ा बनने से उस अनादि प्रागभाव का अन्त हो जाता है।

संसर्गाभाव के भेद

(आ) ध्वंसाभाव—अर्थात् कार्य द्रव्य के नष्ट हो जाने पर उसका अभाव जैसे घड़े के टूट जाने पर उसके टुकड़ों में उसका अभाव। ध्वंसाभाव आदि (जिसका आदि) किन्तु अनन्त माना जाता है। घड़ा टूटने पर ध्वंसाभाव का आदि तो होता है परन्तु वह घड़ा फिर कभी लौटकर नहीं आ सकता अतः ध्वंसाभाव का कभी अन्त नहीं हो सकता।

(इ) अत्यन्ताभाव—अर्थात् दो वस्तुओं में त्रैकालिक (भूत, भविष्य, वर्तमान) सम्बन्ध का अभाव जैसे अग्नि में शीतलता का अभाव। अत्यन्ताभाव अनादि और अनन्त है वह सर्वकालिक है। अग्नि में शीतलता का अभाव सदा से है और सदा रहेगा। इस प्रकार अत्यन्ताभाव की न कभी उत्पत्ति होती है और न कभी विनाश होता है।

संसर्गाभाव और अन्योन्याभाव में भेद

संसर्गाभाव और अन्योन्याभाव में निम्नलिखित भेद हैं—(१) संसर्गाभाव दो वस्तुओं में संसर्ग या सम्बन्ध का अभाव है। अन्योन्याभाव एक वस्तु का दूसरी वस्तु में अभाव है। (२) संसर्गाभाव सम्बन्ध (Relation) का अभाव है। अन्योन्याभाव तादात्म्य (Identity) का अभाव है। खरगोश के सींग नहीं होते, संसर्गाभाव के इस उदाहरण में खरगोश और सींग में सम्बन्ध का अभाव है। गधा घोड़ा नहीं है, अन्योन्याभाव के इस उदाहरण में गधे और घोड़े में तादात्म्य का अभाव है।

सृष्टि विचार

परमाणुवाद

वैशेषिक के अनुसार जगत के सभी कार्य द्रव्य पृथ्वी, जल, तेज और वायु इन चार प्रकार के परमाणुओं से बनते हैं। इसलिये सृष्टि सम्बन्धी वैशेषिक मत परमाणुवाद (Atomism) कहलाता है। परमाणुवाद जगत में अनित्य द्रव्यों की ही सृष्टि और प्रलय का क्रम बतलाता है। आकाश, दिक्, काल, मन, आत्मा और भौतिक परमाणु, जगत के इन नित्य पदार्थों की न तो सृष्टि होती है और न विनाश ही होता है।

न्याय और वैशेषिक का सम्बन्ध

न्याय और वैशेषिक समानतन्त्र हैं। दोनों का उद्देश्य जीव का मोक्ष है। दुःखों का मूल कारण अज्ञान है। मोक्ष दुःखों की आत्यन्तिकी निवृत्ति है। यथार्थ तत्वज्ञान से ही मोक्ष प्राप्त हो सकता है। इन सब बातों में दोनों एक मत हैं। आत्मा का स्वरूप भी दोनों दर्शनों में एक सा है। आत्मा को जानने के उपाय भी एक से हैं। बुद्धि उपलब्धि ज्ञान प्रत्यक्ष संशय विपर्यय आदि की दोनों में एक सी व्याख्या की गई है। प्रत्यक्ष और अनुमान को लेकर भी दोनों में कोई भेद नहीं है। दोनों ने कर्म के पाँच भेद माने गए हैं। जगत के स्वरूप के विषय में भी दोनों एक मत हैं।

समानता

परन्तु फिर भी न्याय और वैशेषिक मतों में निम्नलिखित भेद है—

(१) न्याय दर्शन में विशेषता प्रमाणों का विचार किया गया है। उसमें तत्वों का विचार साधारण लौकिक दृष्टिकोण से किया गया है। वैशेषिक मत में 'प्रमेयों' का विशेष रूप से विचार किया गया है। तत्व विचार में वे लौकिक पर ही नहीं रुक जाते बल्कि इनकी दृष्टि सूक्ष्म-जगत तक जाती है।

भेद

(२) न्याय मत में सोलह पदार्थ और नौ प्रमेय हैं। वैशेषिक मत में सात पदार्थ और नौ द्रव्य हैं।

(३) न्याय में प्रत्यक्ष अनुमान उपमान और शब्द ये चार प्रमाण माने गए हैं। वैशेषिकों ने प्रत्यक्ष और अनुमान यही दो प्रमाण माने हैं। उपमान और शब्द को इन्होंने अनुमान में ही सम्मिलित कर लिया है।

(४) न्याय के अनुसार पाँच इन्द्रियों के पाँच प्रकार के प्रत्यक्ष (चाक्षुष श्रावण रासन घ्राणज और स्पार्शन) होते हैं परन्तु वैशेषिक ने एक मात्र चाक्षुष प्रत्यक्ष माना है।

(५) न्याय के अनुसार समवाय का ज्ञान प्रत्यक्ष द्वारा होता है परन्तु वैशेषिक के मत से समवाय का ज्ञान अनुमान से होता है।

(६) नैयायिकों के अनुसार हेत्वाभास पाँच हैं—असिद्ध विरुद्ध अनैकान्तिक सत्प्रतिपक्ष और बाधित। वैशेषिक तीन हेत्वाभास मानते हैं—विरुद्ध असिद्ध और सन्दिग्ध।

(७) न्याय के अनुसार पुण्य से उत्पन्न स्वप्न सत्य और पाप से उत्पन्न असत्य होते हैं। वैशेषिक दर्शन के अनुसार सभी स्वप्न असत्य हैं।

( ) नैयायिक 'शिव' के उपासक हैं वैशेषिक 'महेश्वर' या 'पशुपति' को मानते हैं।

शरीर छोड देता है तब महेश्वर की प्रलय करने की इच्छा होती है। महेश्वर की इच्छा होते ही जीवों के अदृष्ट अपना कार्य छोडकर कुछ काल के लिये लुप्त हो जाते है। और उनके शरीर और इन्द्रियों के परमाणु अलग अलग होकर बिखर जाते है। इसी प्रकार क्रमश पृथ्वी, जल, तेज और वायु के परमाणु विच्छिन्न हो जाने से ये चारो महाभूत विलीन हो जाते है। अब बचते हैं चार भूतो के परमाणु, पाँच नित्यद्रव्य तथा जीवात्माओ के धर्माधर्म जन्य संस्कार। इन्ही मे अगली सृष्टि बनती है। न्याय वैशेषिक असत्कार्यवादी है। इनका मत आरंभवाद अथवा परमाणु कारणवाद भी कहलाता है।

वैशेषिक और ग्रीक परमाणुवाद

वैशेषिक ल्यूसिप्पस (Leucippus) और डिमोक्रिटस (Democritus) के ग्रीक परमाणुवाद मे इस बात मे सहमत हैं कि परमाणु अविभाज्य, निरवयव, अप्रत्यक्ष तथा अनित्य (Ultimate) और नित्य है तथा इस भौतिक जगत के उपादान कारण हैं। परन्तु इससे आगे दोनो मतो मे निम्नलिखित अन्तर है —

(१) ग्रीक परमाणुवाद के अनुसार परमाणुओ मे गुण की समानता और केवल परिमाण अथवा संख्या का अन्तर है। वैशेषिक परमाणुओ मे गुण और परिमाण दोनो का अन्तर मानते है।

(२) ग्रीक परमाणुवादी परमाणुओ मे गौण गुण (Secondary Qualities) नही मानते और वैशेषिक परमाणुओ मे इन गुणो को भी मानते हैं।

(३) ग्रीक परमाणुवादियो के अनुसार परमाणु स्वभाव से ही गतिशील और सक्रिय हैं परन्तु वैशेषिक परमाणुओ को स्वभाव से निष्क्रिय और गति हीन मानते हैं।

(४) ग्रीक मत के अनुसार परमाणुओ से आत्माएँ भी बनती हैं परन्तु वैशेषिक परमाणुओ और आत्मा मे भेद मानते हैं और दोनो को अपना अपना 'विशेष' व्यक्तित्व लिये हुए समान रूप से नित्य और स्वतन्त्र पदार्थ मानते है।

(५) ग्रीक मत जडवादी है। उसके अनुसार विकास यन्त्रवत होता है। वैशेषिक आध्यात्मवादी हैं। उनके अनुसार आध्यात्मिक अथवा नैतिक नियम विकास का संचालन करते हैं। बाद के वैशेषिक ईश्वर को ही विकास का निमित्त कारण मानते हैं।

बन्धन और मोक्ष

इस विषय मे न्याय और वैशेषिक दर्शन के मतो मे कोई अन्तर नही है। अत इसका दुबारा वर्णन करना अनावश्यक प्रतीत होता है।

वैशेषिक दर्शन में समवाय को पदार्थ माना गया है। इसके विरुद्ध शंकर ने निम्नलिखित मौलिक तर्क उपस्थित किये हैं।

समवाय के विरुद्ध शंकर के आक्षेप

(१) संयोग को गुण और समवाय को पदार्थ नहीं माना जा सकता क्योंकि एक के युतसिद्ध और दूसरे के अयुतसिद्ध होने पर भी आखिर ये दोनों सम्बन्ध ही हैं।

(२) समवाय जिन वस्तुओं को सम्बन्धित करता है उनसे अलग है अतः उसे वस्तुओं से सम्बन्धित करने के लिये एक अन्य समवाय की आवश्यकता पड़ेगी और फिर इस समवाय को पिछले समवाय से सम्बन्धित करने के लिये एक अन्य समवाय की आवश्यकता पड़ेगी। इस प्रकार इस शृंखला का कहीं अन्त न होगा।

(३) यदि समवाय जिन वस्तुओं को सम्बन्धित करता है उन दोनों से भिन्न है तो वह कहाँ रहता है? यदि वह पहली वस्तु में है तो वह उसे दूसरी वस्तु से सम्बन्धित नहीं कर सकता। यदि वह दूसरी वस्तु में है तो फिर वह उसे पहली से सम्बन्धित नहीं कर सकता। और एक ही समवाय दोनों वस्तुओं में नहीं रह सकता क्योंकि वह अविभाज्य है। अतः समवाय असम्भव है।

परमाणुवाद की आलोचना

शंकर ने वैशेषिक के परमाणुवाद की निम्नलिखित आलोचना की है—

(१) यदि परमाणुओं में गुण का भेद है तो उनमें भार और प्रसार का भी भेद होना चाहिये।

(२) यदि परमाणुओं में गुण हैं तो वे नित्य कैसे हो सकते हैं? यदि परमाणुओं के गुण भी नित्य हैं तो मुक्तात्मा और ब्रह्म का गुणों से विहीन होना कैसे माना जा सकता है?

(३) यदि कारण के गुण कार्य में आते हैं तो परमाणु का परिमण्डल-स्वभाव द्वयणुक में और द्वयणुक के सूक्ष्मता और ह्रस्वता आदि गुण त्र्यणुक में क्यों नहीं आते

(४) यदि कार्य कारण में नहीं है तो किसी भी वस्तु से कोई भी वस्तु उत्पन्न हो सकनी चाहिये।

(५) परमाणु सक्रिय हैं अथवा निष्क्रिय अथवा दोनों हैं अथवा कुछ नहीं हैं? यदि सक्रिय हैं तो सृष्टि स्थायी हो जायगी। यदि निष्क्रिय हैं तो सृष्टि असम्भव हो जायगी। वे सक्रिय और निष्क्रिय दोनों नहीं हो सकते क्योंकि ये दोनों गुण प्रकाश और अन्धकार के समान परस्पर विरुद्ध होने के कारण एक साथ नहीं रह सकते। यदि परमाणु न सक्रिय हैं और न निष्क्रिय तब क्रिया किसी बाह्य कारण से उत्पन्न होनी चाहिये।

(९) रासायनिक प्रक्रिया (Chemical Action) के सम्बन्ध मे न्याय और वैशेपिक के मतो मे भेद है। न्याय मे इस प्रक्रिया को 'पिलपाक' और वैशेपिक मे 'पीलुपाक' कहते हैं।

(१०) इसके अतिरिक्त निम्नलिखत विपयो म भी न्याय और वैशेपिक मे परस्पर मतभेद है—कम की स्थिति, वेगाख्य सस्कार, सखण्डो पाधि विभागज विभाग, द्वित्व सख्या की उत्पत्ति, विभुओ के बीच अजसयोग, आत्मा का स्वरूप, अर्थ शब्द का अभिप्राय, सुकुमारत्व और कर्कशत्व जाति का विचार, अनुमान के सम्बन्ध, स्मृति का स्वरूप आर्क-ज्ञान, पार्थिव शरीर के विभाग आदि।

आलोचना

पदार्थ विचार की आलोचना

(१) वैशेपिक दर्शन मे सात पदाथ बतलाए गए हैं परन्तु उनमे द्रव्य ही एकमात्र पदाथ मालूम पडता है। गुण और कम द्रव्य पर आश्रित हैं। सामान्य, विशेप और समवाय विचार पर आश्रित हैं। अभाव भाव से सापेक्ष है। अत इनमे से किसी को भी पदार्थ नही कहा जा सकता। गुण और सम्बन्धो की अनुपस्थिति मे इस द्रव्य के स्वभाव का भी निश्चय नही हो सकता।

(२) द्रव्य नौ बतलाए गए हैं जिनमे से आकाश 'शब्द' का आधार है, देश और काल अनुभूति जन्य है और मन आन्तरिक इन्द्रिय है। अत वास्तव मे चारो भूतो के परमाणु और आत्माएँ ही द्रव्य हैं।

(३) न्याय वैशेषिक का आत्मा को अचेतन और अनेक मानना नितान्त युक्तिहीन है। इसकी आलोचना न्याय दर्शन के प्रसग मे की जा चुकी है।

(४) वैशेपिक के अनुसार गुण द्रव्य के विना और सावयव वस्तु अवयवो के बिना नही रह सकती फिर द्रव्य गुण के बिना और सामान्य विशेप के बिना कैसे रह सकते हैं।

(५) वैशेषिक के अनुसार प्रत्येक आत्मा और परमाणु मे 'विशेष' है। परन्तु वे यह नही बतलाते कि यह विशेप क्या है ?

(६) वैशेषिक यह मानते हैं कि यदि भाव है तो अभाव भी अवश्य है परन्तु फिर वे इन दोनो मे सामजस्य नही करते। वास्तव मे वे लौकिक दृष्टि-कोण से ऊपर उठकर पारमार्थिक दृष्टिकोण से पदार्थ का विचार करने को तैयार नही है। वैज्ञानिक विश्लेपण की दृष्टि से उनका पदार्थ विचार अत्यन्त महत्वपूर्ण है। परन्तु फिर वे इन विभिन्न पदार्थो मे सामजस्य नही कर पाए हैं। इस विपय मे साख्य और वेदान्त उनसे कही अधिक ऊची भूमि पर हैं।

त्रयोदश अध्याय

मीमांसा दर्शन

जिससे इस लोक तथा परलोक में कल्याण की प्राप्ति हो उसी को 'धर्म' कहते हैं।[1] इस धर्म या वेद के अर्थ का विचार करने वाला शास्त्र मीमांसा कहलाता है। इस धर्म के विवेचन में दार्शनिक विषय भी आ जाते हैं। अतः मीमांसा दर्शन को छः दर्शनों में सम्मिलित कर लिया गया है। इसको पूर्व मीमांसा भी कहा जाता है और वेदान्त को 'उत्तर मीमांसा' कहा जाता है क्योंकि दर्शन में 'ज्ञान' का विचार करने से पूर्व कर्म तथा धर्म का विचार करना आवश्यक है। मीमांसा का उद्देश्य वैदिक विधि निषेधों का अर्थ समझने के लिये और उनका परस्पर सामञ्जस्य करने के लिये व्याख्या प्रणाली निर्धारित करना और कर्मकांड के मूल सिद्धान्त का युक्ति द्वारा प्रतिपादन करना है। कर्मकांड में आत्मा की अमरता कर्मों का फल अदृष्ट पुनर्जन्म तथा वेद और जगत की सत्यता के सिद्धान्त आ जाते हैं। मीमांसा दर्शन में इन सबकी पुष्टि की गई है।

प्रमाण विचार

प्रमाण क्या है ?

कुमारिल भट्ट के अनुसार जिस ज्ञान में अज्ञात वस्तु का अनुभव हो जो अन्य ज्ञान से बाधित न हो और दोष रहित हो। वही प्रमाण है।[2] मीमांसक भी प्रमा का अर्थ यथार्थ अनुभव से लेते हैं। यह अज्ञात तत्त्व का अर्थ ज्ञान है। अतः जिस साधन से अज्ञात तत्त्व के अर्थ का ज्ञान हो वह प्रमाण कहलाता है।

प्रमाण के भेद

अन्य दर्शनों के समान मीमांसा में भी दो प्रकार के ज्ञान माने गये हैं— प्रत्यक्ष और परोक्ष। अपरोक्ष में पाँच प्रकार के प्रमाण हैं अनुमान उपमान शब्द अर्थापत्ति और अनुपलब्धि। इनमें अनुपलब्धि को केवल भट्टमत (कुमारिल भट्ट का मत) में ही माना गया है। प्रभाकर ने अनुपलब्धि को नहीं माना है। अनुमान के विषय में न्यायदर्शन और मीमांसा में कोई अन्तर नहीं है। अतः उसका उल्लेख यहाँ अनावश्यक है।

---

१ यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः ।

२ कारणदोषबाधकज्ञानरहितम् अगृहीतग्राहि ज्ञानं प्रमाणम् ।

—शास्त्र दीपिका पृ ४६

(६) अब यह बाह्य कारण दृष्ट है या अदृष्ट ? यदि दृष्ट है तो वह सृष्टि के पूर्व नही हो सकता। यदि अदृष्ट है तो वह सदा परमाणुओ के साथ रहेगा और इससे सृष्टि स्थायी हो जायेगी। और यदि अदृष्ट को परमाणुओ से निकट न माना जाय तो सृष्टि ही असम्भव हो जाती है। अत सभी दृष्टियो से परमाणुओ से सृष्टि असम्भव है।

ईश्वर-सम्बन्धी मत की आलोचना

वैशेषिक दर्शन मे ईश्वर का महत्व अत्यन्त सीमित है। असंख्य परमाणु और असंख्य आत्माएँ उसके समान ही नित्य हैं। वह जगत का स्रष्टा नही बल्कि सचालक मात्र है। सचालन मे भी वह कर्म के नियम से बँधा हुआ है। अदृष्ट के बिना वह सृष्टि अथवा प्रलय कुछ नही कर सकता। वास्तव मे जीवात्माओ का ईश्वर से कोई सम्बन्ध नही है। न वे उसमे लीन होते हैं न उसकी भक्ति करने मे उन्हे कोई लाभ है। वे उससे कोई सम्पर्क नहीं रखते। ईश्वर, परमाणु और जीवात्माओ मे बाह्य सम्बन्ध है। जगत का वास्तविक निमित्त कारण ईश्वर नही बल्कि अदृष्ट है। ईश्वर भी एक प्रकार का आत्मा ही है अत परमात्मा होने पर भी उसमे चैतन्य नही होना चाहिये तब फिर वह अचेतन अदृष्ट का कैसे मार्ग-दर्शन कर सकता है। यदि ईश्वर मे चैतन्य है तो वैशेषिक दर्शन के सिद्धान्तो के अनुसार उसे बद्ध मानना पडेगा।

मुक्ति की अवस्था की आलोचना

इस विषय मे वैशेषिक का मत न्याय के समान ही है अत न्याय दर्शन के प्रसग मे भी मुक्ति की अवस्था की आलोचना की जा चुकी है। मुक्तात्मा सब प्रकार के आनन्दादि से विहीन होकर जडवत हो जाती हैं। अत शकर ने जहा हीनयान बौद्ध दर्शन को 'पूर्ण वैनाशिक' कहा है वहाँ वैशेषिक मत को भी जगत का अर्द्ध 'वैनाशिक' माना है। वैशेषिक दर्शन की मुक्तावस्था मे कोई आकर्षण अथवा प्रेरणा नही है। एक वैष्णव सन्त ने तो यहा तक कह दिया है कि वैशेषिको के मुक्ति की इच्छा करने से तो वृन्दावन के रम्य जगल मे श्रृगाल होकर उत्पन्न होना अधिक उत्तम है।[1]

---

१ वर वृन्दावने रम्ये श्रृगालत्वं वृणोम्यहम् ।
न च वैशेषिकी मुक्ति प्रार्थयामि कदाचन ।

त्रयोदश अध्याय

मीमासा दर्शन

जिससे इस लोक तथा परलोक में कल्याण की प्राप्ति हो उसी को 'धर्म' कहते हैं।[1] इस धर्म या वेद के अर्थ का विचार करने वाला शास्त्र मीमासा कहलाता है। इस धर्म के विवेचन में दार्शनिक विषय भी आ जाते हैं। अतः मीमासा दर्शन को षट् दर्शनों में सम्मिलित कर लिया गया है। इसको पूर्व मीमासा भी कहा जाता है और वेदान्त को 'उत्तर मीमासा' कहा जाता है क्योंकि दर्शन में 'ज्ञान' का विचार करने से पूर्व कर्म तथा धर्म का विचार करना आवश्यक है। मीमासा का उद्देश्य वैदिक विधि निषेधों का अर्थ समझने के लिये और उनका परस्पर सामञ्जस्य करने के लिये व्याख्या प्रणाली निर्धारित करना और कर्मकाण्ड के मूल सिद्धान्त का युक्ति द्वारा प्रतिपादन करना है। कर्मकाण्ड में आत्मा की अमरता कर्मों का फल अदृष्ट पुनर्जन्म तथा वेद और जगत की सत्यता के सिद्धान्त आ जाते हैं। मीमासा दर्शन में इन सबकी पुष्टि की गई है।

प्रमाण विचार

प्रमाण क्या है ?

कुमारिल भट्ट के अनुसार जिस ज्ञान में अज्ञात वस्तु का अनुभव हो जो अन्य ज्ञान से बाधित न हो और दोष रहित हो। वही प्रमाण है। मीमासक भी 'प्रमा' का अर्थ यथार्थ अनुभव से लेते हैं। यह अज्ञात तत्व का अर्थ ज्ञान है। अतः जिस साधन से अज्ञात तत्व के अर्थ का ज्ञान हो वह प्रमाण कहलाता है।

प्रमाण के भेद

अन्य दर्शनों के समान मीमासा में भी दो प्रकार के ज्ञान माने गये हैं— प्रत्यक्ष और परोक्ष। अपरोक्ष में पाँच प्रकार के प्रमाण हैं अनुमान उपमान शब्द अर्थापत्ति और अनुपलब्धि। इसमें अनुपलब्धि को केवल भट्टमत (कुमारिल भट्ट का मत) में ही माना गया है। प्रभाकर ने अनुपलब्धि को नहीं माना है। अनुमान के विषय में न्यायदर्शन और मीमासा में कोई अन्तर नहीं है। अतः उसका उल्लेख यहाँ अनावश्यक है।

---

१ यतोऽभ्युदयनिःश्रेयस सिद्धिः स धर्मः ।

२ कारण दोष बाधक ज्ञान रहितम् अगृहीतग्राहि ज्ञानं प्रमाणम् ।

—शास्त्र दीपिका पृ ४५

प्रत्यक्ष साक्षात उत्पन्न ज्ञान है।[1] प्रभाकर और कुमारिल दोनो ने प्रत्यक्ष के सविकल्प, और निर्विकल्प दो भेद माने हैं। भाट्टमत में न्याय के समान यह माना गया है कि पहले निर्विकल्प और फिर सविकल्प प्रत्यक्ष होता है। प्रत्यक्ष ज्ञान इन्द्रिय और अर्थ के साक्षात सम्बन्ध से होता है। इस सम्बन्ध में पहले विषय की प्रतीति मात्र होती है। इसमे केवल यह ज्ञान होता है कि 'वह है'। 'वह क्या है'? इसका ज्ञान अभी नही होता। अत इसे निर्विकल्प प्रत्यक्ष या आलोचन ज्ञान कहते हैं। प्रत्यक्ष की दूसरी अवस्था मे पूर्व अनुभव के आधार पर विषय का स्वरूप निर्धारित किया जाता है। इसमे वस्तु क्या है। अर्थात् उसके नाम, रूप, गुण आदि का ज्ञान होता है जैसे सेव लाल है इस सविशेष ज्ञान को सविकल्प प्रत्यक्ष कहते हैं। प्रत्यक्ष की समस्त क्रिया मे चार प्रकार के सन्निकर्ष होते हैं—आत्मा के साथ मन का, मन के साथ इन्द्रिय का इन्द्रिय का द्रव्य के साथ तथा फिर उसके रूप आदिगुणो के साथ। सुख दु ख आदि आतरिक विषयो के प्रत्यक्ष मे दो ही प्रकार का सन्निकर्ष होता है अर्थात आत्मा का मन के साथ और मन का अर्थ के साथ। प्रत्यक्ष से ही समस्त गुणो का ज्ञान होता है। कुछ बौद्धो के अनुसार निर्विकल्प ज्ञान का विषय सर्वथा स्वलक्षण होता है अर्थात् उसमे कोई प्रकारता नही होती। कुछ वेदान्तियो के अनुसार उसमे शुद्ध निर्वाच्छिन्न सत्ता का ज्ञान होता है। इन दोनो के विरुद्ध मीमासको का यह मत है कि इन्द्रियो के साथ सम्पर्क होने पर पहले ही क्षण मे बाह्य विषय और उसके अनेक धर्मो का अस्फुट ज्ञान हो जाता है। सविकल्प प्रत्यक्ष के विशद ज्ञान को मीमासक बौद्धअथवा वेदान्ति के समान काल्पनिक अथवा, मिथ्या नही मानते। विषय निर्विकल्प अवस्था मे बीज रूप मे विद्यमान रहते है और सविकल्प अवस्था मे इस बीज रूप के प्रस्फुटित होने से हमे उसी विषय का ज्ञान होता है। अत प्रत्यक्ष मे नामरूपात्मक जगत का सत्य ज्ञान होता है।

प्रत्यक्ष

सादृश जन्य ज्ञान को उपमान् कहते हैं। इसम इन्द्रिय के साथ अर्थ का सन्निकर्ष नही होगा। न्याय के समान मीमासा मे भी उपमान को एक स्वतन्त्र प्रमाण माना गया है। परन्तु मीमासा दर्शन मे उपमान का अर्थ न्याय से भिन्न है। न्याय के अनुसार पहले आप्त वाक्य द्वारा यह ज्ञात होता है कि नीलगाय गाय के सदृश होती है। फिर जब कोई जगल मे गाय के सदृश कोई पशु देखता है तो उसे यह ज्ञान होता है कि यह पशु नीलगाय है। परन्तु मीमासा के अनुसार प्रत्यक्ष से शब्द प्रमाण की स्मृति की वस्तु की समानता से यह अनुमान लगाया जाता है कि प्रत्यक्ष वस्तु

उपमान

---

१ 'साक्षात् प्रतीति प्रत्यक्षम्'।

नहीं है जो स्मृति में है। प्रस्तुत उदाहरण में प्रत्यक्ष से यह ज्ञात होता है कि यह विशेष वस्तु गाय के सदृश है। शब्द प्रमाण की स्मृति से यह पहले ही मालूम है कि गाय के समान पशु नीलगाय है। अत यह अनुमान लगाया जाता है कि यह पशु नीलगाय है। अत न्याय के मत के विरुद्ध मीमांसा का यह मत है कि उपमान में पहले देखी हुई किसी वस्तु को देखकर यह समझा जाता है कि स्मृत वस्तु प्रत्यक्ष वस्तु के सदृश है।

सादृश्य का अर्थ

मीमांसा में सादृश्य को एक स्वतन्त्र पदार्थ माना गया है। यह गुण नहीं है क्योंकि गुण मे गुण नहीं हो सकता परन्तु गुणो में सादृश्य हो सकता है। इसका अर्थ पूर्ण एक्य अथवा तादात्म्य नहीं बल्कि अधिकांश विषयों मे समानता है। अत इसे सामान्य (जाति) नहीं कहा जा सकता क्योंकि सामान्य (जैसे मनुष्यत्व) सभी व्यक्तियो (मनुष्यो) मे एक ही रहता है।

उपमान स्वतन्त्र प्रमाण है

उपमान को प्रत्यक्ष अनुमान अथवा शब्द के अन्तर्गत नहीं माना जा सकता। उपमान प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं है। उपरोक्त उदाहरण मे गाय का ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं है। यह स्मृति जन्य ज्ञान भी नहीं है क्योंकि यद्यपि गाय का ज्ञान पहले ही हो चुका है तथापि उस समय यह ज्ञात नहीं था कि वर्तमान विषय (नीलगाय) उस गाय के समान होती है। इसी प्रकार शब्द प्रमाण से भी नीलगाय का ज्ञान नहीं हुआ है क्योंकि गाय को पहले देखा जा चुका है। व्याप्ति पर आधारित न होने के कारण इसे अनुमान भी नहीं कह सकते। पहले देखी गाय के आधार पर वर्तमान पशु को नीलगाय समझने मे यह व्याप्ति नहीं है। कि सभी पदार्थ अपने सदृश पदार्थों के समान होते है। अत उपमान को एक स्वतन्त्र प्रमाण माना गया है।

शब्द

ज्ञात शब्द से पदार्थ का स्मृति के रूप मे ज्ञान होने पर वाक्य के अर्थ का जो ज्ञान होता है वह शब्द प्रमाण है। शब्द प्रमाण आप्त वाक्यो से उत्पन्न ज्ञान है। आप्त वह है जो पदार्थ को उसी रूप मे देखे जैसा पदार्थ वास्तव मे है। आप्त वाक्य पौरुषेय है। वेदवाक्य अपौरुषेय है। इस प्रकार शब्द प्रमाण के दो प्रकार भेद है—पौरुषेय और अपौरुषेय। वेदवाक्य दो प्रकार का होता है—सिद्धार्थ वाक्य अर्थात् जिस वाक्य से किसी सिद्ध विषय के बारे मे ज्ञान हो और विधायक वाक्य अर्थात् जिस वाक्य से किसी क्रिया के लिये विधि या आज्ञा ज्ञात होती है। यज्ञादि करने के लिये कर्तव्य क्रिया के विधायक वेद वाक्य स्वत प्रमाण है। मीमांसा के अनुसार वेदो का विशेष महत्व कर्म काण्ड के ही कारण है। सिद्धार्थक वाक्य को विधिवाक्य का सहायक माना गया है। विधिवाक्य से पृथक वे निरर्थक

प्रत्यक्ष साक्षात उत्पन्न ज्ञान है।[1] प्रभाकर और कुमारिल दानो ने प्रत्यक्ष के सविकल्प, और निर्विकल्प दो भेद माने हैं। भाट्टमत म न्याय के समान यह माना गया है कि पहले निर्विकल्प और फिर सविकल्प प्रत्यक्ष होता है। प्रत्यक्ष ज्ञान इन्द्रिय और अथ के साक्षात सम्बन्ध से होता है। इस सम्बन्ध मे पहले विषय की प्रतीति मात्र होती है। इसमे केवल यह ज्ञान होता है कि 'वह है'। 'वह क्या है'? इसका ज्ञान अभी नही होता। अत इसे निर्विकल्प प्रत्यक्ष या आलोचन ज्ञान कहते हैं। प्रत्यक्ष की दूसरी अवस्था मे पूर्व अनुभव के आधार पर विषय का स्वरूप निर्धारित किया जाता है। इसमे वस्तु क्या है। अर्थात् उसके नाम, रूप, गुण आदि का ज्ञान होता है जैसे सेव लाल है इस सविशेष ज्ञान को सविकल्प प्रत्यक्ष कहते है। प्रत्यक्ष की समस्त क्रिया मे चार प्रकार के सन्निकर्ष होते हैं—आत्मा के साथ मन का, मन के साथ इन्द्रिय का इन्द्रिय का द्रव्य के साथ तथा फिर उसके रूप आदिगुणो के साथ। सुख दु ख आदि आतरिक विषयो के प्रत्यक्ष मे दो ही प्रकार का सन्निकर्ष होता है अर्थात आत्मा का मन के साथ और मन का अथ के साथ। प्रत्यक्ष से ही समस्त गुणो का ज्ञान होता है। कुछ बौद्धो के अनुसार निर्विकल्प ज्ञान का विषय सवथा स्वलक्षण होता है अर्थात् उसमे कोई प्रकारता नही होती। कुछ वेदान्तियो के अनुसार उसमे शुद्ध निर्वाच्छिन्न सत्ता का ज्ञान होता है। इन दानो के विरुद्ध मीमासको का यह मत है कि इन्द्रियो के साथ सम्पर्क होने पर पहले ही क्षण म बाह्य विषय और उसके अनेक धर्मों का अस्फुट ज्ञान हो जाता है। सविकल्प प्रत्यक्ष के विशद ज्ञान को मीमासक बौद्धअथवा वेदान्ति के समान काल्पनिक अथवा, मिथ्या नही मानते। विषय निर्विकल्प अवस्था मे बीज रूप मे विद्यमान रहते है और सविकल्प अवस्था मे इस बीज रूप के प्रस्फुटित होने से हमे उसी विषय का ज्ञान होता है। अत प्रत्यक्ष मे नामरूपात्मक जगत का सत्य ज्ञान होता है।

प्रत्यक्ष

सादृश जन्य ज्ञान को उपमान् कहते है। इसमे इन्द्रिय के साथ अथ का सन्निकष नही होगा। न्याय के समान मीमासा मे भी उपमान को एक स्वतन्त्र प्रमाण माना गया है। परन्तु मीमासा दशन मे उपमान का अर्थ न्याय से भिन्न है। न्याय के अनुसार पहले आप्त वाक्य द्वारा यह ज्ञात होता है कि नीलगाय गाय के सदृश होती है। फिर जब कोई जगल मे गाय के सदृश कोई पशु देखता है तो उसे यह ज्ञान होता है कि यह पशु नीलगाय है। परन्तु मीमासा के अनुसार प्रत्यक्ष से शब्द प्रमाण की स्मृति की वस्तु की समानता से यह अनुमान लगाया जाता है कि प्रत्यक्ष वस्तु

उपमान

---

१ 'साक्षात् प्रतीति प्रत्यक्षम'।

नही है जो स्मृति मे है। प्रस्तुत उदाहरण म प्रत्यक्ष से यह ज्ञान होता है कि यह विशेष वस्तु गाय के सदृश है। शब्द प्रमाण की स्मृति से यह पहले ही मालूम है कि गाय के समान पशु नीलगाय है। अत यह अनुमान लगाया जाता है कि यह पशु नीलगाय है। अत न्याय के मत के विरुद्ध मीमांसा का यह मत है कि उपमान मे पहले देखी हुई किसी वस्तु को देखकर यह समझा जाता है कि स्मृत वस्तु प्रत्यक्ष वस्तु के सदृश है।

सादृश्य का अर्थ

मीमांसा मे सादृश्य को एक स्वतन्त्र पदार्थ माना गया है। यह गुण नहीं है क्योंकि गुण में गुण नही हो सकता परन्तु गुणों में सादृश्य हो सकता है। इसका अर्थ पूर्ण एकता अथवा तादात्म्य नही बल्कि अधिकांश विषयों मे समानता है। अत इसे सामान्य (जाति) नही कहा जा सकता क्योंकि सामान्य (जैसे मनुष्यत्व) सभी व्यक्तियों (मनुष्यो) मे एक ही रहता है।

उपमान स्वतन्त्र प्रमाण है

उपमान को प्रत्यक्ष अनुमान अथवा शब्द के अन्तर्गत नही माना जा सकता। उपमान प्रत्यक्ष ज्ञान नही है। उपरोक्त उदाहरण मे गाय का ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान नही है। यह स्मृति जन्य ज्ञान भी नही है क्योंकि यद्यपि गाय का ज्ञान पहले ही हो चुका है तथापि उस समय यह ज्ञात नही था कि वर्तमान विषय (नीलगाय) उस गाय के समान होती है। इसी प्रकार शब्द प्रमाण से भी नीलगाय का ज्ञान नही हुआ है क्योंकि गाय को पहले देखा जा चुका है। व्याप्ति पर आधारित न होने के कारण इसे अनुमान भी नही कह सकते। पहले देखी गाय के आधार पर वर्तमान पशु को नीलगाय समझने म यह व्याप्ति नही है। कि 'सभी पदार्थ अपने सदृश पदार्थों के समान होते है। अत उपमान को एक स्वतन्त्र प्रमाण माना गया है।

शब्द

ज्ञात शब्द से पदार्थ का स्मृति के रूप म ज्ञान होने पर वाक्य के अर्थ का जो ज्ञान होता है वह शब्द प्रमाण है। शब्द प्रमाण आप्त वाक्यो से उत्पन्न ज्ञान है। आप्त वह है जो पदार्थ को उसी रूप म देखे जैसा पदार्थ वास्तव मे है। आप्त वाक्य पौरुषेय है। वेदवाक्य अपौरुषेय है। इस प्रकार शब्द प्रमाण के दो प्रकार भेद है—पौरुषेय और अपौरुषेय। वेदवाक्य दो प्रकार का होता है—सिद्धार्थ वाक्य अर्थात् जिस वाक्य से किसी सिद्ध विषय के बारे मे ज्ञान हो और विधायक वाक्य अर्थात् जिस वाक्य से किसी क्रिया के लिये विधि या आज्ञा ज्ञात होती है। यज्ञादि करने के लिये कर्तव्य क्रिया के विधायक वेद वाक्य स्वत प्रमाण है। मीमांसा के अनुसार वेदों का विशेष महत्व कर्म काण्ड के ही कारण है। सिद्धार्थक वाक्य को विधिवाक्य का सहायक माना गया है। विधिवाक्य से पृथक वे निरर्थक

है। अत वेद में जो आत्मा अथवा ब्रह्म आदि के विषय में सिद्धार्थक वाक्य हैं वे किसी न किसी विधायक वाक्य से अवश्य सम्बन्धित हैं। परोक्ष रूप से उनका उद्देश्य लोगों को विहित कर्मों में प्रवृत्त और निषिद्ध कर्मों से निवृत्त करना है। विधायक वाक्य भी पुन दो प्रकार का माना गया है। 'ऐसा इसे करना चाहिये' यह उपदेशक वाक्य है। 'स्वपूर्ण मास याग के द्वारा स्वर्ग का साधन करे' यह 'अतिदेश' वाक्य है।

मीमांसा को सृष्टि कर्ता अथवा संहार कर्ता ईश्वर में विश्वास नहीं है। अत उसके अनुसार वेद ईश्वर के बनाए हुए नहीं हैं। दूसरी ओर वेद मनुष्य के भी बनाए हुए नहीं हैं। अत मीमांसा के अनुसार वेद जगत के समान नित्य हैं। वेदों के

वेद अपौरुषेय हैं

अपौरुषेयत्व के विषय में अनेक युक्तियाँ दी जाती हैं। इनमें मुख्य ये हैं—

(१) दार्शनिक दृष्टि से सबसे महत्वपूर्ण युक्ति शब्द-नित्यत्व वाद पर आधारित है। ध्वनि अनित्य है और शब्द नित्य है। कान से जो हम ध्वनि सुनाई पड़ती है वह नित्य शब्द की प्रतीक है। बार बार उच्चारण करने से जो ध्वनि की उत्पत्ति होती है उसमे एक ही शब्द का बोध होता है। अत ध्वनि और शब्द भिन्न भिन्न है। ध्वनि अनित्य और शब्द नित्य है। उदाहरण के लिये 'क' 'ख' आदि ध्वनियाँ जो हम सुनते है वे 'क' 'ख' आदि वर्णों के प्रकाशक मात्र हैं। दस बार 'क' का उच्चारण करने पर ध्वनियाँ दस होगी परन्तु 'क' वर्ण एक ही रहेगा। इसी प्रकार भिन्न भिन्न व्यक्तियों द्वारा भिन्न भिन्न ध्वनियों से बोला जाने पर भी 'क' वही रहेगा। अत 'क' ध्वनि से उत्पन्न नहीं बल्कि व्यक्त होता। वह हमारे कंठ से स्फुटित होता है उत्पन्न नहीं होता क्योंकि वह अनादि और नित्य है। अत शब्द और अर्थ का सम्बन्ध आधुनिक अथवा सांकेतिक न होकर नित्य और स्वाभाविक है। ऐसे नित्य और मूल भूत शब्दों के भंडार होने के कारण वेद नित्य हैं। नित्य रूप में वे अपौरुषेय है। लिखित अथवा ध्वनित रूप में वे नित्य वेद के प्रकाश मात्र है।

(२) वेदों को इसलिये भी अपौरुषेय कहा जाता है कि उनके कर्त्ता का कही नाम नहीं है। वैदिक मंत्रों में जिन ऋषियों के नाम आए हैं उनको मंत्रों का कर्ता नहीं माना गया है बल्कि केवल द्रष्टा, व्याख्याता अथवा भिन्न भिन्न वैदिक सम्प्रदायों का प्रवर्त्तक ही माना गया है।

(३) वेद कर्मों के अनुष्ठान के फल स्वर्गादि की प्राप्ति होना बतलाते हैं। अत वेद मनुष्य के बनाए हुए नहीं हो सकते क्योंकि मनुष्य को कर्मों और उनके फलों के सम्बन्ध का ज्ञान नहीं हो सकता। अत वेद अपौरुषेय हैं। वेदों से जो धर्म का ज्ञान होता है वह प्रत्यक्ष आदि अन्य प्रमाणों से नहीं हो सकता।

मीमांसा के अनुसार वेद और आप्तवचन में अन्तर है। यह अन्तर दो प्रकार का है—(१) आप्तवचन द्वारा जिसमें पाया ज्ञान प्रत्यक्ष आदि अन्य प्रमाणों से भी मिल सकता है परन्तु वेदों के विषय में ऐसा नहीं है। (२) आप्तवचन पूर्णतः प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों पर निर्भर है परन्तु वेद किसी प्रमाण पर निर्भर नहीं है। वे स्वतः प्रमाण हैं। अन्य ज्ञान का साधन होने के साथ साथ यह ज्ञान की यथार्थता का भी प्रमाण है फलतः वेद ही परम प्रमाण है।

वेद और आप्त वचन में अन्तर

अर्थापत्ति

अर्थापत्ति उस अर्थ के ज्ञान का कारण है जिस अर्थ के बिना दृष्ट या श्रुत विषय की उपपत्ति न हो। उदाहरण के लिए यदि हम यह देखते अथवा सुनते हैं कि देवदत्त दिन में कुछ भी नहीं खाता फिर भी खूब मोटा है तो दिन में कुछ न खाना और मोटे होने में परस्पर विरोध प्रतीत होता है। इन दो विरुद्ध बातों की उपपत्ति तभी हो सकती है जब कि हम यह कल्पना कर लें कि देवदत्त रात्रि में खूब खाता है। इस कल्पना से दोनों बातों में उपपत्ति हो जाती है अर्थात् यह बात स्पष्ट होती है कि देवदत्त दिन में कुछ भी नहीं खाता फिर मोटा है क्योंकि वह रात में खूब खाता है। अतः देवदत्त के रात में खाने की कल्पना अर्थापत्ति हुई। यह कल्पना दृष्ट अथवा श्रुत नहीं है। यह स्वयं की जाती है।

अर्थापत्ति विशिष्ट प्रकार का ज्ञान है

अतः अर्थापत्ति द्वारा उपलब्ध ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं है क्योंकि हमने देवदत्त को कभी रात में भोजन करते नहीं देखा। न ही यह शब्द प्रमाण है क्योंकि हमने देवदत्त को कभी रात में भोजन करते सुना भी नहीं। यह अनुमान भी नहीं क्योंकि शरीर के मोटा होने और रात्रि में भोजन करने में व्याप्ति सम्बन्ध नहीं है अर्थात् यह नहीं कहा जा सकता कि जहाँ जहाँ शरीर का मोटापन हो वहाँ वहाँ रात्रि में भोजन करना पाया जाता है। इस प्रकार अर्थापत्ति प्रत्यक्ष शब्द अथवा अनुमान किसी से नहीं आता। अतः इसका ज्ञान एक विशिष्ट प्रकार का ज्ञान है।

अर्थापत्ति की उपयोगिता

व्यावहारिक जीवन में अर्थापत्ति का बड़ा उपयोग होता है। मान लीजिये कि यह सुनने में आता है कि देवदत्त जो जीवित है घर में नहीं है। इससे तत्काल यह कल्पना हो जाती है कि देवदत्त कहीं और स्थान पर है। जीवित होकर घर में न रहना इन दो बातों में सामंजस्य नहीं है। वाक्य का अर्थ लगाने में भी अर्थापत्ति का प्रयोग होता है। उदाहरण के लिये हम कहीं बालक को बुलाने में या लड़की 'ओ लड़का' 'ए बैरा' आदि शब्दों का प्रयोग करते हैं।

जिसका अर्थ सवारी वाले, इस बात अथवा ऐसा वाक्य से होता है। अथवा यदि कहा जाय कि राम का गाँव जमुना पर है तो इसका अर्थ यही लिया जायेगा कि गाँव जमुना के तट पर है। इन उदाहरणों में मुख्य अर्थ की अनुपपत्ति के कारण अर्थापत्ति के द्वारा गौण अर्थ लिया गया है।

मीमांसा दर्शन के अनुसार अर्थापत्ति के दो भेद है—

अर्थापत्ति के भेद

(१) दृष्टार्थापत्ति अर्थात् जहाँ अर्थापत्ति के द्वारा किसी दृष्टार्थ या देखी हुई घटना की उपपत्ति हो सके। देवदत्त मोटा दिखाई पडता है यह नहीं समझ में आता है जबकि यह कल्पना की जाय कि वह रात में खाता है।

(२) श्रुतार्थापत्ति—अर्थात् जहाँ अर्थापत्ति के द्वारा किसी श्रुतार्थ या सुनी हुई बात की संगति हो सके जैसे राम का गाँव जमुना पर है यह बात तभी समझ में आ सकती है जब कि इस अर्थ की कल्पना की जाय कि राम का गाँव जमुना के तट पर बसा है।

अनुपलब्धि या अभाव

किसी वस्तु के अभाव के साक्षात् ज्ञान को अनुपलब्धि कहते है। प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों के द्वारा जब किसी वस्तु का ज्ञान नही होता तब उसकी अनुपलब्धि का ज्ञान होता है। अनुपलब्धि प्रत्यक्ष नही है। उदाहरण के लिये इस कोठरी में घडा नही है। यहाँ कोठरी मे घडे का अभाव मुझे प्रत्यक्ष से नही ज्ञात होता। अभाव कोई वस्तु नही है जिसका इन्द्रिय के साथ सम्पर्क हो सके। घडे का तो आँख के साथ सम्पर्क हो सकता है परन्तु उसके अभाव का कैसे संपर्क होगा ? अत यह मीमांसक और अद्वैत वेदान्तियो के अनुसार घटाभाव का ज्ञान घट की अनुपलब्धि (अदर्शन) के कारण होता है। अनुपलब्धि-अनुमान भी नही है। उपरोक्त उदाहरण मे यदि यह कहा जाय कि घट के अभाव का घट के अदर्शन से अनुमान किया जाता है तो यह असंगत होगा क्योंकि अदर्शन और अभाव मे व्याप्ति सम्बन्ध नही है अर्थात् यह नहीं कहा जा सकता कि जिस वस्तु का दर्शन नही होता उसका अभाव रहता है। ऐसा मान लेने पर आत्माश्रय दोष (Petitio Principia) हो जायेगा क्योंकि जो सिद्ध करना है उसे हम पहले ही मान बैठते है। इसी प्रकार अनुपलब्धि शब्द या उपमान भी नही है क्योंकि यहाँ न तो आप्तवाक्य से ज्ञान होता है और न सादृश्य से। अत इसे एक स्वतन्त्र प्रमाण मानना पडता है यहा यह ध्यान रखने की बात है कि केवल अनुपलब्धि से अभाव नही सूचित होता जैसे अंधेरी रात मे घडा दिखाई न पडने पर उसका अभाव नहीं कहा जा सकता। वास्तव मे अभाव के ज्ञान का कारण योग्यानुपलब्धि अर्थात् प्रत्यक्ष योग्य वस्तु का प्रत्यक्ष न होना है। यदि दिन के प्रकाश मे कमरे मे घडा नही दिखाई देता तो हम उसका अभाव मानते हैं। जो वस्तु जिस

परिस्थिति मे मिलनी चाहिए उस परिस्थिति मे उसकी उपलब्धि न होने से उसका अभाव माना जाता है।

प्रामाण्यवाद

उपरोक्त प्रमाणो के विचार के प्रसंग में यह प्रश्न भी उठता है कि जब हमें किसी एक प्रमाण के द्वारा पृथक पृथक ज्ञान होता है तब वह ज्ञान स्वयं यथार्थ है अथवा उसकी यथार्थता के लिये किसी अन्य प्रमाण की भी आवश्यकता है? क्या प्रत्येक प्रमाण स्वतन्त्र रूप से ज्ञान उत्पन्न करता है और वह ज्ञान स्वयं यथार्थ है अथवा एक प्रमाण एक ज्ञान उत्पन्न करता है और दूसरा प्रमाण उसकी यथार्थता सिद्ध करता है? इस प्रश्न का विचार प्रामाण्यवाद से होता है। न्याय परतः प्रामाण्यवाद को मानते है और मीमांसक स्वतः प्रामाण्यवाद के समर्थक हैं।

स्वतः प्रामाण्यवाद मे दो मुख्य सिद्धान्त सम्मिलित हैं —

(१) प्रमाण स्वतः उत्पद्यते' अर्थात् ज्ञान की प्रामाणिकता उस वस्तु की उत्पादक सामग्री म ही विद्यमान रहती है।

स्वतः प्रामाण्यवाद

(२) 'प्रामाण्य स्वतः ज्ञायते' अर्थात् ज्ञान के उत्पन्न होते ही उसके प्रामाण्य का भी ज्ञान हो जाता है।

इस प्रकार ज्ञान निश्चयात्मक प्रमाण से ही उत्पन्न होता है और उसके बाद हम उस ज्ञान को जाँच की कसौटी पर कसने की प्रतीक्षा किये बिना ही उसे प्रामाणिक समझने लगते है। प्रत्यक्षज्ञान मे हमे वस्तु साफ साफ प्रतीत होती है। शब्द ज्ञान विश्वस्त पुरुष से सार्थक और स्पष्ट वाक्य के द्वारा होता है। अनुमान पर्याप्त हेतु पर आधारित रहता है। अतः ज्ञान की जाँच करने की आवश्यकता नही। उसमे और क्रिया म कोई विरोध नही है। ज्ञान यथार्थ है। ज्ञान की सत्यता का गुण भी उसी मे रहता है। अत सत्यता स्वतः प्रमाण है। परन्तु इसके विपरीत असत्यता अथवा मिथ्यात्व के लिये अन्य प्रमाण की आवश्यकता है। कोई ज्ञान हमे तभी दोष पूर्ण मालूम हो सकता है जब कि किसी दूसरे प्रमाण से उसका खडन हो। इस प्रकार अनुमान के द्वारा भी किसी ज्ञान के मिथ्यात्व का निश्चय हो सकता है। परन्तु इस अनुमान की आवश्यकता तभी पडती है जबकि विश्वास मे कुछ बाधा हो अन्यथा स्वभावतः ज्ञान विश्वास ही उत्पन्न करता है। प्रत्यक्ष आदि प्रमाणो द्वारा जो ज्ञान हम मिलता है हम उस पर तत्काल आचरण करने लगते है और उस पर तर्क वितर्क किये बिना विश्वास कर लेते है। इसी विश्वास के आधार पर व्यावहारिक जीवन चलता है। प्रभाकर ने स्पष्ट कहा है कि 'ज्ञान' हो और वह मिथ्या हो यह दोनों परस्पर विरुद्ध है। कुमारिल

ने भी इसे स्वीकार किया है। मीमासकों के स्वत प्रामाण्यवादी होने का मुख्य कारण उनका वेद मे विश्वास है। वे वेद को नित्य, अपौरुषेय और स्वत प्रमाण मानते है अत उन्हे ज्ञान को स्वत प्रमाण मानना अनिवार्य है। वेद प्रामाण्य का अर्थ ही स्वत प्रामाण्य है। अत मीमासक प्रत्यक्ष आदि प्रमाणो का भी स्वत प्रमाण मानने लगे। वैसे मीमासा दर्शन मे वेद ही एक मात्र प्रमाण है।

प्रामाण्यवाद के प्रश्न पर मीमासा दर्शन तीन विभिन्न मत है। इनमे सभी स्वत प्रामाण्यवादी है परन्तु विशेषत प्रभाकर ही के मत मे यह

प्रभाकर का मत

मत मिलता है। प्रभाकर के अनुसार ज्ञान स्वप्रकाश तथा स्वत प्रमाण है। स्वप्रकाश होने से ही ज्ञान का स्वत प्रमाण होना सिद्ध हो जाता है अत उस प्रामाण्य के लिये अन्य प्रमाण की आवश्यकता नही होती।

भट्टमत

भट्टमत मे भी स्वत प्रामाण्यवाद को माना गया है परन्तु इसमे प्रामाण्य ज्ञान मे नही बल्कि 'ज्ञानता' मे है। इसमत मे ज्ञान के स्वप्रकाश होने पर भी उसका साक्षात भान नही होता। ज्ञान अतीन्द्रिय है। वास्तव मे घडे के ज्ञान मे, घडे के ज्ञात होने पर उसमे 'ज्ञानता' नामक धर्म उत्पन्न होता है और इस 'ज्ञानता' का ही प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। घडे के ज्ञान होने से ही 'ज्ञानता' होगी और घडे का ज्ञान होना उसके 'ज्ञान' के होने पर ही निर्भर है। इस प्रकार ज्ञान को स्वीकार किये बिना 'ज्ञानता' उत्पन्न नही हो सकती। अत ज्ञानता की उत्पत्ति के लिये यह मीमासक अर्थापत्ति प्रमाण के द्वारा ज्ञान के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। इसी ज्ञानता से ज्ञान का भी प्रामाण्य है।

मुरारिमत

मुरारि मत मे भी 'ज्ञान' से प्रामाण्य का निश्चय नही होता बल्कि 'अनुव्यवसाय' से प्रामाण्य है। इसमे इन्द्रिय और अर्थ का संयोग होने पर 'यह घडा है' यह भान होता है। इसकी सत्यता का निश्चय करने के लिये ज्ञान के बाद 'मै घडे को जानता हूँ' ऐसा 'अनुव्यवसाय' होता है। इसी अनुव्यवसाय से घडे के ज्ञान का भान और उसका प्रामाण्य दोनो ही निश्चित होते हैं। इसमे और नैयायिक मत मे यह भेद है कि नैयायिक मत मे प्रथम ज्ञान मे सन्देह रहता है और मिश्र मत मे सन्देह नही रहता।

नैयायिक मत की आलोचना

मीमासा दर्शन के विरुद्ध नैयायिक 'परत प्रामाण्यवाद' को मानते हैं। उदाहरण के लिये इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से जब यह ज्ञान होता है कि 'यह घडा है' तब इस ज्ञान मे सन्देह होता है। इसे नैयायिक 'व्यवसाय कहते हैं। 'मुझे घट का ज्ञान है' इस ज्ञान को नैयायिक अनुव्यवसाय कहते हैं। इस अनुव्यवसाय से ही व्यवसाय अथवा ज्ञान का प्रामाण्य सिद्ध होता है। अत ज्ञान

स्वतः प्रामाण्य नहीं है बल्कि 'परतः प्रामाण्य' है। नैयायिकों के इस मत का मीमांसकों ने खंडन किया है।

(१) नैयायिकों के अनुसार प्रत्यक्ष ज्ञान का प्रामाण्य उस ज्ञान की उत्पादक कारण सामग्री के अतिरिक्त कुछ कारणों से उत्पन्न होता है। प्रत्यक्ष ज्ञान की प्रामाणिकता तद् विषयक ज्ञानेन्द्रिय की निर्दोषिता पर निर्भर है। परन्तु मीमांसा के अनुसार इन्द्रिय की निर्दोषिता आदि ये अतिरिक्त कारण भी वास्तव में प्रत्यक्ष ज्ञान के ही सहायक कारण हैं।

(२) नैयायिकों के मतानुसार प्रत्यक्ष ज्ञान का प्रामाण्य अनुमान द्वारा निश्चित होता है। इसके विरुद्ध मीमांसकों का कहना है कि इस प्रकार किसी का भी प्रामाण्य सिद्ध न होगा और अनवस्था दोष आ जायगा अर्थात् 'क' का प्रामाण्य 'ख' से सिद्ध करना पड़ेगा 'ख' का प्रामाण्य 'ग' से सिद्ध करना पड़ेगा। इस प्रामाण्य शृंखला का कभी भी अन्त न होगा। इसके अतिरिक्त यदि किसी ज्ञान पर विश्वास करने से पूर्व उसका प्रामाण्य निश्चय करने बैठें और वह प्रामाण्य अन्य प्रमाण पर निर्भर हो तो जीवन के कोई भी कार्य नहीं चल सकते। ज्ञान के विषय में शंका होने पर उसकी सत्यता का निश्चय करने के लिये अनुमान का सहारा अवश्य लेना पड़ता है इसका प्रयोजन ज्ञान के मार्ग की बाधा को दूर करना होता है। बाधा दूर हो जाने पर ज्ञान के साथ उसकी सत्यता तथा उस सत्यता का ज्ञान भी प्रकट हो जाता है। अनुमान द्वारा बाधा का निवारण न होने पर फिर वह ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता।

भ्रान्ति ज्ञान

प्रभाकर मत— अख्यातिवाद

प्रभाकर के मत में भ्रम की सत्ता को ही अस्वीकार किया गया है। अतः इसे अख्यातिवाद कहते हैं। प्रभाकर के अनुसार 'भ्रान्ति' और 'ज्ञान' परस्पर विरुद्ध हैं। ज्ञान स्वप्रकाश है और सर्वदा यथार्थ है। 'भ्रान्ति' एक वस्तु को अन्य वस्तु समझना है। 'सीपी में रजत' और 'सर्प में रज्जु' की भ्रान्ति में 'सीपी' अथवा 'रज्जु' के साथ चक्षु का सन्निकर्ष होता है और ज्ञान होता है 'रजत' का 'सर्प' का। 'रजत' या सर्प का ज्ञान न तो प्रत्यक्ष है और न अनुमान है। यह स्मरणात्मक है और भ्रान्ति नहीं है। स्मरणात्मक ज्ञान नेत्रदोष या मन्द प्रकाश के कारण सीपी और रज्जु के विशेष धर्मों को न देखकर उनके सदृश 'रजत' तथा 'सर्प' के गुणों का स्मरण होने से होता है। यहाँ सीपी ग्राह्य प्रत्यक्ष और रजत स्मृत है। सीपी चक्षु का विषय है और रजत मन का विषय है। अतः दोनों ज्ञान भिन्न और यथार्थ हैं। इन दोनों ज्ञानों को एक

म मिला देना भ्रान्ति है। यह भ्रान्ति दोनो के भेद का ज्ञान न होने से होती है। अत भ्रम स्वय कोई ज्ञान नही है। इसे 'अख्याति' कहते है।

विपरीत ख्यातिवाद के अनुसार भ्रान्ति मे अकार्य मे कार्यता का ज्ञान होता है (अकार्यस्य कार्यतया भानम्)। कुमारिल भट्ट का कहना है कि कभी कभी मिथ्या विषय भी प्रत्यक्ष सा प्रतीत होता है। रज्जु मे सर्प को देखकर जब यह कहा जाता है कि 'यह सर्प है' तो यहा उद्देश्य और विधेय दोनो ही सत्य है। ससार मे दोनो का ही अस्तित्व है। भ्रान्ति का कारण केवल यह है कि यहा दो सत् किन्तु पृथक पदार्थों का उद्देश्य और विधेय के रूप मे जोड दिया गया है। अत भ्रान्ति विषयो मे नही बल्कि ससर्ग सम्बन्ध मे है। ऐसे विपर्यय मे लोग विपरीत आचरण करने लगते है जैसे रज्जु मे सर्प देखकर लोग डर कर भाग पडते हैं। अत अकार्य मे कार्यता का भान होने के कारण यहा विपरीत ख्याति होती है।

कुमारिल मत—विपरीत ख्यातिवाद

प्रभाकर और कुमारिल दोनो के अनुसार भ्रम का प्रभाव ज्ञान की अपेक्षा व्यवहार पर अधिक पडता है। दोनो ही भ्रम को अपवाद रूप समझते हैं। मीमासको के अनुसार साधारणत प्रत्येक ज्ञान सत्य होता है। उसकी सत्यता मे विश्वास के आधार पर ही हमारा व्यावहारिक जीवन चलता है। इस नियम का अपवाद ही भ्रान्ति है। परन्तु अपवाद के कारण सामान्य नियम को अमान्य नही ठहराया जा सकता।

प्राभाकर और भाट्टमत मे सहमति

तत्व विचार

तत्वविचार के दृष्टिकोण से मीमासक वस्तुवाद (Realism) तथा बहुवाद (Pluralism) को मानते हैं। ससार तीन प्रकार के तत्वो से बना है—(अ) शरीर या भोगायतन जिसमे अपने अपने पूर्व कर्मो के अनुसार जीवात्मा भोग करते है। (ब) सुख और दुख भोगने के साधन ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ। (स) भोग के विषय बाह्य वस्तुएँ। प्रत्यक्ष विषयो के अतिरिक्त अनेक अतीन्द्रिय तत्वो को भी माना गया है, जैसे स्वर्ग, नरक, आत्मा और वैदिक यज्ञ के देवता आदि। मीमासा मे ईश्वर का सृष्टि रचना मे कोई विशेष प्रयोजन नही क्योकि सृष्टि कर्मानुसार होती है। परमाणुवाद को मानने वाले मीमासको के अनुसार भी परमाणु ईश्वर के द्वारा सचालित नही होते जैसा कि वैशेषिक मत मे है। परमाणु कर्म के स्वाभाविक नियम के अनुसार सदैव

मीमासा वस्तुवादी और बहुवादी है

इस प्रकार प्रवर्तित होते रहते हैं कि जीवात्माओं के कर्मों के फलों का भोग कराने योग्य एक संसार बन जाता है। मीमांसा के अनुसार जगत अनादि है। वे सृष्टि और प्रलय को नहीं मानते। आत्मा और अणु नित्य अविनाशी पदार्थ हैं। कुछ भाट्ट मीमांसक वैशेषिक के नौ द्रव्यों के अतिरिक्त अन्धकार (तम) और शब्द को भी द्रव्य मानते हैं। वे पाँच पदार्थ—द्रव्य जाति गुण क्रिया और अभाव को मानते हैं।

शक्ति

कार्य-कारण सम्बन्ध के विषय में मीमांसकों ने शक्तिवाद का सिद्धान्त माना है। अंकुर बीज की अदृष्ट शक्ति के कारण उत्पन्न होता है। बीज को भून देने पर अंकुर नहीं उत्पन्न होता क्योंकि तब बीज की अदृष्ट शक्ति बाधित या नष्ट हो जाती है। इसी प्रकार अग्नि में जलाने की, शब्द में अर्थ-बोधकता और निमित्तकारकता तथा प्रमाण में भासित करने की शक्ति है। यदि कारण में यह अदृष्ट शक्ति न होती तो फिर क्यों नहीं कारण (भुना हुआ बीज) रहने पर भी कार्य (अंकुर उगना) की उत्पत्ति क्यों नहीं होती? यह बात अदृष्ट शक्ति को ही मानकर समझाई जा सकती है। भून जाने पर बीज की यह अदृष्ट शक्ति नष्ट हो गई अतः उसके विद्यमान रहने पर भी अंकुर नहीं उपजता।

न्याय मत की आलोचना

न्याय के अनुसार उपरोक्त उदाहरण में अदृष्ट शक्ति के अभाव के कारण नहीं बल्कि बाधकता के कारण बीज से अंकुर नहीं उगता। बाधाएँ न रहने पर कारण कार्य को उत्पन्न करता है। इस पर मीमांसा यह इंगित करते हैं कि न्याय मत के अनुसार भी कार्य की उत्पत्ति के लिये कारण के अतिरिक्त और कुछ बाधा का अभाव मानना पड़ता है। तब फिर अभाव पदार्थ में क्रिया उत्पन्न करने की शक्ति मानने के बजाय भाव पदार्थ (जैसे बीज) में ही यह शक्ति क्यों न मानी जाय?

अपूर्व

अदृष्ट शक्ति के सिद्धान्त के आधार पर ही मीमांसा दर्शन में अपूर्व का सिद्धान्त उपस्थित किया गया है। मीमांसा के अनुसार इस लोक में किये हुए कर्म एक अदृष्ट शक्ति उत्पन्न करते हैं जिसे 'अपूर्व' कहते हैं। यह कर्म का फल भोग कराने की शक्ति समय पाकर फलित होती है। यह अपूर्व का सिद्धान्त कर्मफल के सिद्धान्त का ही एक अंग है। कर्मफल के व्यापक नियम के अनुसार लौकिक या वैदिक सभी कर्मों के फल नियत होते हैं।

आत्मा और उसके बन्धन तथा मोक्ष के विषय मे मीमासा का विचार अन्य आस्तिक दशनो से मिलता जुलता है। मीमामा बहुवादी है। उसके अनुसार प्रत्येक जीव मे पृथक पृथक आत्मा है। इस प्रकार जितने जीव हैं उतनी ही आत्माएँ भी हैं।

आत्मा

आत्मा नित्य अविनाशी द्रव्य है। शरीर के मरने के साथ आत्मा नही मरता बल्कि अपने कर्मों का फल भोगने को विद्यमान रहता है। मीमासको के अनुसार चैतन्य आत्मा का स्वभाव नही है। वह विशेष अवस्था मे उत्पन्न होने वाला एक औपाधिक गुण है। सुषुप्ति तथा मोक्ष की अवस्थाओ मे, इन्द्रिय-विषय सयोग आदि उत्पादक कारणो के न रहने से आत्मा मे चैतन्य भी नही रहता। भाट्ट सम्प्रदाय के अनुसार प्रत्येक विषय ज्ञान के साथ आत्मा का ज्ञान नही होता। उनका कहना है कि आत्मा अहवित्ति (Self-Consciousness) का विषय (Object) है अर्थात् जब हम आत्मा पर विचार करते हैं तब 'मैं हूँ' का बोध होता है।

आत्मज्ञान का स्वरूप

प्रभाकर सम्प्रदाय इस विषय मे भाट्टमत के विरुद्ध है। उसके अनुसार एक आत्मा एक ही ज्ञान का ज्ञाता (Subject) और ज्ञेय (Object) नही हो सकता। अत 'अहवित्ति' की धारणा ही अनुपयुक्त है। इस प्रकार प्राभाकर मतवालो का कहना है कि एक क्रिया मे एक वस्तु एक ही साथ कर्ता और कर्म दोनो नही हो सकती। कर्ता और कर्म के व्यापार परस्पर विरुद्ध हैं। परन्तु भाट्टमत के विरुद्ध इन लोगो का मत है कि आत्मा प्रत्येक विषय ज्ञान मे उसी ज्ञान के द्वारा कर्ता के रूप मे उद्भासित होता है। उदाहरण के लिये जब हम किसी घडे को देखते हैं तो हम कहते है कि "मैं घडा देख रहा हूँ"। यहाँ पर घडे के देखने के साथ 'मैं' का भी बोध होता है। इसके उत्तर मे भाट्टमत का कहना है कि यदि प्रत्येक ज्ञान के साथ आत्मा का ज्ञान भी होता है तो "मे इस घडे को जान रहा हूँ" यह बोध प्रत्येक विषय ज्ञान के साथ होना चाहिये। अत आत्मज्ञान विषयज्ञान के साथ सदैव नही होता। वह कभी होता है और कभी नही होता। अत वह विषय ज्ञान से भिन्न है। कर्ता और कम का विरोध कोरा शब्द-जाल है। यदि दोनो में वास्तविक विरोध है तो "आत्मान बिद्धि" का वैदिक विधि वाक्य तथा यह लौकिक प्रत्यय कि "मैं अपने को जानता हूँ" बिलकुल निरर्थक हो जाते। यदि आत्मा ज्ञान का विषय नही है तो फिर अतीत मे आत्मा के अस्तित्व को कैसे स्मरण रखा जा सकता है। अतीत कालीन आत्मा केवल वर्तमान कालीन आत्मा के स्मृतिज्ञान का विषय हो सकता है क्योकि वह वर्तमान ज्ञान का ज्ञाता तो है नही। इससे स्पष्ट है कि आत्मा ज्ञान का विषय हो सकता है।

वास्तव मे प्राभाकर मत और भाट्टमत दोनों ही-अपने अपने पक्ष में सत्य है। वे वहीं पर गलती करते हैं जहाँ वे विपक्ष की आलोचना करते हैं। आत्मज्ञान का विश्लेषण करने से ज्ञात होता है कि आत्मा का ज्ञान दोनों ही प्रकार से होता है। आत्मा अनुवित्ति का विषय है और दूसरी ओर प्रत्येक विषय के ज्ञान मे भी उसका बोध होता है। इस सत्य की पूर्व और पश्चिम मे अनेक विद्वानो ने पुष्टि की है।

"ज्ञान का ज्ञान कैसे प्राप्त होता है इस प्रश्न पर भी प्राभाकर और भाट्ट मत मे भेद है। प्राभाकर मत के अनुसार प्रत्येक विषय ज्ञान मे तीन अंश विद्यमान रहते है—ज्ञाता ज्ञेय और ज्ञान। उदाहरण के लिये "मैं यह घड़ा जानता हूँ" इस ज्ञान म जानने वाला मैं जाना जाने वाला घड़ा तथा घड़े का जानना अर्थात् ज्ञाता ज्ञेय और ज्ञान तीनो ही विद्यमान है। प्राभाकर मत के अनुसार इन तीनो का ज्ञान एक साथ होता है। इसे 'त्रिपुटी ज्ञान' कहा गया है। प्रत्येक ज्ञान मे यह तीनो प्रकाशित होते हैं। इस प्रकार ज्ञाता और ज्ञेय का प्रकाशक होने के साथ साथ ज्ञान 'स्वय प्रकाश' है। इसके विपरीत भाट्ट मत के अनुसार जैसे अगुली का अग्रभाग अपने को नहीं छू सकता वैसे ही ज्ञान स्वभावत अपना विषय नहीं हो सकता। इस मत के अनुसार ज्ञान का ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं होता बल्कि परोक्ष रूप से ज्ञातता के आधार पर अनुमान के द्वारा प्राप्त होता है। प्रत्येक विषय हमे या तो ज्ञात होता है या अज्ञात रहता है। यदि विषय ज्ञात (प्रकट) रहता है तो उस ज्ञातता (प्राकट्य) के आधार पर यह अनुमान लगाया जाता है कि हम उस विषय का ज्ञान था।

धर्म विचार

मीमासा के धर्म म वेदो का स्थान इतना ऊँचा और महत्वपूर्ण है कि ईश्वर की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। वेद नित्य अपौरुषेय तथा

वेदो का महत्व — ज्ञान के भडार है वे शाश्वत विधियाओं अथवा नियमो के भी आगार हैं जिनपर आचरण करने से धर्म प्राप्त होता है। अत मीमासा के अनुसार धर्म का अर्थ वेद-विहित कर्तव्य है। वेद वाक्य ही कर्तव्यता और अकर्तव्यता का मानदंड है। उसके अनुसार जीवन ही उत्तम जीवन है।

कर्मकांड — मीमासा वैदिक धर्म की व्याख्या है। वैदिक युग म इन्द्र वरुण सूर्य आदि देवताओं की स्तुति और आहुति के द्वारा सतुष्ट करने के लिये यज्ञ किये जाते थे ताकि वे इष्ट-साधन और अनिष्ट का निवारण करें। मीमासा मे कर्मकाड को इतना अधिक महत्व दिया गया कि देवताओं का स्थान गौण हो गया। वे केवल सम्प्रदान

कारक सूचक पद (जिनके लिये हवि या आहुति दी जाती है) मात्र रह गये। इस प्रकार देवताओं की केवल यही उपयोगिता रह जाती है कि उनके नाम पर होम किया जाय। मीमांसा में उनके गुण अथवा धर्म का कोई वर्णन नहीं है। प्रकरण-पंचिका ने तो यहाँ तक कह दिया कि यज्ञ करने का मुख्य उद्देश्य पूजा अथवा देवता को सन्तुष्ट करना न होकर अपने आत्मा को शुद्ध करना है। अपौरुषेय वेद-वाक्य कर्तव्यता का एकमात्र मूल स्रोत है। उसकी आज्ञा का पालन करने के लिये निष्काम भाव से कर्म करने चाहिये। वैदिक कर्मकाण्ड में कुछ काम्य कर्म हैं और कुछ नित्य तथा नैमित्तिक कर्म हैं। काम्य कर्म स्वर्ग अथवा वृष्टि आदि लौकिक कामनाओं के लाभ के लिये किये जाते हैं। नित्य और नैमित्तिक कर्मों का वेद की आज्ञा के रूप में पालन करना चाहिये। इस प्रकार मीमांसा में कर्मकाण्ड अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँच कर निष्काम कर्म (Duty for duty's sake) बन जाता है। इस निष्काम कर्म में और गीता के निष्काम कर्म में बड़ा भारी भेद है। गीता का निष्काम कर्म कर्तव्य के लिये कर्तव्य न होकर 'ईश्वर के लिये कर्म' अथवा ईश्वरार्पण बुद्धि से कर्म है। मीमांसा का निष्काम कर्म कांट (Kant) के 'कर्तव्य के लिये कर्तव्य' के समान ईश्वर-निरपेक्ष (Secular) सिद्धान्त है। कांट के सिद्धान्त से गीता नहीं बल्कि मीमांसा के सिद्धान्त की तुलना करनी चाहिये।

स्वर्ग और मोक्ष

प्राचीन मीमांसकों का मत है—स्वर्गकामो यजेत अर्थात् जो स्वर्ग चाहता है वह यज्ञ करे। इस प्रकार उनके मतानुसार स्वर्ग अर्थात् नित्य निरतिशय आनन्द की प्राप्ति ही जीवन का चरम लक्ष्य है। परन्तु बाद के मीमांसक क्रमशः अन्य भारतीय दर्शनों के समान मोक्ष अर्थात् सांसारिक बन्धनों से मुक्ति को ही सब से बड़ा कल्याण (निःश्रेयस) मानने लगे। इस मत के अनुसार सकाम भाव से कर्म करने पर बारबार जन्म लेना पड़ता है। संसार के सभी सुख दुःख मिश्रित होते हैं, यह जानकर मनुष्य सांसारिक जीवन से ऊब कर सभी प्रकार की कामनाओं को छोड़ देता है। इस प्रकार सकाम कर्मों को छोड़ देने से पुनर्जन्म और भवबन्धन से छुटकारा मिल जाता है। निष्काम भाव से धर्माचरण और आत्मज्ञान के फल-स्वरूप क्रमशः पूर्वजन्म के संस्कार भी लुप्त हो जाते हैं। संस्कारों के लुप्त होने पर कर्मों का बन्धन छूट जाता है और जन्म मृत्यु का चक्र सदा के लिये समाप्त हो जाता है। 'प्रकरण पंचिका' के अनुसार मोक्ष में आत्मा शरीर, इन्द्रिय मन सभी के बन्धनों से मुक्त हो जाता है और एक बार बन्धन का नाश हो जाने पर फिर कभी जन्म मरण के जाल में नहीं फँसता। शरीर, इन्द्रियों और मन से पृथक होने पर मुक्त आत्मा में चैतन्य नहीं रहता अतः वह सुख दुःख का अनुभव

नहीं कर सकता। मीमांसा के अनुसार मोक्ष की अवस्था आनन्द की अवस्था नहीं है। मोक्ष में आत्मा सुख दुःख से परे अपने यथार्थ स्वरूप में रहना है। इस स्वरूपावस्था में आत्मा में वास्तविक चैतन्य नहीं बल्कि केवल सत्ता और चैतन्य की निहित शक्ति विद्यमान रहती है। मोक्ष की अवस्था का इससे अधिक वर्णन नहीं किया जा सकता। यहाँ यह ध्यान रखने की बात है कि परवर्ती-काल के कुछ भाट्ट भी मोक्ष को वेदान्त के समान आनन्दानुभूति मानने लगे थे। स्वर्गीय डा० पशुपति नाथ शास्त्री सहित अनेक विद्वानों ने इस बात की पुष्टि की है।[1]

आलोचना

यद्यपि मीमांसा को छः भारतीय दर्शनों में स्थान दिया गया है परन्तु आध्यात्म शास्त्र के रूप में अथवा तत्व ज्ञान के रूप में दर्शन मीमांसा में नहीं मिलता। अतः वास्तव में मीमांसा दर्शन नहीं बल्कि कर्मशास्त्र है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि यह दर्शन के विद्यार्थियों के लिये बिल्कुल व्यर्थ है क्योंकि

मीमांसा दर्शन वास्तव नहीं है

भारतीय दर्शन में तत्व ज्ञान और कर्म में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। मीमांसा को पूर्व मीमांसा कहने का अर्थ यह है कि यह उत्तर मीमांसा से पूर्व का है। परन्तु वास्तव में यह ऐतिहासिक अर्थ में इतना अधिक 'पूर्व' नहीं है जितना कि तार्किक (Logical) अर्थ में। पूर्व मीमांसा वेद के कर्मकाण्ड की व्यवस्थित रूप देता है। उत्तर मीमांसा ज्ञानकाण्ड को व्यवस्थित करता है और क्योंकि ज्ञान से पहले कर्म का ज्ञान आवश्यक है अतः पूर्व मीमांसा नाम सार्थक है। उत्तर मीमांसा अधिक विकसित तथा उन्नत व्यक्तियों के लिये है। कर्मकाण्ड का शास्त्र होने के कारण मीमांसा अन्य दर्शनों से बिल्कुल भिन्न है। डा० राधाकृष्णन के शब्दों में "जगत के एक दार्शनिक विवरण के रूप में यह अत्यधिक अपूर्ण है। यह परम तत्व और उसके जीव और जगत से सम्बन्ध का विवेचन नहीं करता। उसमें बन्धन और मोक्ष का विचार अन्य दर्शनों से ही ले लिया गया है। उसमें आत्मा का विचार अत्यन्त अविकसित है। ज्ञान का स्वतः प्रामाण्यवाद का सिद्धान्त भी सामान्य बुद्धि का सिद्धान्त है। ज्ञान में चित्त और विषय के सम्बन्ध की दार्शनिक समस्याओं को कुछ भी नहीं सुलझाया गया है।

मीमांसा में धर्म का स्वरूप भी अविकसित है। वेदों के देवताओं का स्थान मीमांसा में इतना अधिक गौण हो गया है कि वे व्यर्थ से प्रतीत होने लगे हैं। कर्मकाण्ड ने धर्म की आत्मा को इतना अधिक आच्छादित कर लिया कि उसका ईश्वर से कोई सम्बन्ध न रहा और वह कर्म का पर्याय होकर रह गया। मीमांसा का निष्काम कर्म भाव के "कर्तव्य के लिये कर्तव्य" के सिद्धान्त

मीमांसा का धर्म कर्मकाण्ड है

1 Introduction to th Purva Mimansa.

के समान स्वतन्त्र चिन्तन पर नहीं बल्कि वेदों की आज्ञा या अधिकार वाक्यों पर निर्भर है। डा० राधाकृष्णन ने ठीक ही कहा है कि "इसमें धर्म में इस प्रकार की बात बहुत कम है जिससे हृदय स्पंदित और प्रकाशित हो उठे।" चमत्कार की इसी अति के कारण मीमांसा के बाद वैष्णव, शैव, तन्त्र तथा पंचरात्र की तीव्र प्रतिक्रियाएं हुईं और धर्म को चमत्कार की भूमिकाओं से मुक्त करने की चेष्टा की गई।

मीमांसा का महत्व

परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि मीमांसा का कोई महत्व ही नहीं है। प्रो० मैक्स-मुलर के शब्दों में "इस शास्त्र में दर्शन के लिए बहुत कम स्थान है परन्तु धर्म तथा कर्मादि विषय के शुद्ध एवं पूर्ण अवश्य हैं, जिनमें विषय का ध्यान तथा उनके फलों के स्वभाव का विवेचन करने का अवसर मिलता है।" बादरायण का ब्रह्मसूत्र 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' इस सूत्र से प्रारम्भ होता है। जैमिनी मीमांसा दर्शन के प्रारम्भ में यह सूत्र मिलता है 'अथातो धर्म जिज्ञासा'। इस प्रकार जहां बादरायण के सूत्रों में ब्रह्मज्ञान मिलता है वहां मीमांसा सूत्र में धर्मज्ञान अथवा कर्त्तव्यज्ञान मिलता है। इसी कारण जैमिनी को बादरायण आदि के समकक्ष स्थान दिया गया है। डा० दास गुप्ता (Das Gupta) के शब्दों में "एक हिन्दू के लिए मीमांसा साहित्य का महत्व वास्तव में अत्यधिक है क्योंकि सभी वैदिक कर्म ही उनके सिद्धान्तों के अनुसार नहीं किये जाते हैं बल्कि उनसे नित्यकर्मों की व्यवस्था करने वाला स्मृति साहित्य और वर्तमान काल में भी हिन्दुओं के सभी धर्म कर्म (Ceremonials and Rituals) का विवेचन और निर्देश मिलता है।" हिन्दू कानून के विषय में स्मृतियों के नियमों की भी मीमांसा के सिद्धान्तों के अनुसार व्याख्या की जायेगी। मीमांसा, जैसा कि उसके नाम से स्पष्ट है मुख्यतः वैदिक मन्त्रों और इस प्रकार यज्ञादि क्रियाओं की व्याख्या के नियमों से सम्बन्धित है। दार्शनिक दृष्टि से चाहे इस सबका महत्व उतना न हो परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से इसका अत्यधिक महत्व है। अतः मीमांसा को अन्य भारतीय दर्शनों के समान दर्शनशास्त्र न मानने पर भी उसको वैदिक कर्मकाण्ड के क्षेत्र में और उससे सम्बन्धित हिन्दू जीवन के अनेक क्षेत्रों में अत्यधिक महत्वपूर्ण शास्त्र मानना पड़ेगा।

चतुर्दश अध्याय

अद्वैत दर्शन

अद्वैत वेदान्त दार्शनिक जगत का भारत की अद्वितीय देन है। शंकर के पूर्व और पश्चात् भारत वर्ष में कितने ही दार्शनिक मत स्थापित हुए जो कि भिन्न भिन्न क्षेत्र में अद्वितीय सिद्ध हुए परन्तु सर्वांगीण दार्शनिक दृष्टिकोण से जो स्थान अद्वैत का है वह किसी का भी नहीं। उपनिषदों के दर्शन की जो व्याख्या शंकर ने उपस्थित की वह चाहे भक्तिमार्गी साधकों को सन्तुष्ट न करे परन्तु दार्शनिक विवेचन की दृष्टि से अति श्रेष्ठ है। डा राधाकृष्णन के शब्दों में 'सूक्ष्म और गंभीर विचारों से भरी हुई शंकर की रचनाओं को बिना यह अनुभव किये पढ़ना असम्भव है कि हम एक अत्यन्त सूक्ष्म तत्त्वदृष्टि और पूर्ण आध्यात्मिकता से युक्त मस्तिष्क के सम्पर्क में हैं उनका दर्शन पूर्ण रूप में उपस्थित है जिसमें न किसी पूर्व की आवश्यकता है और न अपर की चाहे हम सहमत हों अथवा असहमत उनके मस्तिष्क का तीव्र प्रकाश हमें जहाँ हम थे वहीं कभी नहीं छोड़ता है।'[1]

प्रमाण विचार

शंकर के अनुसार प्रमाण हमें ज्ञान नहीं देते बल्कि अविद्या की ही निवृत्ति करते हैं क्योंकि प्रमाणों में सदा प्रमेय और प्रमाता का भेद होता है और ज्ञान सब प्रकार के भेदों से परे है। परन्तु अविद्या का हटना ही ज्ञान का होना है जैसे कि सर्प के अध्यास के दूर होते ही रस्सी का ज्ञान हो जाता है। अविद्या के हटने और ज्ञान के होने में वस्तुतः कुछ भी भेद नहीं है। अविद्या का हटना ही ज्ञान का होना है क्योंकि ज्ञान तो सदैव ही उपस्थित है अविद्या ही उसपर आवरण डाले रहती है। प्रमाण अविद्या के ही क्षेत्र में कार्य करते हैं। ज्ञान को किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं क्योंकि वह स्वयं अपना प्रमाण है। अतः ज्ञान अर्थात् आत्मा और ब्रह्म के स्वरूप का विशद विवेचन करने के कारण अद्वैत दर्शन में प्रमाण विचार का स्थान गौण है। प्रो मैक्समूलर के शब्दों में इन्द्रियों के द्वारा उपस्थित नानात्मात्मक जगत को असत सिद्ध करने वाला एक सिद्धान्त उसी समय इन्द्रियों

अद्वैत दर्शन में प्रमाण विचार गौण है

1 Indian Philosophy Vol II, P 446—47

के प्रमाण अथवा उसी पर आधारित अनुमान के प्रमाण का सत्य अथवा ज्ञान की पुष्टि के लिये उधृत नही कर सकता यद्यपि वह जीवन के समस्त साधारण कार्यो के साधन मे उनके महत्व को तत्काल मान सकता है। अत यद्यपि शकर ने पारमार्थिक दृष्टिकोण से समस्त प्रमाणो को और उनसे मिले ज्ञान को असद माना ह। परन्तु पारमार्थिक ज्ञान प्राप्त होने तक व्यावहारिक जगत मे उनके महत्व से कभी इनकार नही किया है।

प्रमा का स्वरूप

वेदान्त मे 'प्रमा' का अर्थ उस ज्ञान से है जो कभी बाधित नही होता[1]। 'प्रमा' मे अधिकतर स्मृति ज्ञान को नही सम्मिलित किया गया है। अत प्रमा वह ज्ञान है जो पहले कभी प्राप्त न हुआ (अनधिगत) हो। यहाँ पर यह आक्षेप किया गया है कि प्रत्यक्ष मे भी प्रत्येक क्षण के प्रत्यक्ष के साथ पिछले क्षण के प्रत्यक्ष ज्ञान को जोडने से ही पूर्ण वस्तु का ज्ञान होता है। परन्तु वेदान्त के अनुसार जितनी देर एक विषय का प्रत्यक्ष होता है उतनी देर एक ही वृत्ति रहती है अत उसमे पूर्वा पर का प्रश्न नही आता।

प्रमाण के भेद

वेदान्त के अनुसार प्रमाण तीन हैं प्रत्यक्ष, तर्क और श्रुति —

(१) **प्रत्यक्ष**—विशेष चित्तवृतियो के द्वारा वाह्य विषयो का आकार ग्रहण करके विषयीगत और विषयगत चैतन्य का अभेद है।[2] अत वेदान्त के अनुसार प्रत्यक्ष मे विषयी और विषय एक हो जाते है क्योकि वस्तुत दोनो एक ही चैतन्य हैं। अज्ञान के आवरण के कारण विषय विषयी से पृथक रहता है। परन्तु इन्द्रियो के द्वारा अन्त करण का वस्तु से साक्षात सयोग देने पर अन्त करण विषय का आकार ग्रहण कर लेता है और इस प्रकार अज्ञान का आवरण हट जाने से आत्मा से भासित अन्त करण उस विशेष विषय के रूप मे चमकने लगता है। वेदान्त की प्रत्यक्ष की वह व्याख्या वैज्ञानिक दृष्टि से अत्यन्त अपूण होते हुए भी इस सत्य पर प्रकाश डालती है कि विषयी और विषय दोनो एक ही चैतन्य हैं और अज्ञान के कारण पृथक दिखाई पडते हैं।

(२) **तर्क अथवा अनुमान**—अनुमान व्याप्ति ज्ञान पर आधारित पिछले सस्कारो के कारण उत्पन्न हुआ ज्ञान है। व्याप्ति ज्ञान अचेतन पर सस्कार डालता है। और फिर किसी वस्तु को देखकर जब वह सस्कार जाग्रत हो जाता है तब अनुमान होता है। उदाहरण के लिये यदि हमे आग मे धुऐं की व्याप्ति का ज्ञान है

---

१ अबाधितार्थ विषय ज्ञानत्व।

२ तत्तन्द्रिय योग्यविषया वाच्छिन्न चैतन्या भिन्नत्वम् तत्तदाकार विषयावाच्छिन्न ज्ञानस्य तत्तदंशे प्रत्यक्षत्वम्।

तो कभी भी धुएँ को देखकर उस व्याप्ति ज्ञान का संस्कार जाग्रत होने से हम आग का अनुमान करते हैं। व्याप्ति ज्ञान दो वस्तुओं को साथ देखने और उनके व्याप्ति सम्बन्ध में कभी भी विरोध (व्यभिचार ज्ञान) न पाने से होता है। वेदान्त के अनुसार व्याप्ति सम्बन्ध स्थापित करने के लिये एक ही दृष्टान्त पर्याप्त है अनेक दृष्टान्तों की आवश्यकता नहीं है।[1] यदि सीपी में चाँदी का आभास मिथ्या पाते हैं तो इसी के आधार पर यह अनुमान कर सकते हैं कि सभी वस्तुएँ (ब्रह्म के अतिरिक्त) मिथ्या हैं।[2] अत वेदान्त केवल अन्वय व्याप्ति को मानता है।। इसलिये उसमें न्याय के केवल अन्वयी केवल व्यतिरेकी तथा अन्वयव्यतिरेकी आदि व्याप्तियों का नहीं माना गया है। न्याय के विरुद्ध वेदान्त के अनुमान में तीन ही अवयव माने हैं—प्रतिज्ञा हेतु और उदाहरण। जैसे—

प्रतिज्ञा—ब्रह्म से भिन्न सभी मिथ्या है।

हेतु—क्योंकि सभी वस्तुएँ ब्रह्म से भिन्न हैं।

उदाहरण—इसलिये सभी वस्तुएँ मिथ्या हैं जैसे सीपी में चाँदी।

(६) श्रुति अथवा आप्तवचन—वेदान्त में आगम अथवा वेद को एक स्वतन्त्र प्रमाण माना गया है वेद अपौरुषेय है और नित्य है यद्यपि लिखित ग्रन्थ रूप में वे नित्य नहीं हैं। अद्वैत के अनुसार वेद सृष्टि के साथ प्रारम्भ होते हैं और उसी के साथ ही विलीन हो जाते हैं उन्हीं को लेकर ईश्वर सृष्टि करता है। प्रलय के बाद वे ईश्वर के मस्तिष्क में रहते हैं और फिर अगली सृष्टि तक ईश्वर उन्हें याद रखता है और अभिव्यक्त करता है। वेदों की निरपेक्षता को सिद्ध करने के लिये वेदान्त मीमांसा और न्याय के समान तर्क नहीं करता। वेद स्वतः प्रमाण है। स्मृति तभी प्रमाण है जब वह श्रुति पर आधारित हो।

उपमान अर्थापत्ति शब्द और अनुपलब्धि के विषय में अद्वैत वेदान्त के मत में सहमत है। अत उनका पृथक विवेचन अनावश्यक है।

तर्क और श्रुति का सम्बन्ध

वेदान्त के प्रमाण विचार के प्रसंग में तर्क और श्रुति का सम्बन्ध भी विचारणीय प्रश्न है क्योंकि अपने ग्रन्थों में शंकर कभी एक और कभी दूसरे का समर्थन करते दिखाई पड़ते हैं। श्रुति का तो उन्होंने यहाँ तक समर्थन किया है कि अपने को केवल टीकाकार मात्र मान लिया है। दूसरी ओर वे कभी कभी तर्क को श्रुति से बढ़कर मानते हैं। एक स्थान पर वे कहते हैं कि तर्क श्रुति की सहायता पर आधारित

---

१ भूयोदर्शनम् सकृद्दर्शनम् वेति विशेषो नादरणीयः।

२ ब्रह्म भिन्नम् सर्वम् मिथ्या ब्रह्म भिन्नत्वात् यदेवम् तदेवम् यथा शुक्तिरजतम्।

है (श्रुत्यैव सहायत्वेन तक रूप अभ्युपतत्वात)। दूसरे स्थान पर उन्होने कहा है कि ब्रह्मज्ञान के लिये अकेला तक ही पर्याप्त है (तर्केणापि शक्यते ज्ञानुम)। कठोपनिषद की टीका मे सर्व प्रथम तर्क का खडन किया गया है। यहाँ पर कहा है कि यह ज्ञान (तत्व ज्ञान) तक मे प्राप्त नही किया जा सकता (नैषा तर्केण मतिरापनेय)। किन्तु यहा पर तक का अर्थ शकर ने 'शुष्क तर्क' मे लिया है। शकर 'व्याख्यानाभास' और 'सम्यग्व्याख्यान' मे भेद करते हैं। तक के विरुद्ध उपरोक्त मत को पुष्ट करने के लिये शकर ने कई तर्क दिये हैं--

तर्क का खडन

(१) यदि तक को निरकुश छोड दिया जाय तो वह कुछ भी कल्पना कर सकता है (उत्प्रेक्षया निरकुशत्वात)। अत तर्क श्रुति पर आधारित होना चाहिए।

(२) व्यक्तियो की बुद्धि मे भेद होने के कारण एक व्यक्ति क तर्क को दूसरे व्यक्ति के अधिक उपयुक्त तर्क से काटा जा सकता है—(**पुरुष मति वैरुप्यात**)।

(३) तक हमे कही नही ले जाता। हम वास्तविक सत्यो का निर्णय करने के लिये भूत, भविष्य और वर्तमान काल के तार्किको को एक स्थान पर एकत्रित नही कर सकते।

तर्क के विरुद्ध अपने उपरोक्त तर्को के विरुद्ध शकर निम्नलिखित छ तर्को की कल्पना करते है —

इस खडन के विरुद्ध सम्भावित तर्क

(१) तकस्य अप्रतिष्ठत्वम् तर्केणैव प्रतिष्ठाप्यते। अर्थात् तक की प्रतिष्ठा का खडन करने के लिये भी तक की ही आवश्यकता है।

(२) परस्पर विरुद्ध श्रुति वाक्यो मे सत्य का निश्चय करने के लिये तर्क की आवश्यकता अनिवार्य है।

(३) यदि एक व्यक्ति के तर्को को दूसरे व्यक्ति के अधिक उत्तम तर्को से काटा जा सकता है तो इससे तक की प्रामाणिकता ही सिद्ध होती है क्योकि आत्मपरीक्षा (Self Criticism) तो तर्क का लक्षण ही है।

(४) तक को न मानने का परिणाम सशयवाद अथवा अज्ञेयवाद ही हो सकता है जिससे तक के बिना निकलना असभव है।

(५) श्रुति मे भी तर्क की प्रामाणिकता का समर्थन किया गया है। निरुक्त के लेखक यक्ष ने कहा है कि तर्क स्वय ऋषि है (तर्को वै च ऋषि)।

(६) यदि तक किसी निश्चय पर नही पहुँचाता तो इसका कारण यह है कि वह यथार्थ तक नही है। वास्तव मे तक भी दो प्रकार के हैं—शुष्क तर्क

अथवा सालम्ब तर्क और शुद्ध तर्क अथवा निरालम्ब तर्क। इनमें पहला असमीचीन है। दूसरा हमें यथार्थ ज्ञान देता है।

इन तर्कों के कारण शंकर यह मान लेते हैं कि कुछ विषयों में तर्क अवश्य प्रामाणिक है (क्वचित् विषये तर्कस्यापि प्रतिष्ठा)। परन्तु फिर भी अभी वह यह नहीं मानते कि तर्क ब्रह्म के विषय में प्रामाणिक है।

तर्क का समर्थन

परन्तु शीघ्र ही शंकर तर्क का घोर समर्थन करते दिखाई पड़ते हैं। अपने शारीरिक भाष्य के तर्कपाद में शंकर केवल तर्क के आधार पर ब्रह्म को सिद्ध करने का प्रयास करते हैं —

"इहतु केवलेन तर्केण ब्रह्म प्रतिष्ठाप्यते।

गौडपाद कारिका के भाष्य में तो शंकर यहां तक कह देते हैं कि ब्रह्म तर्क से भी जाना जा सकता है। (शक्यते तर्केणापि ज्ञातुम्)।

तर्क और श्रुति दोनों अन्योन्याश्रित और ज्ञान पर आधारित हैं

इस प्रकार शंकर कभी श्रुति का समर्थन करते हैं और कभी तर्क का। श्री रामकृष्ण सिद्धान्त मुक्तावली का लेखक प्रकाशानन्द रत्नप्रभा का लेखक गोविन्दानन्द और सुरेश्वर यह मानते हैं कि शंकर ने श्रुति को तर्क से श्रेष्ठ माना है। डॉ अनुकूलचन्द्र मुकर्जी यह मानते हैं कि शंकर ने तर्क को श्रुति से श्रेष्ठ माना है। परन्तु बाद फिर उन्होंने तर्क और श्रुति के सम्बन्ध के प्रश्न का यह सुलझाव उपस्थित किया है कि श्रुति और तर्क दोनों ज्ञान पर आधारित हैं और वही उनके विरोध में सत्य का निर्णय करता है। इस मत को मानने से तर्क और श्रुति दोनों के विषय में शंकर के वचनों का सामञ्जस्य हो जाता है। यह ज्ञान ब्रह्म का सहज अनुभव साक्षात् प्रतीति है। तादात्म्य ज्ञान में परस्पर विरोधी परस्पर पूरक हो जाते हैं। तर्क और श्रुति अन्योन्याश्रित हैं और दोनों ज्ञान पर आधारित हैं।

तत्त्व विचार

१—ब्रह्म

मैक्समूलर (Max Muller) के अनुसार सम्पूर्ण शांकर वेदान्त निम्न श्लोकार्द्ध में प्रकट किया जा सकता है —

ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः

शंकर के अनुसार ब्रह्म सर्वोच्च परमार्थ सत्य है।[1] यह पूर्ण एवं

---

१ एकमेव हि परमार्थ सत्यं ब्रह्म।

—तैत्तरीय उप० शांकर भाष्य II. १।

एक मात्र सत्य है। वही मानवीय पुरुपार्थ का चरम लक्ष्य[1] और ज्ञान का आधार है। परम सत्य अवाधित सत्य है, वह सत है, सनातन है और अपरिवर्तनीय है। वह सर्वोच्चज्ञान है। ब्रह्म के ज्ञान से ससार का ज्ञान, जो वास्तव मे अज्ञात है, नष्ट हो जाता है क्योकि जगत के ज्ञान का आधार ब्रह्म ज्ञान है। अत ब्रह्मज्ञान चिरतन सत्य है।

परम सत्य

ब्रह्म स्वय ज्ञान है, ज्ञाता है और ज्ञेय भी है। ज्ञान की प्रक्रिया के ये भेद ब्रह्म ज्ञान के विपय मे लागू नही होते। ब्रह्म समस्त वस्तुओ का मत है। वही एक मात्र परम मत है। शेप सभी का व्यावहारिक स्तर पर ही अस्तित्व है। वह सर्व निरपेक्ष औरस्वय प्रकाश है। अत वह अद्वैत है वह निर्विशेप चिन्मात्र और निरुपाधि है।

अद्वैतम् ब्रह्म

शकर के अनुसार एक मात्र निर्गुण ब्रह्म ही परम मत्य है। उपनिपदो ने ब्रह्म को सगुण और निर्गुण दोनो रूपो मे बखान किया है। प्रथम को अपरब्रह्म और दूसरे को परब्रह्म कहा गया है। परब्रह्म निरुपाधि, निर्विशेष और निर्गुण है। अपरब्रह्म सोपाधि, सविशेप और सगुण है। परब्रह्म निष्प्रपञ्च और अपरब्रह्म सप्रपञ्च है। सत, चिद् और आनन्द परब्रह्म के स्वरूप लक्षण हैं। रामानुज ने सगुण और निर्गुण दोनों रूपो को परम ब्रह्म माना है। परन्तु शकर के अनुसार ब्रह्म के दो रूप मानना अज्ञान है वास्तव मे एक मात्र निर्गुण ब्रह्म ही सत्य है। अज्ञान के कारण वह सगुण ईश्वर और सीमित जीव के रूप मे दिखाई पडता है। उपासक और उपास्य का भेद केवल व्यावहारिक स्तर पर ही उचित है। पारमार्थिक स्तर पर ब्रह्म समस्त कर्ता और कम के विचार से परे, वुद्धि से परे और निरपेक्ष ज्ञान का विपय है। शाकर मत मे धर्म का केवल व्यावहारिक महत्व है। निर्गुण की उपासना नही की जा सकती। मानव हृदय निर्गुण मे सतोप नही पा सकता शकर अद्वैत के विरुद्ध रामानुज का यही तक है।

ब्रह्म निर्गुण ही है

शकर के अनुसार आत्मा और ब्रह्म मे कोई भेद नही है। दोनो ही इन्द्रिय, मन और वुद्धि से परे है। जो कुछ गुण मे है वही जगत मे भी है। ब्रह्म और आत्मा के इस समन्वय से शकर ने सब प्रकार के द्वैत का निराकरण करके पारमार्थिक, ज्ञानात्मक एव मूल्यात्मक अद्वैत की स्थापना की। आत्मा के रूप मे ब्रह्म घट घट व्यापक है। जो विभु मे है वही अणु मे भी है। आत्मा और ब्रह्म के इस तादात्म्य की पृष्ठ भूमि मे उपनिपद मे वर्णित 'असीम का तर्क' (Logic of

आत्मा च ब्रह्म

१ ब्रह्मानुभवो ब्रह्म साक्षात्कार परम पुरुषार्थ —भामती

Infinite) है। सीमित जगत में समान से समान निकलने पर कुछ नहीं बचता। परन्तु असीम के क्षेत्र में पूर्ण से पूर्ण निकलने पर पूर्ण ही बचता है।[1] वास्तव में शांकर मत के अनुसार जगत की सृष्टि प्रलय और जीवन तथा ईश्वर के भेद इत्यादि का केवल व्यावहारिक महत्व है। पारमार्थिक दृष्टि से एक मात्र ब्रह्म ही परम सत्य है। वही आत्मा भी है और वही अज्ञान के कारण जीव जगत और ईश्वर के रूप में दिखाई देता है।

सच्चिदानन्द

ब्रह्म सत भी है और चित भी शंकर के अनुसार जो सत है वही चित है और जो चित है वही सत भी है।[2] ज्ञान सत्ता का ज्ञान है और सत्ता स्वयं ज्ञान स्वरूप है। इस प्रकार शंकर ने पारमार्थिक सत्य और ज्ञानात्मक सत्य में कोई भेद नहीं माना है। ब्रह्म ज्ञान को ही मोक्ष माना गया है। शंकर ने ब्रह्म और मोक्ष तथा आत्मा का एक ही शब्दों में वर्णन किया है। वस्तुतः ये तीनों एक ही हैं। वेदान्त का यह आध्यात्मिक ज्ञानात्मक और मूल्यात्मक समन्वय दर्शन के इतिहास में अद्वितीय है। ब्रह्म में किसी प्रकार का भेद नहीं है। ब्रह्म ज्ञान में ज्ञाता ज्ञान तथा ज्ञेय का भेद नहीं। उसमें जागृत स्वप्न सुषुप्ति चेतन अचेतन अविचेतन किसी प्रकार का अन्तर नहीं। वह नाम रूप जगत से परे है। उसमें आविर्भाव और तिरोभाव नहीं है। सब प्रकार के गुणों से परे मानकर भी शंकर ने ब्रह्म को निषेधात्मक नहीं माना है। निरपेक्ष सहज ज्ञान द्वारा ब्रह्म का अनुभव किया जा सकता है। ब्रह्म आनन्द स्वरूप है। परन्तु यह 'आनन्द' केवल अनुभव का विषय है। अतः आनन्द कहने से ब्रह्म सगुण नहीं बन जाता। वास्तव में जहाँ जहाँ शंकर ने ब्रह्म का वर्णन किया है वह 'नेति नेति' के भाव में ही है। ब्रह्म सत है क्योंकि वह असत नहीं है चित् है क्योंकि वह अचित् नहीं है आनन्द है क्योंकि वह दुःख स्वरूप नहीं है। सनातन है क्योंकि कालातीत है। अपरिवर्तनीय है क्योंकि देश से परे है। ज्ञान उसका गुण नहीं बल्कि स्वरूप है। वह निर्गुण है क्योंकि गुणातीत है।

---

१ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

२ सदेव बोधः बोध एवं च सत्ता

—शांकर भाष्य III १—२१

३ ज्ञान-बोध-ज्ञातृभिररहितं परमार्थ तत्व दर्शनम्—आत्मबोध

—शांकर भाष्य ७४ १

शंकर ने ब्रह्म को निर्गुण बतलाते हुये भी उसको शून्य मानने मे सवदा इनकार किया है यद्यपि उस पर 'प्रच्छन्न बौद्ध' होने का आरोप लगाया जाता है। उपनिषदो ने ब्रह्म को गुणयुक्त निर्गुण अथवा "निर्गुण गुणी" कहा है। शकर के शब्दो मे केवल मन्द बुद्धि जन ही निर्गुण ब्रह्म को शून्य अथवा असद समझते हैं।[1] ब्रह्म मे देश, काल, गुण, गति, फल इत्यादि का कोई भेद नही। वह भूत भविष्य, वतमान, काय, कारण इत्यादि सभी भेदो से परे है। वह व्यावहारिक जगत से परे है (सव व्यवहार गोचरातीत) ब्रह्म, इन्द्रिय, मन और बुद्धि से परे अवश्य है परन्तु इसका अर्थ यह नही कि वह अज्ञेय हो। वह अपरोक्षानुभूति का विषय है।[2] वास्तव मे समस्त ज्ञान द्विपक्षीय है जहाँ उससे ज्ञेय का ज्ञान होता है वहाँ ज्ञाता का भी ज्ञान होता है क्योकि बिना ज्ञाता के ज्ञान असभव है। अत जगत का ज्ञान ब्रह्म के प्रकाश के कारण है। श्वेताश्वतार उपनिषद के शब्दो मे "उसके चमकने से सभी चमकते हैं। उसी के प्रकाश से ये सब ज्योतित हैं"।

ब्रह्म शून्य नहीं है

ब्रह्म पूर्ण है। उसमे पृथक पृथक भाग नही हैं। वह एक रस है। ब्रह्म शब्द 'बृह्' धातु से निकला है। अत शाब्दिक अर्थ से भी ब्रह्म जगत से अतिशय और अतीत है।[4] रामानुज ने ब्रह्म मे स्वगत भेद माना है। सासारिक वस्तुओ का सजातीय अवथा विजातीय वस्तुओ से भेद होता है। परन्तु ब्रह्म अद्वैत होने के कारण सजातीय, विजातीय और स्वगत सभी भेदो से परे है (सजातीय विजातीय, स्वगत भेद रहितम्)। वह असत नही है परन्तु फिर भी सभी ज्ञेय पदार्थो से सर्वथा विपरीत है। सभी भेद व्यावहारिक हैं। ब्रह्म पारमार्थिक होने के कारण भेद रहित है।

ब्रह्म भेदों से परे है

तैत्तरीय उपनिषद के अनुसार "जिससे समस्त भूत जगत उत्पन्न होता है, जिससे उत्पन्न होकर ये सब जीते हैं और जिसको सभी लौट जाते हैं उसी को जानने की इच्छा करो, वही ब्रह्म है।"[5] ब्रह्म जगत की सृष्टि, पालन और सहार का कारण है। वह अनन्त, सवशक्तिमान और सर्वव्यापी है। वह समस्त भूत जगत का आधार है।

जन्माद्यस्य यत

---

१ परमार्थ मत अद्वय ब्रह्म मन्द बुद्धिनाम् असर इव प्रतिभारते

२ अपरोक्षत्वाच्च प्रत्यगात्म प्रसिद्धे

३ तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिद विभाति ॥

—श्वे० ६ १४।

४ बृद्धिकर्मा हि बृहतिरतिशायने वतते

—भामती।

५ यतोवाइमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्तभिसविशति, तद्विजिज्ञास्व तद ब्रह्म।

—तैत्तरीय।

केवल इसी अर्थ मे शकर ने ब्रह्म को कारण माना है। जगत ब्रह्म का विवर्त है परिणाम नही। यद्यपि इस विवर्त से ब्रह्म पर उसी प्रकार कोई प्रभाव नही पडता जिस प्रकार माया अज्ञानियो को लुभाती है परन्तु स्वय मायावी को नही। वह महा सामान्य है क्योकि उसमे सब है उसके ज्ञान से सबका ज्ञान हो जाता है। अविद्या के कारण ब्रह्म ही नाना नामरूपात्मक जगत के रूप मे दिखाई देता है। वास्तव मे समस्त जगत स्वय ब्रह्म है।[२] वह भूमा है अमृत अक्षर और नित्य तृप्त है। जगत अनृत जड और दुखमय है। अत ब्रह्म ही एक मात्र सत्य है और जगत मिथ्या है।

ब्रह्म अनिर्वचनीय है। उपनिषदो मे 'नेति नेति' कहकर उसका वर्णन किया है।

अनिर्वचनीय

अनिर्वचनीय कहने का तात्पर्य यह है कि व्यावहारिक भाषा मे उसका वर्णन नही हो सकता क्योकि वह इन्द्रिय मन और बुद्धि से परे है। अनिर्वचनीय का अर्थ अज्ञेय नही है क्योकि ब्रह्म का अनुभव किया जा सकता है। केवल उसको बौद्धिक प्रत्ययो मे नही रखा जा सकता। वह ज्ञाता है "ज्योतिषाम् ज्योति" है चिन्मात्र ज्योति है सबका आत्मा है। वह स्वय प्रकाश स्वरूप है। वह सूर्य के समान स्वय प्रकाशित है और सबको प्रकाशित करता है। वह वस्तु नही। उसका ज्ञान ज्ञाता का ज्ञान (दृष्टिदृष्टि) है। व्यावहारिक जगत से ऊपर उठने पर जीव को ब्रह्म का अथवा अपने असली रूप का ज्ञान होता है।

व्यक्तित्व मे आत्मा और अनात्मा का भेद होता है। रामानुज के अनुसार ब्रह्म मे व्यक्तित्व है। वह परम व्यक्ति है। परन्तु शकर ब्रह्म को सब प्रकार के भेदो से परे और निर्व्यक्तिक मानते है।

निर्व्यक्तिक

वह व्यक्ति से परे है वह ज्ञाता अथवा कर्ता नही बल्कि शुद्ध ज्ञान है। शकर के मतानुसार ज्ञान क्रिया न होकर वस्तुमात्र है क्योकि क्रिया अथवा सकल्प मे अपूर्णता परिवर्तन और गति है और ब्रह्म इन सभी से परे है। ब्रह्म शुभ अशुभ राग द्वेष शुभाशुभ सभी से परे है। वह निरपेक्ष है और असीम है। वह सत है सभूति नही। उसमे परिवर्तन अथवा विकास नही है। वह कूटस्थ है। वह सब प्रकार की इच्छाओ और प्रयोजनो से परे है। अत शकर का ब्रह्म रामानुज के ईश्वर से सर्वथा परे है।

---

२ "ब्रह्मैव इद विश्व समस्तम् इद जगत"

—मुण्डकशांकर भाष्य । २ १२ ।

शंकर ने ब्रह्म की सत्ता का मुख्य आधार अनुभव को माना है तथापि एक दार्श-निक होने के नाते उन्होंने ब्रह्म का अस्तित्व सिद्ध करने के लिये व्यवस्थित प्रमाण दिये हैं —

ब्रह्म के अस्तित्व के प्रमाण

(१) श्रुति प्रमाण — शंकर ने उपनिषद, गीता और ब्रह्म सूत्र के आधार पर अपना दर्शन विकसित किया है। अतः ब्रह्म को परम सत्य मानने का सबसे बड़ा प्रमाण इन ग्रन्थों के सूत्र हैं। शंकर ने अपने को दार्शनिक न मान कर भाष्यकार माना है। उन्होंने समस्त उपनिषदों के सूत्रों को एक व्यवस्थित रूप देने की चेष्टा की है। उपनिषदों में वर्णित 'अहंब्रह्मास्मि,' 'सर्व खल्विदं ब्रह्म' इत्यादि अनेक महावाक्य अद्वैत दर्शन में ब्रह्म की व्याख्या के प्रमाण हैं। इनके तर्क श्रुति पर आधारित हैं।[1] शास्त्र ब्रह्म की सत्ता का प्रमाण है और ब्रह्म शास्त्रों का आदि स्रोत है। काल क्रम में ब्रह्म पहले है और वेद बाद में, और ज्ञान क्रम में वेद पहले हैं और ब्रह्म बाद में। अतः यहाँ पर अन्योन्याश्रय दोष नहीं है।

(२) शाब्दिक अर्थ का प्रमाण — ब्रह्म जगत का आधार है इसके लिए शंकर ने कहा है "क्योंकि यह बृहधातु के अनुसार है।"[2] बृह् धातु का अर्थ है वृद्धि अतः शाब्दिक अर्थों में ब्रह्म का तात्पर्य सर्वातिशयी सत्ता से है। देकार्त के आध्यात्मिक तर्क (Ontological Proof) के समान शंकर ने इस तर्क में शब्द के अर्थ से उसकी सत्ता का प्रमाण दिया गया है। कहना न होगा कि डायसन (Deussen) का यह कथन यथार्थ नहीं है कि भारतीय दर्शन में उक्त प्रमाण नहीं है। ब्रह्म पर आरोपित अनन्तता इत्यादि अन्य अनेक गुणों का ब्रह्म शब्द से ही बोध होता है।

(३) मनोवैज्ञानिक प्रमाण — शाब्दिक अर्थ से प्रमाण देने के उपरान्त शंकर ने कहा है कि सबकी आत्मा होने के कारण भी ब्रह्म का अस्तित्व सर्वविदित है 'सर्वस्यात्मत्वाच्च ब्रह्मास्तित्व प्रसिद्धि'

—शांकरभाष्य-ब्रह्म सूत्र

डायसन ने इसको मनोवैज्ञानिक प्रमाण कहा है। उपरोक्त तथ्य को और भी पुष्ट करने के लिये शंकर ने आगे कहा है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी आत्मा के अस्तित्व का अनुभव करता है और कोई भी अपनी आत्मा के अस्तित्व से अपरिचित नहीं है।

"सर्वोहि आत्मास्तित्व प्रत्येति न नाहम अस्मीति" —ब्रह्म सूत्र शंकर भाष्य।

इस प्रकार यह एक पूर्ण वैज्ञानिक तर्क बन जाता है।

---

१ "श्रुत्यैव सहायत्वेन तर्कस्य अभ्युपेतत्वात्" अथवा "शास्त्र योनित्वात"

—शांकर भाष्य १ ३

२ 'बृहतेर्धातोरर्थानुगमात'

(४) प्रयोजनवादी प्रमाण (Teleological Proof) जगत इतना व्यवस्थित है कि उसके आदि स्रोत को जड़ नहीं माना जा सकता। अतः जगत की व्यवस्था में उसके चेतन कारण ब्रह्म का प्रमाण मिलता है।

(५) आदिकारण ब्रह्म को न मानने में अनवस्था दोष है—उपनिषदों के अनुसार जगत आदि नहीं है। यह किसी परम सत्ता का विवर्त है। यह परम सत्ता आदि कारण ब्रह्म है। यदि यह प्रश्न उठाया जाय कि ब्रह्म का कारण क्या है और फिर उस कारण का कारण इत्यादि तो अनवस्था दोष आ जायगा। अतः जगत के आदि कारण के रूप में ब्रह्म का अस्तित्व स्वयं सिद्ध है।

(६) अपरोक्षानुभूति का प्रमाण—ब्रह्म के विषय में बौद्धिक प्रमाण केवल समझाने के लिये दिये जाते हैं। वास्तव में मन बुद्धि और इन्द्रियों से परे ब्रह्म का प्रमाण एक मात्र अपरोक्षानुभूति ही हो सकती है। अपरोक्ष अनुभव होने पर समस्त द्वैत का नाश हो जाता है और अद्वैत ब्रह्म का दर्शन होता है। यह भावना का विषय है। शंकर के अद्वैत के सिद्धान्तों को कोरी बुद्धि के आधार पर समझने की चेष्टा करना अनुचित है। साक्षात् अनुभव होने पर ही उसका सत्य समझ में आ सकता है। वैसे भी वेदान्त यह नहीं बतला सकता कि ब्रह्म क्या है बल्कि केवल यही बतला सकता है कि ब्रह्म क्या नहीं है। ब्रह्म का वर्णन इसलिये किया जाता है कि उसको शून्य न समझा जाय। उपनिषदों के अनुसार ब्रह्म अनुभव का विषय है बुद्धि को उसके बारे में तर्क वितर्क नहीं करना चाहिये। इसीलिये अन्त में कहा है "शान्तोऽयम् ब्रह्म।"[1]

(२) ईश्वर

शांकर दर्शन में जगत परम सत्ता का विवर्त मात्र है। वास्तव में ब्रह्म से पृथक न तो जीव की सत्ता है और न जगत की। पारमार्थिक

ईश्वर एक व्यावहारिक मान्यता है

दृष्टिकोण से दोनों ही मिथ्या हैं अतः सृष्टि का प्रश्न एक व्यावहारिक समस्या है और इसी के सुलझाने के लिये ईश्वर को माना गया है। अन्यथा न तो स्रष्टा है और न सृष्टि। उपासना इत्यादि व्यावहारिक व्यापारों के हेतु निर्गुण ब्रह्म को ही सगुण मान लिया गया है। शांकर दर्शन सत्कार्यवाद को मानता है और उसमें भी परिणामवाद को नहीं बल्कि विवर्तवाद को। वास्तव में ब्रह्म ही एक मात्र उपादान कारण (Material Cause) तथा निमित्त कारण (Efficient Cause) है। नाम रूपात्मक जगत निर्गुण ब्रह्म पर एक अध्यारोप

---

१ ब्रह्म सूत्र

—शांकर भाष्य ३ १ १

मान है। यह अध्यास अविद्या है [illegible] और इसी अविद्या का दूर करना वेदान्त का लक्ष्य है। अतः शंकर माया को ईश्वर का व्यावहारिक मानता है।

ईश्वर और ब्रह्म

वास्तव में निर्गुण ब्रह्म ही एक मात्र सत्य है। ब्रह्म शुद्ध, पारमार्थिक, मुक्त, नित्य और निरपेक्ष है। माया द्वारा आवृत ब्रह्म ईश्वर है। वह ब्रह्म का चिन्तन है। ब्रह्म से अतिरिक्त वह और कुछ नहीं है। ब्रह्म निर्विशेष है ईश्वर परम पुरुष है। वह व्यावहारिक जगत का स्रष्टा, पालक और संहारक है। वह ब्रह्म और जगत के मध्य की कड़ी है। नाम रूपात्मक जगत बीज रूप में उसमें विद्यमान रहता है। यही ईश्वर की शक्ति माया है। वह जीवों को उनके कर्मानुसार फल देता है। वह कार्य ब्रह्म है जबकि ब्रह्म समस्त क्रियाओं से परे है। वह सभूति है, ब्रह्म सत है उसकी उपासना से क्रम मुक्ति होती। ब्रह्मानुभूति से जीवन्मुक्ति होती है। ब्रह्म अनुभूति का विषय है ईश्वर की उपासना की जाती है। ब्रह्म पारमार्थिक सत्य है ईश्वर केवल व्यावहारिक सत्य है। पारमार्थिक स्तर पर ईश्वर और ब्रह्म में कोई भेद नहीं है। उसमें जीव जगत और ईश्वर सम्बन्धी सभी प्रकार के द्वैत मिट जाते है।

जगत का स्रष्टा

सृष्टि देश कालात्मक जगत में ईश्वर की आत्म शक्ति की अभिव्यक्ति है। सृष्टि से पूर्व नाना नाम रूपात्मक जगत बीज रूप में रहता है। प्रलय के समय यह सब ईश्वर में समा जाता है। परन्तु जीवों के कर्म नष्ट न होने के कारण उन्हें पुनः जगत में आना पड़ता है और इस कारण सृष्टि अनिवार्य हो जाती है वैसे जगत अनादि है। प्रकृति ईश्वर में रहती है। सृष्टि और प्रलय अनादि जगत की विभिन्न अवस्थाएँ हैं। जगत की सृष्टि के लिये ईश्वर को किसी निमित्त की आवश्यकता नहीं पड़ती। वह अपनी माया शक्ति से ही जगत की सृष्टि करता है। सृष्टि में उसका कोई प्रयोजन भी नहीं क्योंकि वह पूर्ण है। जगत उसकी क्रीडा, लीला मात्र है। सृष्टि उसका स्वभाव है।

कर्मफल का प्रभाव

सृष्टि को अनादि कह कर शंकर इस आक्षेप से बच जाते हैं कि धर्माधर्म पहले थे अथवा जीव। बिना जीव के धर्माधर्म इत्यादि कर्मफल नहीं हो सकता और बिना कर्म-फल के आत्मा के जीवरूप धारण करने का कोई कारण नहीं होगा। अतः जगत अनादि है। कर्म भी अनादि है। जो जैसा बोता है वैसा ही काटता है। अतः संसार में जो दुःख, क्लेश, पाप इत्यादि दिखाई पड़ते हैं उनका कारण ईश्वर नहीं बल्कि जीवों का कर्मफल है। अतः ईश्वर के विरुद्ध नैतिक समस्या नहीं उठाई जा सकती और न स्रष्टा होने के कारण उसे अपूर्ण

कहा जा सकता है। स्थूल जड़ और विभाजित जगत अपने आदि कारण ईश्वर में लौटकर अपने इस विभक्त रूपों को छोड़कर बीजरूप धारण कर लेता है। अतः उससे ईश्वर की शुद्धता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। जगत बाह्य रूप से ईश्वर से सर्वथा भिन्न है परन्तु मूल रूप में वही है उसी का कारणात्मा है। अतः यह प्रश्न निरर्थक है कि चेतन ईश्वर से जड़ जगत की उत्पत्ति किस प्रकार हुई। मनुष्य की जाग्रत स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाओं के समान अविद्या के कारण जगत भी अनेक रूपों में प्रकट होता रहता है। जगत और जीव की रचना तथा नाश दोनों से ईश्वर पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता यद्यपि शंकर सत्कार्यवादी था परन्तु परिणामवादी नहीं। जगत ईश्वर का विवर्त है अतः उसके स्वभाव से ईश्वर पर प्रभाव नहीं पड़ता। ईश्वर ही कर्मों का नियामक कर्माध्यक्ष है। वह सर्वज्ञानी है। उसका ज्ञान सहज अपरोक्ष अतीन्द्रिय और अविद्या से परे है। वह जगत का साक्षी है। वह विभिन्न जीवों को उनके कर्मानुसार शरीर देता है और उनके कर्मानुसार पदार्थों की उत्पत्ति करता है।

ईश्वर धर्म और अधर्म से परे है। उसमें रागद्वेष सुख-दुःख पाप और अपूर्णताएँ नहीं हैं। वह सबका पालक और नैतिकता का आधार है।

ईश्वर पूर्ण है

वह अन्तर्यामी और सर्वव्यापी है। वह परम और अनन्त है। वह नित्य एक और शुद्ध चैतन्य है।

सर्वव्यापी होने पर भी ईश्वर विशेष रूप धारण करता है और इस प्रकार उसकी उपासना की जा सकती है। वह भक्तों पर कृपा करता है और उनकी साधना में सहायता करता है। वह परम पुरुष है। वह मोक्ष प्राप्ति में सहायक है। वह धर्म का आधार है।

ईश्वर उपास्य है

ईश्वर सम्बन्धी उपरोक्त मत न्याय दर्शन के मत से निम्नलिखित विषयों में भिन्न है —

न्याय दर्शन के ईश्वर से तुलना

(१) न्याय का ईश्वर विश्वामित्र के समान सृष्टि रचाने वाला एक व्यक्ति है। शंकर का ईश्वर स्रष्टा होते हुए भी असीम और पूर्ण है। न्याय का ईश्वर अधर्म मिथ्या ज्ञान और प्रमाद से रहित धर्म ज्ञान समाधि सम्पन्न सच्चिदानन्द सर्व शक्तिमान और आप्तकर्म काम है तथापि वह एक पिता के समान जगत की सृष्टि और पालन करता है और उस पर जीवों के कर्मों का प्रभाव पड़ता है। वह सर्वज्ञानी नित्य चेतन और शुद्ध आनन्द है तथापि उसमें इच्छा भी है। अतः वह व्यक्ति है। वह करुणा के कारण जगत की सृष्टि करता है। उसका प्रयोजन जीवों का आध्यात्मिक उत्थान है। इसी पर शंकर ने न्याय मत की

आलोचना की है। कर्मानुसार सृष्टि होने पर करुणा का कोई स्थान नही रह जाता और यदि फिर भी करुणा का प्रभाव पडता है तो ईश्वर पक्षपाती और अपूर्ण रह जाता है।

(२) शकर का ईश्वर अन्तर्यामी भी है और पारमार्थिक भी। न्याय का ईश्वर जगत से परे है। दोनो मे ईश्वर निमित्त कारण है परन्तु शकर ने ईश्वर को उपादान कारण भी माना है।

(३) न्याय ईश्वर को सामान्यतो दृष्ट अनुमान के आधार पर सिद्ध करता है। शकर कान्ट के समान यह मानता है कि ईश्वर की सत्ता को किसी बौद्धिक प्रमाण से नही सिद्ध किया जा सकता वल्कि उसके लिये श्रुति ही प्रमाण है।

(४) मानवीय क्रियाओ के समान, न्याय के अनुसार प्रत्येक निमित्त कारण मे समुचित ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न की आवश्यकता है। परन्तु शकर के अनुसार केवल ज्ञान ही पर्याप्त है। सृष्टि के लिये सृष्टा मे इच्छा और प्रयत्न की कोई आवश्यकता नही क्योकि वैसा होने पर एक पूर्व इच्छा और पूर्व प्रयत्न की कल्पना करनी पडेगी क्योकि सृष्टा का सृष्टा और फिर उस सृष्टा के सृष्टा का प्रश्न उठेगा और इस प्रकार अनवस्था दोष आजायेगा।

ईश्वर के अस्तित्व के प्रमाण

(१) **विश्व की रचना का प्रमाण (Cosmological Argument)**—नाना-रूपात्मक विविध और व्यवस्थित जगत की रचना सांख्य की जड प्रकृति अथवा वैशेषिक के अणुओ की गति का परिणाम नही हो सकती। वादरायण के ब्रह्मसूत्र की टीका के तर्कवाद मे शकर ने सांख्य और वैशेषिक के सृष्टि-सिद्धान्तो की विस्तृत आलोचना की है। कहना न होगा कि शकर के सिद्धान्त पर उत्पत्ति के सिद्धान्त के विरुद्ध परम्परागत तर्क लागू नही होते।

(२) **प्रयोजनवादी तर्क (Teleological Argument)**—जगत की रचना म एक सुव्यवस्था, क्रम तथा सामजस्य दिखाई पडता है। विभिन्न पशुओ और सर्वोपरि मानव की शरीर रचना वडे वडे मस्तिष्को को चक्कर मे डालने वाली है। अच्छे अच्छे कलाकार भी प्रकृति की नकल करके सतोष कर लेते हैं। अत यह सब किसी अचेतन जड प्रकृति का कार्य कैसे माना जा सकता है? जगत का निर्माता और कलाकार चेतन ईश्वर ही हो सकता है। वह समस्त वस्तुओ को इस प्रकार वनाता है कि उससे जीवो का काय साधन हो सके। वह सवज्ञानी है अत जीवो के कमफलानुसार जगत की रचना करता है। वह माया के नाम रूपात्मक वीजो को लेकर एक व्यवस्थित जगत का निर्माण करता है। जगत के

कण कण में दीखने वाली व्यवस्था उसके सृष्टा के प्रयोजन की द्योतक है। यह प्रयोजनवादी तर्क है।

(३) नैतिक तर्क (Moral Argument)—जगत के जीवों की स्थितियों में भारी भेद दिखलाई पड़ता है। कोई दुख में है कोई सुख में। कोई जन्म से ही सोने चाँदी में पलता है कोई जीवन भर अथक परिश्रम करके भी दाने दाने को तरसता है। यदि संसार में नैतिक व्यवस्था है तो फिर यह अन्याय क्यों है? यदि जगत का पालक और सृष्टा दयावान नहीं है तो फिर यह दुख कष्ट और पाप क्यों है? कान्ट (Kant) ने इसी विषमता की नैतिक व्याख्या करने के लिये ईश्वर का सहारा लिया है। शंकर ने यहाँ पर कर्म के नियम की सहायता ली है। संसार की यह विषमता जीवों के कर्मफल के कारण है। कर्म के नियम के आधार पर ही इस विषमता की नैतिक व्याख्या की जा सकती है। मीमांसा दर्शन के अनुसार यह कर्म एक अदृश्य शक्ति 'अपूर्व' है जो स्वयं भले बुरे फलों को उत्पन्न करती है। परन्तु यह अपूर्व स्वयं एक अचेतन शक्ति होकर भी कैसे भले बुरे फलों की व्यवस्था कर सकती है? यह तो किसी चेतन शक्ति का कार्य है। अतः शंकर के अनुसार ईश्वर ही जीवों को उनके कर्मों के अनुसार फल देता है। वह कर्माध्यक्ष है। यह ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने का नैतिक तर्क है।

इसी नैतिक तर्क को एक दूसरे रूप में भी रखा गया है। श्रुति नैतिक नियमों की व्यवस्था करती है परन्तु श्रुति के तत्त्व का आधार उसका सृष्टा ईश्वर है। ईश्वर की आज्ञाएँ होने के कारण ही श्रुति के नियमों में अनिवार्यता है। वही नैतिक नियमों का निर्णायक है क्योंकि वही परम श्रेय है। उसके विरुद्ध कार्य अशुभ और उसके अनुसार कार्य शुभ है। अतः परम श्रेय और नैतिक नियमों के विधाता के रूप में भी ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध होता है।

ईश्वर और जीव का सम्बन्ध

ईश्वर और जीव दोनों ही व्यावहारिक सत्य हैं परन्तु उनमें भी ईश्वर शासक है और जीव शासित। ईश्वर उपकारक है और जीव उपकार्य। दोनों ही ब्रह्म के विवर्त हैं। दोनों में ही शुद्ध चैतन्य है, दोनों ही पारमार्थिक दृष्टि से ब्रह्म ही हैं। इस प्रकार पारमार्थिक स्तर पर दोनों का स्वरूप एक ही है परन्तु व्यावहारिक स्तर पर दोनों में महान अन्तर है। जीवों को ईश्वर का अंश भी माना गया है यद्यपि वास्तव में ईश्वर निरवयव है। जीवों का ज्ञान शक्ति अस्तित्व इत्यादि सीमित है। ईश्वर सर्व व्यापी सर्वज्ञानी अनन्त आनन्दवान और पूर्ण है। जीवों पर धर्माधर्म का अधिकार है। ईश्वर इन दोनों से परे और उनका नियन्ता है। जीव मोक्ष के लिये प्रयत्नशील है ईश्वर नित्य मुक्त और जीवों का सहायक है। जीव क्रियाशील है ईश्वर उसका प्रेरक। जीव भोक्ता है

ईश्वर मुक्त। भोग का कारण ससारित्व है परन्तु ईश्वर असंसारी है। परन्तु अन्ततोगत्वा यह समस्त द्वैत व्यावहारिक स्तर पर ही है। शुद्ध ब्रह्म का साक्षात्कार होता है। रामानुज के अनुसार यह भेद अज्ञान जनित नहीं बल्कि शाश्वत है। जीव और ईश्वर मे शेष और शेषि, नियाम्य, और नियन्ता, प्रकार और प्रकारि का सम्बन्ध है। शाकर दर्शन मे धर्म की मांगो का सन्तोष नही होता और रामानुज के दर्शन मे रहस्यात्मक अपरोक्षानुभूति और दार्शनिक बौद्धिकता का विभाव नही है।

(३) आत्मा

आत्मा और ब्रह्म का सम्बन्ध

शकर ने आत्मा और ब्रह्म मे द्वैत नही माना है। आत्मा ब्रह्म ही है वह निर्विशेष है।[1] वह सर्व व्यापक, विभु है। वह एक, अद्वैत, निरवयव, देश कालातीत परमार्थ और सत है। वास्तव मे शंकर ने ब्रह्म, आत्मा और मोक्ष का एक ही शब्दो मे वर्णन किया है। डा० रामप्रताप सिंह के अनुसार शकर ने इन सभी मे मूल्यात्मक समन्वय स्थापित किया है। विभिन्न रुचि के अनुसार डा० राधाकृष्णन शाकर दर्शन की व्याख्या मे ब्रह्म पर, प्रो० अनुकूलचन्द्र मुकर्जी आत्मा पर और प्रो० रानडे रहस्यात्मक अनुभूति पर विशेष जोर देते हैं। परन्तु सभी ओर से शकर ने अद्वैत की स्थापना की है अत उसे किसी भी ओर से देखा जा सकता है। वृहदारण्यक उपनिषद के अनुसार आत्मा और ब्रह्म दोनो ही पूर्ण हैं। यद्यपि आत्मा ब्रह्म से निकलता है तथापि ब्रह्म फिर भी पूर्ण ही रहता है। यथा

"पूर्णमद पूर्णमिद पूर्णात्पूर्ण मुदच्यते, पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेव वशिष्यते" आत्मा के रूप मे ब्रह्म सर्वव्यापी है। ब्रह्म की सत्ता को सिद्ध करने के हेतु शकर के मनोवैज्ञानिक प्रमाण मे आत्मा और ब्रह्म के इसी तादात्म्य पर जोर है। शकर के अनुसार ब्रह्म है क्योकि सभी अपनी आत्मा के अस्तित्व का अनुभव करते हैं और कोई भी उसको अनुपस्थित नही मानता। आत्मा और ब्रह्म दोनो ही का सत्त-चित्त-आनन्द, नित्य सर्वव्यापी, सर्वगत, सर्वात्मकत्व, 'स्वमहिम प्रतिष्ठत्वम्' इत्यादि विशेषणों मे वर्णन किया गया है।

---

१ "आत्मानमेव निर्विशेष ब्रह्मविद्धि"

केन उप० शांकर भाष्य। ५

२ 'विषयाभावातइयम अचेतयमानता न चैतन्याभावात।"

—ब्रह्मसूत्र-शांकर भाष्य।

यथार्थवादियो के समान शकर यह मानते है कि वस्तु ज्ञान से बाहर है परन्तु फिर कान्ट के समान उनका यह मत है कि ज्ञान बाह्य जगत को अर्थ प्रदान करता है। आधुनिक मनोविज्ञान भी इसी तथ्य की पुष्टि करता है । यह दिखाना असभव है कि एक वस्तु है परन्तु ज्ञान नही है ।[1] यह असभव है कि रूप हो और उसको देखने वाले नेत्र न हो ।[2] किसी भी वस्तु के अस्तित्व के विषय मे कुछ कहने से पूर्व उसका ज्ञान आवश्यक है । शकर के मतानुसार कोई भी यह सिद्ध नही कर सकता कि कोई वस्तु है परन्तु ज्ञात नही है और ऐसा सिद्ध करने का प्रयत्न उतना ही निरर्थक है जितना कि यह मानना कि रूप दिखलाई पडता है और नेत्र नही है।

'किंचित न ज्ञायते इति अनुपपन्नम, रूप च दृश्यते न च अस्ति चक्षुरिति यथा ॥'

शकर ने इसी तर्क को आगे बढ़ाकर कहा है कि "किसी वस्तु का अभाव तक ज्ञान की अनुपस्थिति मे स्थापित नही किया जा सकता।" [3] सुरेश्वर के अनुसार प्रत्येक वस्तु आत्मपूर्वक है ।

आत्मा का निषेध नही किया जा सकता । आत्मा अव्यभिचारी है। वह 'सर्व व्यवहार-शून्य' है। वह सदैव वर्तमान है। वह न तो बाह्य ही है और न केवल आन्तरिक ही है। वह मानस, इन्द्रियो और विषयो के जगत का केन्द्र है । वस्तुओ का अर्थ उनके इस केन्द्र से सम्बन्ध पर निर्भर है।

आत्मा अव्यभिचारी है

वह सर्व प्रत्ययदर्शी और चित्तशक्ति स्वरूप मात्र है। वह सर्व प्रत्ययदर्शी और चिदशक्ति स्वरूपमात्र है । नैष्कर्म सिद्धि मे सुरेश्वर ने इसी बात को यह कहकर पुष्ट किया है कि जगत मे आत्मा और अनात्मा प्रत्यक्ष इत्यादि ज्ञान के साधनो पर निर्भर है परन्तु अनात्मा सदैव आत्मा के अस्तित्व पर निर्भर है। आत्मा जगत का साक्षी है।

आत्मा समस्त प्रमाणो का आश्रय है अत वह प्रमाणो के व्यवहार से पूर्व ही सिद्ध है ।[4] आत्मा स्वय सिद्ध है जबकि अनात्मा आगुन्तुक है। आत्मा प्रमाण - निरपेक्ष है। वह कार्य नही है क्योंकि प्रत्येक कार्य का कारण होता है। वह समस्त विषयो का कारण अथवा आधार है और स्वय कार्य कारणादि से

आत्मा स्वयसिद्ध है

---

१ वस्तु तत्वम् भवति न च ज्ञायते इति च अनुपपन्नम ।

२ रूप च भवति न च पश्यते इति च अनुपपन्नम् ।

३ अभावस्यापि ज्ञेयत्वात ज्ञानभावे तदनुपपत्ते

४ आत्मा तु प्रमाणादि व्यवहाश्रयत्वाद प्रागेव प्रमाणादि व्यवहारात् सिद्धयति ।
—शांकर भाष्य

परे है। जेम्स ह्यूम इत्यादि पाश्चात्य विद्वानों और बौद्ध दार्शनिकों के विरुद्ध शंकर का तर्क है कि आत्मा स्वयं प्रक्रिया अथवा परिवर्तनशील नहीं हो सकती क्योंकि प्रत्येक परिवर्तन के ज्ञान के लिये एक अपरिवर्तनीय ज्ञाता की आवश्यकता है। लोकायतिक इत्यादि जड़ वादियों के विरुद्ध शंकर का कहना है कि वे स्वयं सिद्ध आत्मा को आगन्तुक समझ बैठते हैं। आत्मा समस्त प्रमाणों का आश्रय है अतः उसे किसी भी प्रमाण से बाधित नहीं किया जा सकता। आत्मा की अनुपस्थिति में तो आत्मा का निषेध भी असम्भव है। कहना न होगा कि शंकर का यह तर्क जॉन टालैण्ड लॉ मैट्री डिडेरो और कबानिस इत्यादि प्राचीन जड़वादी और होल्ट वाटसन तथा रसल इत्यादि आधुनिक जड़वादियों के सिद्धान्तों के विरुद्ध एक सबल तर्क है। शंकर के अनुसार प्रत्यक्ष में दो तत्व हैं बोध और वृत्ति। बोध स्वयंसिद्ध स्वामी और द्रष्टा अथवा साक्षी है। वृत्ति आगन्तुक परिवर्तनशील अस्थिर और दृश्य विषय है। सुषुप्ति और तुरीय अवस्थाओं में कोई वृत्ति नहीं होती परन्तु बोध रहता है। अतः वे अचेतन अवस्थाएँ नहीं हैं। वे चेतन हैं, केवल वृत्ति की अनुपस्थिति में आत्मचेतन नहीं हैं। शंकर के इस विश्लेषण की पुष्टि जेम्स और काण्ट आदि पाश्चात्य दार्शनिकों के सिद्धान्तों में भी मिलती है।

आत्मा और जीव — आत्मा निरुपाधि निरवयव विभु, अद्वय है। जीव सोपाधि अन्तःकरणादि अवयव सहित और सीमित एवं अनेक है। आत्मा परम और पारमार्थिक है, जीव व्यावहारिक और मनोवैज्ञानिक तत्त्व है। मानस बुद्धि, विज्ञान (अहंकार) और चित्त के कारण जीव वैयक्तिक है। आत्मा निर्वैयक्तिक है। जीव आत्मा का अंश अथवा अपभ्रंश नहीं बल्कि उसका विवर्त है। जीव तथा उसके उपकरण अविद्या और माया के कारण हैं। अविद्या नष्ट हो जाने पर आत्मा ही रह जाती है।

जीव कर्ता भोक्ता और प्रमाता है। आत्मा अकर्ता है। उसमें कारक क्रिया और फल का भेद नहीं है। यह सब भेद अविद्या के कारण है। आत्मा नित्य मुक्त है वह संसार के बंधनों में नहीं फँसता। वह चैतन्य ज्योति स्वभाव है। वह उपलब्धि स्वरूप है। वह निर्विशेष चिन्मात्र है। वह जीव शुभाशुभ धर्म अधर्म सुख-दुःख राग-द्वेष इच्छा-संकल्प कर्म बन्धन मोक्ष और आवागमन से परे है। जीव शरीरधारी है आत्मा अशरीरी है। जीव शुभ-अशुभ हानि लाभ यश अपयश में फँसा है आत्मा इनसे मुक्त है। जीव में एक स्थूल शरीर, एक लिंग शरीर और एक कारण शरीर होता है। उसका बाह्य शरीर पंचतत्व इन्द्रियों और प्राणशक्ति से बना है और सूक्ष्म शरीर पंच ज्ञानेन्द्रियों पंच कर्मेन्द्रियों पंच प्राण मानस और बुद्धि से बना है। वह जाग्रत स्वप्न और सुषुप्ति

अवस्थाओं में रहता है। आत्मा तुरीय है जो कि निरुपाधि, एकरूप और नित्य है। जीव अहं प्रत्यय विषय है। आत्मा अपरोक्ष अनुभूति में जानी जाती है। आत्मा देश काल और कार्य-कारण से परे है। वह आनन्द स्वरूप, चैतन्यस्वरूप और नित्य दिव्य स्वरूप है। परन्तु जीव और आत्मा का यह भेद व्यावहारिक स्तर पर ही है। शंकर के दर्शन में पारमार्थिक स्तर पर पहुँच कर सभी द्वैत समाप्त हो जाते हैं। जीव और आत्मा का भेद अविद्या और माया के कारण है। पारमार्थिक स्तर पर माया और अविद्या के समाप्त हो जाने से यह भेद मिट जाता है और जीव का असली रूप आत्मा ही रह जाती है जो कि ब्रह्म ही है। इस प्रकार अन्त में ब्रह्म अथवा आत्मा ही एकमात्र नित्य सत्य है, शेष सब अविद्या जनित आगन्तुक प्रत्यय मात्र हैं।

न्याय-वैशेषिक मत की आलोचना

पाश्चात्य दार्शनिकों में जॉन लॉक के समान भारत में न्याय वैशेषिक मतानुयायी ज्ञान को आत्मा का गुण मानते हैं। आत्मा स्वयं एक अचेतन द्रव्य मात्र है। चेतना आत्मा के मानस और इन्द्रियों के सम्पर्क से उत्पन्न गुण है।[1] जयन्त के अनुसार मानस के सम्पर्क में आत्मा चेतन है और उसके बिना जड़ है।[2] शंकर ने अपनी ब्रह्मसूत्र की टीका के तर्कपाद में यह संकेत किया है कि कणादि के कुछ अनुयायियों के अनुसार चेतना उसी प्रकार उत्पन्न होती है जिस प्रकार अग्नि के संयोग से घट में लाल रंग उत्पन्न होता है।[3] शंकर के अनुसार इस प्रकार के मत में मुख्य दोष स्वयंसिद्ध आत्मा को आगन्तुक समझना है। यदि आत्मा मानस से सदैव संलग्न है तो फिर स्मृति, प्रत्यक्ष इत्यादि सदैव होने चाहिये परन्तु अनुभव से ऐसा नहीं प्रतीत होता। आत्मा निर्गुण, निर्विशेष, सर्व-विलक्षण और असंग है। श्रुति और स्मृति सभी न्याय मत के विरुद्ध हैं। ज्ञान उसका गुण नहीं बल्कि स्वरूप है। वह चैतन्य ज्योति स्वभाव, सर्व बुद्धि प्रत्यय, साक्षी, उपलब्धि स्वरूप और शुद्ध नित्य बोध स्वरूप है। वह न ग्राहक है और न ग्राह्य। वह नित्यचेतन है।

विज्ञानवाद जड़वाद और मीमांसा की आलोचना

उपरोक्त तर्क जड़वादियों और विज्ञानवादी बौद्धों के विरुद्ध भी लागू होते हैं। समस्त विषय चेतना पर आश्रित हैं अतः चेतना स्वयं किसी का विषय नहीं हो सकती और क्योंकि जड़ आत्मा के विषयों में से एक है अतः आत्मा जड़ नहीं हो सकती। यथा —"नहि भूतभौतिक धर्मेण सता चैतन्येन भूतभौतिकानि विषयीक्रियेरन्"।

आत्मा बोध स्वरूप है। सभी प्रत्यय उसके विषय हैं और

---

१ इन्द्रियार्थ सन्निकर्षोत्पन्न ज्ञानम्। —न्यायसूत्र -गौतम

२ सचेतनश्चित्ता योगात् तद्योगेन विना जड़। —न्याय मंजरी

३ अग्निघट संयोगज, रोहितादि गुणवत्।

मानसिक वृत्तियाँ बोध के प्रत्यय हैं अतः आत्मा क्षणिक विज्ञान नहीं हो सकती। वह तो क्षणिक विज्ञान की परिवर्तनशील वृत्तियों का नित्य साक्षी है। कुमारिल आत्मा को ज्ञान का कर्ता मानते हैं। परन्तु शंकर के अनुसार वह कर्तृत्व और भोक्तृत्व से परे है। ज्ञान की उत्पत्ति और नाश होता है अतः उसपर आधारित मानने से आत्मा सावयव अनित्य अशुद्ध और व्यावहारिक हो जायगी। परन्तु आत्मा अज है। वह 'ज्ञान ज्ञेय ज्ञातृभेद रहित' है। वह आगन्तुक नहीं बल्कि स्वयं सिद्ध है।

शून्यवादी मत की आलोचना

पाश्चात्य दार्शनिक ब्रैडले (Bradley) के समान नागार्जुन ने आत्मा को शून्य माना है। अपने चतुष्कोटि न्याय के प्रयोग से नागार्जुन ने आत्मा को बन्ध्या पुत्र के समान असत्य सिद्ध करने का प्रयास किया है। यद्यपि शंकर को कभी कभी प्रच्छन्न बौद्ध कहा जाता है परन्तु उसने शून्यवाद की कटु आलोचना की है और बारम्बार निर्गुण ब्रह्म अथवा आत्मा को शून्य समझ बैठने के विरुद्ध चेतावनी दी है। शून्यवाद के विषय में तो उन्होंने यहाँ तक कह दिया है कि शून्यवाद का पक्ष सब प्रमाणों के विपरीत होने के कारण उसको खण्डन करने का आदर देने की भी आवश्यकता नहीं है।[1] परन्तु फिर उन्होंने इतना कह कर ही इस विषय को छोड़ नहीं दिया है। वे कहते हैं कि किसी भी विशिष्ट एवं तर्कयुक्त निषेध के आधार में किसी सत् वस्तु का होना आवश्यक है। यदि प्रत्येक वस्तु का निषेध कर दिया जावे और कोई यथार्थ वस्तु न बचे तो स्वयं निषेध असम्भव हो जाता है और परिणाम स्वरूप जिस वस्तु का निषेध किया जा रहा है वही सिद्ध हो जाती है। यथा "किंचिद्धि परमार्थम् आलम्ब्य अपरमार्थं प्रतिषिध्यते।" बृहदारण्यक उपनिषद की टीका में शंकर ने आत्मा के ज्ञानात्मक पक्ष पर जोर देकर इसी बात की ओर संकेत किया है। यदि यह बात अनिश्चित भी छोड़ दी जाय कि ज्ञान का विषय सत् है अथवा असत् परन्तु तो भी प्रत्येक विषय में चेतना अथवा ज्ञान को पहले से ही मान लेना पड़ेगा। प्रश्नोपनिषद की टीका में शंकर ने कहा है कि वैनाशिकों (शून्यवादियों) को भी कम से कम यह मानना पड़ेगा कि अभाव ज्ञेय तथा नित्य है। ज्ञाता की अनुपस्थिति में ज्ञान का विषय भी अकल्पनीय है। जैसा देकार्ते का मत है सन्देह में सन्देह की सत्ता पर सन्देह नहीं किया जा सकता।

---

१ "शून्यवादि पक्षस्तु सर्व प्रमाण विप्रतिषिद्ध इति तन्निराकरणाय नादरः क्रियते।"
—शांकरभाष्य।

२ "वनयथापि अवादि विनाशस्य भाव नित्यत्वम् अभ्युपगन्तमेव"

विना ज्ञान के अज्ञान का अस्तित्व भी नही माना जा सकता। अत ज्ञान, चेतना एव आत्मा स्वय सिद्ध और समस्त प्रमाणो का आश्रय है।[1]

जगत विचार

अध्यास

ब्रह्म सूत्र पर अपनी प्रसिद्ध टीका के प्रारम्भ मे ही शकर ने आत्मा और अनात्मा मे भेद किया है और उनको एक समझने के विरुद्ध चेतावनी की है। "तू और मैं, विषयी और विषय के प्रत्ययो से क्षेत्रो के विषय मे, जो कि स्वभाव मे प्रकाश और तम के समान परस्पर विरुद्ध है, जब यह सिद्ध हो गया कि उनमे इतरेतर अनुपपत्ति नही हो सकती तब यह और भी युक्तिहीन प्रतीत होता है कि उनके धर्मो की इतरेतर अनुपपत्ति की जाय।"[2] (इस प्रकार न तो आत्मा अथवा अनात्मा और न उनके गुणो का परस्पर आरोप किया जा सकता है। इसी अनुचित आरोप की क्रिया को अध्यास कहते हैं। शकर-के-शब्दो मे "जो कुछ पहले देखा जा चुका है उसका स्मृति के रूप मे कही और आरोप करना" अध्यास है। यथा "स्मृतिरूप परत्र पुर्व दृष्टावभास" वाचस्पति मिश्र के अनुसार अवभास किसी वस्तु का विकृति आभास है यथा "अवसन्न अवमतो वा भास अवभास"[3]। अत अवभास एक भ्रमात्मक प्रत्यक्ष है। इस भ्रम का कारण आरोपित का आरोप से मिश्रित हो जाता है। शकर की उपरोक्त व्याख्या मे "दृष्ट" शब्द का प्रयोग वाचस्पति मिश्र के मतानुसार, यह दिखलाता है कि वस्तु यथार्थ नही बल्कि दृश्य मात्र है।[4] वर्तमान दृश्य वस्तु का आरोप नही हो सकता अत 'पूर्व' दृष्ट वस्तु का आरोप कहा गया है। जिस वस्तु पर आरोप है वह "परत्र" (कही और) है और इसी कारण आरोप मिथ्या है। इस प्रकार सत्य और असत्य के मिलने से अध्यास होता है (सत्यानृते मिथुनीकृत्य)।

आत्मा और अनात्मा का भेद

---

१ 'अमायोमेय इति अभ्युपगम्यते वैनाशिकै निाय"

२ युष्मदस्मत् प्रत्ययगोचर्योविषय विषयिणोस्तम प्रकाशयद्विरुद्धस्वभाव-योरितरेतर भावानुपपत्तौ सिद्धायाम, तद्धर्माणामपि सुतरामितरेतर भावानुपपत्ति "

—शांकर भाष्य।

३ "भामती"

४ "तस्य च दृष्टत्वमात्र मुपयुज्यते न वस्तुसतेति दृष्टग्रहणम्"

—भामती।

अध्यास सम्बन्धी अन्य मत

अध्यास की व्याख्या करते समय शंकर ने अन्य मतों की ओर भी संकेत किया है यथा "कुछ लोग किसी धर्म के कहीं और आरोप को अध्यास कहते हैं" (के चिदन्यत्रान्यधर्माध्यास इति वदन्ति)। विज्ञान वादियों के अनुसार यद्यपि बाह्य जगत का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है परन्तु अनादि अविद्या के कारण एक मिथ्या बाह्य जगत की प्रतीति होती है। इस बाह्य जगत पर प्रत्यय का आरोप अध्यास है। यह आत्मख्यातिवाद कहलाता है। सौत्रान्तिक बौद्ध मत के अनुसार बाह्य जगत पर मानसिक प्रत्यय का आरोप अध्यास है। यह मत अन्यथा ख्यातिवाद के नाम से प्रसिद्ध है। न्याय का मत भी इसी प्रकार है।

(२) उपरोक्त मत से असन्तुष्ट कुछ अन्य दार्शनिकों के अनुसार (जो वस्तुओं का भेद न समझने के कारण भ्रम से एक वस्तु के दूसरी पर आरोप को अध्यास कहते हैं) यथा 'केचित्तु यत्र यदध्यासस्तद्विवेकाग्रहनिबन्धनो भ्रम इति"। मीमांसा दर्शन के प्रभाकर मिश्र का अख्यातिवाद इसी प्रकार का सिद्धान्त है।

(३) जो दार्शनिक इस मत से सन्तुष्ट नहीं है उनके अनुसार (जब एक वस्तु का दूसरी पर अध्यारोप माना जाता है तब दूसरी में पहली से विपरीत धर्म की कल्पना कर दी जाती है) "अन्ये तु यत्र यदध्यासस्तस्यैव विपरीत धर्मत्वकल्पनामाचक्षते" इस प्रकार का सिद्धान्त दर्शन में असत्ख्यातिवाद के नाम से प्रसिद्ध है।

उपरोक्त मतों के विश्लेषण से स्पष्ट इनमें एक तत्त्व सामान्य पाते हैं अर्थात् कि अध्यास में एक वस्तु का दूसरी पर आरोप होता है। यह परिभाषा केवल जिज्ञासुओं को ही नहीं बल्कि सर्वसाधारण जनों के भी काम की है। यह प्रकार से उपरोक्त मत को भी पुष्ट करती है।

अध्यास की परिभाषा

पीछे दी हुई परिभाषा के अतिरिक्त (शंकर) ने अध्यास की एक दूसरी परिभाषा करते हुये कहा है कि (किसी वस्तु का उसके अतिरिक्त अन्य वस्तु में आभास का नाम अध्यास है" (यथा "अध्यासो नाम अतस्मिंस्तद् बुद्धि"। इस प्रकार जब हम रस्सी को सर्प और सीपी को चांदी समझते हैं तो यह अध्यास किसी वस्तु के अन्य में आभास के कारण होता है। इसी प्रकार जब कोई व्यक्ति आत्मा को उससे बिलकुल भिन्न अनात्मा अर्थात् शरीर बुद्धि इत्यादि में देखता है तो अध्यास कहा जाता है।)

विषयी आत्मा में अध्यास कैसे सम्भव है?

यहाँ पर यह प्रश्न उठता है। यदि आत्मा सदैव अविषय और केवल विषयी है तो उस पर अनात्मा का आरोप कैसे हो सकता है? किसी विषय अथवा उसके धर्मों का अध्यारोप अविषय आत्मा पर कैसे हो सकता है? इसी प्रकार यह भी कहा जा सकता है कि यदि आत्मा ही एक मात्र सत्य है और अनात्मा भ्रम अथवा विवर्त मात्र है तो अध्यास कैसे होगा क्योंकि अध्यास में दो वस्तुओं की आवश्यकता है।[1]

इस पर शंकर का उत्तर है कि आत्मा अविषय नहीं है क्योंकि वह 'मैं' के प्रत्यय का विषय है (अस्मत्प्रत्ययविषयत्वात)। 'मैं' के प्रत्यय में आत्मा कर्ता और भोक्ता दिखलाई पड़ता है। आत्मा अपरोक्षानुभूति का विषय है क्योंकि उसकी अनभिव्यक्ति में समस्त जगत की अभिव्यक्ति रुक जायेगी और जगत अंधकारमय हो जायगा।[2] अतः शंकर अन्तिम रूप से कहते हैं कि आत्मा विषय है क्योंकि उसकी अपरोक्षानुभूति होती है।[3] कहना न होगा कि प्रथम उत्तर अन्तिम उत्तर की भूमिका मात्र है क्योंकि शंकर ने वेदान्त में उपनिषदों की अरुन्धति नक्षत्र दिखाने की क्रमिक पद्धति का अनुसरण किया है। वे पूर्ण सत्य को एक दम सामने न रखकर क्रमशः उसकी ओर ले जाते हैं। उनके दर्शन में प्रातिभासिक व्यावहारिक एवं पारमार्थिक स्तरों के विवरण में सत्य की ओर इसी प्रकार क्रमशः ले चलने का प्रयास है।

अब यह प्रश्न रह जाता है कि यदि आत्मा ही एक मात्र सत्य है तो फिर अध्यास कैसे होगा।[4] इस पर शंकर का कहना है कि ऐसा कोई नियम नहीं है कि किसी एक वस्तु का दूसरी उपस्थित वस्तु पर ही आरोप किया जाय। "न चायमस्ति नियमः पुरोऽवस्थित एव विषये विषयान्तरमध्यसितव्यमिति।"—शारीरिक भाष्य

---

१ तस्मादत्यन्तग्रहे च अन्यथाग्रहे च नाध्यास इतिसिद्धम्"

—भामती

२ "तमेवभान्तमनु भाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिव विभाति"।

—श्वेताश्वतार उप० ६ १४

३ अपरोक्षत्वाच्च प्रत्यगात्म प्रसिद्धे"

—शारीरिक भाष्य

४ पाश्चात्य दार्शनिक ब्रेडले ने 'सम्बन्ध के 'प्रत्यय' में इसी प्रकार की कठिनाइयाँ उठाकर आत्मा को विवर्त सिद्ध किया है।

इस प्रकार किसी एक वस्तु की उपस्थिति में भी आरोप हो सकता है जैसे कि आकाश को नीला कहने में आकाश पर नीले पन का आरोप है यद्यपि हम आकाश को न देखकर केवल नीले पन को ही देखते हैं। इसी प्रकार आत्मा के एक मात्र सत्य होने पर भी उस पर अनात्मा का आरोप किया जा सकता है। इसी अध्यास के कारण माया का व्यापार चलता है।

(सम्प्रेप मे अध्यास की प्रकृति अज्ञान मय (मिथ्या प्रत्ययरूप) है। उसका कार्य आत्मा मे कर्तापन और भोक्तापन की उत्पत्ति करना है (कर्तृत्व भोक्तृत्व प्रवर्तक)। उसका प्रमाण सर्वसाधारण का अनुभव (सर्वलोक प्रत्यक्ष) है।)

अध्यास और अविद्या का सम्बन्ध

(शंकर के मतानुसार उपरोक्त व्यवहार को पंडित जन अविद्या मानते हैं) और उसका ज्ञान होने पर वस्तु के यथार्थ रूप को जानने को वे विद्या कहते हैं।[1] (अविद्या न सत है न असत। यह अनिर्वचनीय है। व्यावहारिक जगत की सभी वस्तुएँ अविद्या के कारण हैं। अविद्या मिथ्या ज्ञान है। माया की शक्ति अविद्या के कारण है। यह आत्मा और ब्रह्म का तिरस्कार करती है।[3] यह जीवों में कर्म के रूप में रहती है। अविद्या के कारण ही जीव अपने यथार्थ रूप को नहीं जान पाता अविद्या अनादि, अन्तःरूप और स्वाभाविक है। परन्तु ज्ञान से उसका नाश किया जा सकता है। अविद्या लोक-व्यवहार है।

अध्यास अविद्या नहीं है। यह उसका परिणाम है। अविद्या और जीव दोनों ही अनादि हैं। अध्यास उनसे उत्पादित है। अध्यास के नाश के लिये अविद्या से छुटकारा पाना होगा। वेदान्त ग्रन्थों के अध्ययन का यही लक्ष्य है।[4])

---

१ "तमेतमेवं लक्षणमध्यासं पण्डिता अविद्येति मन्यन्ते तद्विवेकेन च वस्तुस्वरूपावधारणं विद्यामाहुः"

—शारीरिक भाष्य।

"अविद्यात्मिका हि सा बीजशक्तिः"

—शारीरिक भाष्य।

३ अविद्यायोगेन चिन्मात्रस्य आत्मनस्य तिरस्कारत्वात

—ईश उप शांकरभाष्य—३।

४ "अस्यानर्थ हेतोः प्रहाणाय आत्मैकत्व विद्या प्रतिपत्तये सर्वे वेदान्ता आरभ्यन्ते।

मायावाद

अविद्या और माया एक ही तथ्य के आत्मगत और वस्तुगत पक्ष हैं। अविद्या जीव में है। वह उसकी बुद्धि का गुण है। माया जगत के नाम रूपात्मक प्रपंच की स्रष्टा शक्ति है। अविद्या का ज्ञान हो जाने पर नाश हो जाती है परन्तु माया ब्रह्म के समान ही अनादि है क्योंकि वह सोपाधि ब्रह्म अर्थात् ईश्वर की शक्ति है। परन्तु अन्य प्रसंग में अविद्या को भी अनादि कहा गया है क्योंकि उसमें माया बीजरूप में विद्यमान रहती है। वस्तुतः जिस प्रकार आत्मा और ब्रह्म में तादात्म्य है उसी प्रकार माया और अविद्या एक ही हैं। दोनों ही वैयक्तिक भी हैं और सार्वभौम भी। वास्तव में शंकर ने माया, अविद्या, अज्ञान, अध्यास, आध्यारोप, अनिर्वचनीय, विवर्त, भ्रान्ति, भ्रम, नामरूप, अव्यक्त, अक्षर बीजशक्ति, मूल प्रकृति इत्यादि शब्दों का अर्थ एक ही अर्थों में प्रयोग किया है। विशेषतः माया, अविद्या, अध्यास और विवर्त को तो एक ही माना गया है।[1] परन्तु शंकर के बाद के कुछ वेदान्तियों ने अविद्या और माया में भेद किया है। उनके अनुसार अविद्या निषेधात्मक और जीव गत है और माया स्वीकारात्मक और विभु है।

अविद्या और माया

माया सहित ब्रह्म ही ईश्वर है। माया उसकी शक्ति है। उसी से यह नाम-रूपात्मक जगत बना है। नाम रूप न तो सत है न असत। वे संसार के बीजरूप हैं। उनसे ही मानो ईश्वर की प्रकृति बनी है।[2] ईश्वर का स्रष्टापन अविद्या के इन्हीं नामरूपादि जगत के बीजों की अभिव्यक्ति पर निर्भर है। उत्पत्ति से पूर्व भी उसे इनका ज्ञान रहता है। इन्हीं के कारण ही उसका सर्वज्ञानित्व है। इन्हीं पर उसकी सर्वशक्तिमत्ता है। वह इन्हीं से सर्वभूतादिक का निर्माण करता है। ईश्वर से पृथक नामरूपों की कोई सत्ता नहीं यद्यपि ईश्वर स्वयं इनसे भिन्न शुद्ध चेतन है। जगत ईश्वर की क्रीडा अथवा लीलामात्र है। माया के कारण

माया और ईश्वर

---

१ "अविद्यालक्षणा अनादिमाया"

—माण्डूक्य उप० शांकर भाष्य III ३६।

—शारीरिक भाष्य।

२ "ईश्वरस्यात्मभूते इव अविद्याकल्पिते नामरूपे तत्वान्यत्वाभ्याम अनिर्वचनीय संसार प्रपंचबीजभूते ईश्वरस्य माया शक्ति प्रकृतिर इति।"

—शारीरिक भाष्य।

निष्क्रिय ईश्वर सक्रिय हो जाता है।[1] माया महामाया कहलाती है। ईश्वर महामायिन कहा जाता है। सांख्य की प्रकृति के समान माया स्वतन्त्र नहीं है। यह ईश्वर पर आधारित है। अविद्या अथवा माया के कारण ही एक ईश्वर अनेक रूपों में दिखाई देता है। माया सुषुप्ति अथवा सार्वभौम अज्ञान के समान है जिसमें अज्ञानी जीव सोते से रहते हैं। सृष्टि के पूर्व की यही अवस्था है। ईश्वर इसी से जगत की सृष्टि करता है।

शंकर ने माया अथवा अविद्या के निम्नलिखित गुण बतलाए हैं —

माया के गुण

(१) माया अनादि है। उसी से जगत की सृष्टि होती है। वह ईश्वर की शक्ति है। अतः ईश्वर के समान ही माया भी सदा से है। प्रलय के पश्चात भी वह बीजरूप में ईश्वर में विद्यमान रहती है।

(२) माया ईश्वर की शक्ति है। वह पूर्णतः उस पर निर्भर है और उससे पृथक नहीं हो सकती। वह ईश्वर से भिन्न नहीं (अनन्या) है। माया और ईश्वर में तादात्म्य सम्बन्ध है।

(३) सांख्य की प्रकृति के समान जड़ और अचेतन है। यह ब्रह्म के स्वभाव से उसी प्रकार विपरीत है जिस प्रकार सांख्य प्रकृति सांख्य पुरुष से भिन्न है। परन्तु यह न तो प्रकृति के समान यथार्थ है और न स्वतन्त्र।

(४) माया भावरूप है यद्यपि वह यथार्थ नहीं है। उसको भावरूप यह दिखाने के लिये कहा है कि वह केवल निषेधात्मक नहीं है। वास्तव में माया के दो पक्ष हैं। निषेधात्मक पक्ष में यह सद्वस्तु का आवरण है और उसको छिपाए रहती है। भावात्मक पक्ष में यह ब्रह्म के विक्षेप के रूप में जगत की सृष्टि करती है। यह अज्ञान भी है और मिथ्या ज्ञान भी है।

(५) परन्तु माया विज्ञान निरस्या भी है। ज्ञान होने पर यह दूर हो जाती है। मुक्त आत्मा माया के प्रभाव से बाहर है। अविद्या के नाश होने पर विद्या का उदय होता है। रस्सी का ज्ञान होने पर सर्प नहीं रहता उसी प्रकार आत्मा की यथार्थ प्रकृति का ज्ञान होने अथवा ब्रह्मज्ञान होने पर माया रूपी नामरूपात्मक जगत का अस्तित्व नहीं रहता।

(६) भ्रम व्यावहारिक और विवर्तमात्र है। पारमार्थिक सत्ता पर एकमात्र ब्रह्म ही सत्य है। माया व्यावहारिक जगत में उसी ब्रह्म का विवर्त है।

---

1 ईश्वरस्य स्वकल्पना चयत्र औदासीन्यम् मायारूपाश्रयत्व प्रवर्तकत्वम्।

शारीरिक भाष्य।

(७) इसलिये माया अनिर्वचनीय है। वह सत भी है क्योंकि ईश्वर के समान अनादि है और जगत की सृष्टि करती है। वह असत भी है क्योंकि ईश्वर से भिन्न उसकी कोई सत्ता भी नहीं है। वह सत है क्योंकि अज्ञान की अवस्था में वह विद्यमान रहती है। वह असत है क्योंकि ज्ञान होने पर उसका लोप हो जाता है और वह ब्रह्म को सीमित नहीं करती। अन्त में वह सद-असद भी नहीं कही जा सकती क्योंकि यह कहना परस्पर विरुद्ध है। अत शंकर ने माया को 'सदसदनिर्वचनीया' कहा है।[1] माया अव्यक्त है।

(८) माया अध्यासरूप है। जिस प्रकार से रस्सी में सर्प और सीपी में चाँदी का मिथ्या अध्यारोप किया जाता है। उसी प्रकार मायावश जीव एक निर्गुण ब्रह्म को नाना नामरूपात्मक जगत के रूप में देखता है।[2] माया अथवा अविद्या के कारण ही अध्यास होता है। अत माया को मूलाविद्या अथवा अविद्या के रूप में तूलाविद्या भी कहा गया है।

(९) माया का आश्रय और विषय ब्रह्म है[3] तथापि जिस प्रकार रूपहीन आकाश पर आरोपित नील वर्ण का कोई प्रभाव नहीं पड़ता अथवा जिस प्रकार जादूगर अपने जादू से स्वय प्रभावित नहीं होता उसी प्रकार ब्रह्म पर माया का प्रभाव नहीं पड़ता।

(१०) माया अविद्या है। अविद्या अव्यक्त और ईश्वर पर आधारित (परमेश्वराश्रय) है। वह मायामयी है, महासुप्ति है। समस्त भेद अविद्या के कारण है। माया मिथ्याचाररूपा है। अविद्या तामसप्रत्यय है। उसका स्वभाव आवरण डालना है (आवरणात्मकत्वादविद्या)। वह तीन प्रकार से कार्य करती है यथा (१) मिथ्या ज्ञान विपरीत ग्रोहिका (२) सन्देह के रूप मे (समस्योपस्थापिक) (३) अज्ञानके रूप मे (अग्रहणात्मिका)। परन्तु उसका ब्रह्म पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। अविद्या वन्ध्यापुत्र के समान असद नहीं है क्योंकि उसका अनुभव होता है। वह पूर्ण सद भी नहीं है क्योंकि अपरोक्ष ज्ञान होने पर उसका नाश हो जाता है। यदि वह असद होती तो उससे कुछ भी उत्पन्न न होता यदि वह सद होती तो

---

१ "नासद्रूपा नसद्रूपा माया नैवोभयात्मिका सदसद्भ्याम् अनिर्वाच्य मिथ्याभूता सनातनी।"

—सूर्य पुराण।

२ आश्रयत्व विषयत्वभागिनी निर्विभागचितिर एव केवला।"

३ "एक एव परमेश्वर: कूटस्थो नित्यो विज्ञानधातुर अविद्यया मायया मायाविवद अनेकधा विभाव्यते नान्यो विज्ञानधातुर अस्ति।"

—शारीरिक भाष्य।

उससे उत्पन्न वस्तुएं भी सत् होगीं। अतः माया के समान अविद्या को भी सत् या सत् अथवा असत् कुछ भी नहीं कहा जा सकता। अविद्या अनिर्वचनीय है। अविद्या क्या है? जीव उसमें कैसे और कब तथा क्यों फंसता है? ब्रह्म और अविद्या साथ साथ कैसे रहते हैं? अविद्या किसकी है? इत्यादि प्रश्न ऐसे हैं जिनका उत्तर शंकर ने नहीं दिया है क्योंकि ये प्रश्न दर्शन की सीमा से परे हैं। आखिर कार मानव पूर्ण ज्ञान का अधिकारी कभी नहीं हो सकता। कम से कम बुद्धि के द्वारा पूर्ण ज्ञान नहीं दिया जा सकता। ब्रह्म अनुभूति का विषय है। दर्शन में उस अनुभूति की अभिव्यक्ति की अपनी सीमाएं हैं। भारतीय दार्शनिक ही नहीं बल्कि अर्वाचीन जैसे काण्ट इत्यादि पाश्चात्य दार्शनिक भी इन सीमाओं को मानते हैं। वास्तव में जगत और ब्रह्म में तादात्म्य है वे एक ही हैं अतः उनके सम्बन्ध का प्रश्न ही नहीं उठता।[1] जगत ब्रह्म का विवर्त मात्र है। विवर्त की अपनी स्वतन्त्र कोई सत्ता नहीं। वह वस्तु ही है यद्यपि एक अर्थ में उससे पृथक भी दिखाई पड़ता है। ब्रह्म और जगत के सम्बन्ध को समझाने के अन्य दार्शनिक प्रयासों का शंकर ने तर्क पूर्ण खण्डन किया है और यह दिखलाया है कि यह सम्बन्ध अनिर्वचनीय है। तर्क की सीमाओं से परे है। ब्रह्म और जगत के विषय में कार्य कारण सम्बन्ध नहीं लागू हो सकता। जगत ब्रह्म से अनन्य और अव्यतिरिक्त है। शंकर गौडपाद के "अजाति" के सिद्धान्त को मानते हैं। विकास परिवर्तन प्रगति सृष्टि सब भ्रममात्र है। माया शब्द मानव के ज्ञान की सीमाओं का परिचायक है। मानव का ज्ञान जगत तक ही सीमित है। आदि ब्रह्म का विषय अनुभूति का तत्व है। उसके "क्यों" का हल दर्शन के पास नहीं है। जगत परिणाम नहीं बल्कि विवर्त है। परिणाम में कार्य और कारण एक ही स्वभाव के होते हैं। विवर्त में वे भिन्न होते हैं।[2] माया द्रव्य नहीं है अतः वह जगत का उपादान कारण नहीं हो सकती। वह केवल जगत की उत्पत्ति का व्यापार है। अग्नि में गर्मी के समान वह ईश्वर में रहती है। उसके कार्य से उसका अनुमान किया जाता है।

---

१ "नहि ततस्तोः सम्बन्धः।"

—ब्रह्मसूत्र पर शांकर भाष्य ii ७।

२ "परिणामोनाम उपादान समसत्ताक कार्यापत्तिः; विवर्तोनाम उपादान विषम सत्ताक कार्यापत्तिः।"

—वेदान्त परिभाषा

३ "तज्जन्यत्वे सति तज्जन्य जनको व्यापारः।"

—तर्क कारिका

डा० राधाकृष्णन के अनुसार अद्वैत दर्शन मे माया शब्द निम्नलिखित अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। (१) जगत के प्रपञ्च का रहस्य नही है इसी कारण उसे माया कहा गया है। (२) ब्रह्म और जगत का सम्बन्ध अनिर्वचनीय है। ब्रह्म पारमार्थिक और अपरोक्षानुभूति का विषय है और जगत व्यावहारिक है। अत उनके परस्पर सम्बन्ध की तार्किक व्याख्या नही हो सकती। अनिर्वचनीयता को माया शब्द मे समझाया गया है। (३) ब्रह्म केवल इसी अर्थ मे जगत का कारण माना जाता है कि जगत उसपर आधारित है जबकि उसमे ब्रह्म पर कोई प्रभाव नही पडता। ब्रह्म पर इस प्रकार अवस्थित जगत को माया कहते हैं। (४) ब्रह्म के जगत के रूप मे दिखाई देने के तथ्य को माया कहते हैं। (५) पूर्ण पुरुष ईश्वर की आत्माभिव्यक्ति की शक्ति को माया कहते हैं। (६) ईश्वर की यह शक्ति अव्याकृत प्रकृति अथवा उपाधि मे परिवर्तित हो जाती है जिससे भूत जगत की सृष्टि होती है। जगत की उत्पत्ति के इस बीज रूप विषय को माया कहते है।[1]

माया शब्द के विभिन्न अर्थ

क्या माया भ्रम मात्र है ?

व्यावहारिक जगत के स्वरूप को समझाने के लिये शकर ने रज्जु-सर्प, शुक्ति-रजत आकाश-तल-मलिनता, गन्धर्वनगर, मरीच्यम्भ कदली-गर्भ, स्वप्न, जल-बुद्बुद्, फेन, माया, अलात चक्र मायानिर्मित हस्ति, द्विचन्द्र दर्शन, इन्द्र-जाल इत्यादि रूपका का प्रयोग किया है शकर के अनुसार एक मात्र ब्रह्म ही सत्य है अत जगत ब्रह्म से भिन्न होने के कारण मिथ्या कहा गया है।[2] अद्वैत दर्शन के तर्क के अनुसार ब्रह्म एक ही साथ एक और अनेक, सत और संभूति नही हो सकता। शकर के कथानुसार यदि एक और अनेक दोनो ही सत होते तो हम सासारिक व्यक्ति को असत्य मे फँसा नही कह सकते यह नही कहा जा सकता कि ज्ञान से मोक्ष प्राप्त होता है और उस अवस्था मे एक का ज्ञान अनेक के ज्ञान का अतिक्रमण नही कर सकता।[3] परन्तु इसका अर्थ यह नही है शकर ने जगत के स्वप्न अथवा मानसिक प्रत्यय मात्र समझा है। भारत मे समाज और धर्म सुधार के लिये उनके महान प्रयत्न इस बात के स्पष्ट प्रमाण है कि शकर जगत को स्वप्न नही समझते थे।

जगत असत है

---

1 Indian Philosophy

२ ब्रह्मभिन्नसर्वं मिथ्या ब्रह्मभिन्नत्वात"

—वेदान्त परिभाषा

३ शारीरिक भाष्य ॥ १ १४

मायावाद का यथार्थ अर्थ समझने के लिए शंकर के विवर्तवाद को भली प्रकार समझना आवश्यक है। शंकर ने दार्शनिक और लौकिक दृष्टिकोण को एक दूसरे से बिल्कुल पृथक रखा है और दोनों का समुचित सामंजस्य भी किया है दार्शनिक पक्ष से कोई समझौता करने को तैयार नहीं है। असत्‌ असत है उस सत में स्थान नहीं दिया जा सकता। परन्तु फिर असत की भी श्रेणियाँ (Degrees of Unreality) हैं। व्यावहारिक और प्रतिभासिक सत्ता में भेद है।

शंकर के अनुसार सभी प्रकार और समस्त विषय तीन कोटियों में विभाजित किये जा सकते हैं—

त्रिविध सत्तायें

(१) प्रातिभासिक—वे विषय हैं जोकि स्वप्न अथवा भ्रम आदि में क्षण भर के लिये प्रकट होते हैं किन्तु जाग्रत अवस्था के अनुभवों से बाधित होते हैं।

(२) व्यावहारिक—वे विषय हैं। जोकि स्वाभाविक जाग्रत अवस्था में प्रकट होते हैं परन्तु जो तार्किक दृष्टि से बाधित होने की सम्भावना के कारण पूर्ण सत्य नहीं कहे जा सकते जैसे हमारे व्यवहार की घट पट आदि वस्तुएँ।

(३) पारमार्थिक—शुद्ध सत्ता है जोकि सभी प्रतीतियों में प्रकट होती है जो न बाधित होती है और न जिसके बाधित होने की कल्पना ही की जा सकती है।

अतः शंकर ने स्वप्न और व्यावहारिक जगत में स्पष्ट भेद किया है। इन दोनों के कारण रूप अज्ञान भी भिन्न भिन्न हैं। प्रातिभासिक विषयों का अनुभव व्यक्तिगत और तात्कालिक अज्ञान से होता है। इसको अविद्या कहते हैं। व्यावहारिक विषयों का अनुभव सार्वजनिक और अपेक्षाकृत स्थायी अज्ञान से होता है। इसे माया कहते हैं। वस्तुतः जगत सत और असत के बीच में है। शंकर के अनुसार जैसे कारणरूपी ब्रह्म की सत्ता त्रिकाल में रहती है वैसे ही (सत्ता रूपेण जगत भी) त्रिकाल में सत्य नहीं खोती है क्योंकि कारण-कार्य अभिन्न हैं।[1] पुनश्च नाना रूपनामात्मक विषय सत्तारूपेण सत्य हैं। किन्तु अपने विशेष रूप में असत्य हैं।

---

१ यथा च कारणं ब्रह्म त्रिषु कालेषु सत्त्वं न व्यभिचरति एवं कार्यम् अपि जगत्त्रिषु कालेषु सत्त्वं न व्यभिचरति। —ब्रह्म सूत्र २ १ १६।

२ सर्वं च नामरूपादि सदात्मनैव सत्यं विकारजातं स्वतस्तु अनृतमेव। छान्दोग्य ६.३ २।

किसी द्रव्य के वास्तविक विकार को परिणाम कहते हैं जैसे दूध का दही बन जाना। इसके विपरीत किसी द्रव्य के विकार के आभास को

विवर्त वाद

विवर्त कहते है जैसे रस्सी का साँप दिखलाई पडना।[1] ये दोनो ही मत सत्कार्यवादी हैं। साख्य और विशिष्टाद्वैत दर्शन परिणामवादी हैं, अद्वैत वेदान्त विवर्तवाद को मानता है। शकर सत्कार्यवाद को विवर्तवाद के ही रूप मे मानते हैं। उनके अनुसार कार्य कारण से भिन्न नही है। मिट्टी का बर्तन मिट्टी के अतिरिक्त और कुछ नही है। सोने का गहना सोना ही है। फिर कार्य और उसके उपादान कारण मे अविच्छेद्य सम्बन्ध है। कार्य कारण के बिना नही रह सकता। मिट्टी से बर्तन और सोने से गहना पृथक नही हो सकता। यह समझना भ्रम हैं कि कार्य कोई नई वस्तु है जो पहले नही थी और अब उत्पन्न हुई है। तत्व रूप मे वह अपने उपादान कारण मे सदैव विद्यमान थी। असत से सत उत्पन्न होने की कल्पना नही की जा सकती द्रव्य केवल एक रूप से दूसरे रूप मे आ सकता है। यदि असत् से सत् की उत्पत्ति सभव होती तो केवल तिल से ही नही बल्कि बालू से भी तेल निकल सकता। निमित्त कारण की क्रिया से किसी नवीन द्रव्य की उत्पत्ति न होकर केवल उस द्रव्य के निहित रूप की अभिव्यक्ति मात्र हो जाती है। अत कार्य कारण से अनन्य और उसमे पहले से ही विद्यमान है। कार्य कारण की ही अवस्था मात्र है (कारणस्य एव सस्था मात्र कार्यम्)। अत कारण-कार्य का सम्बन्ध वास्तविक परिवर्तन नही है। परिवर्तन शील ससार एक आभास मात्र है। यह आभास अध्यास के कारण हैं। अध्यास अविद्या के कारण है। अध्यास और अविद्या अनादि हैं अत जगत भी अनादि मालूम पडता है।

शकर के अनुसार साख्य सत्कार्यवाद का सही अर्थ नही समझ पाता। साख्य का मत है कि कार्य के उपादान कारण मे विद्यमान रहने पर

परिमाणवाद का खडन

भी उपादान मे वास्तविक विकार या परिणाम होता है क्योंकि वह नया रूप धारण कर लेता है। शकर के अनुसार इस का अर्थ यह हुआ कि जो आकार असत् था वह सत् हो गया। इस प्रकार सत्कार्यवाद का सिद्धान्त ही समाप्त हो जाता है। आकार परिवर्तन वास्तविक विकार नही है।

---

१ विवर्तवादस्य हि पूर्व भूमि वेदान्त वादे परिणामवाद।
व्यवस्थितेऽस्मिन् परिणाम वादे, स्वय समायाति विवर्तवाद ॥
—सक्षेप शारीरिक २, ६१।

आकार द्रव्य या उपादान की एक अवस्था मात्र है जो उस द्रव्य से अविच्छेद्य है। आकार की सत्ता वस्तु के कारण है। आकार परिवर्तन पर भी वस्तु वही रहती है। सोते उठते और बैठते हुए भी देवदत्त देवदत्त ही रहता है। फिर आकार द्रव्य से पृथक भी नहीं है। यदि आकार और द्रव्य अलग अलग हैं तो उनमें सम्बन्ध होना असम्भव है क्योंकि दो पृथक वस्तुओं को तीसरी वस्तु की सहायता से ही मिलाया जा सकता है। फिर इस तीसरी वस्तु को पहली और दूसरी वस्तु से मिलाने के लिये चौथी और पांचवी वस्तु की आवश्यकता पड़ेगी। इस प्रकार यह क्रम चलते जाने से अनवस्थादोष आ जायगा। अतः आकार द्रव्य से भिन्न नहीं है। इसलिये यदि द्रव्य वही रहता है तो आकार परिवर्त विवर्तन मात्र है चित्सुखी अद्वैत सिद्धि और 'खंडन खंडखाद्य' आदि स्वतन्त्र अद्वैतवादी ग्रन्थों में विवर्तवाद के पक्ष में सैकड़ों चमत्कार पूर्ण युक्तियाँ मिलती हैं।

विवर्तवाद की विशेषता

शंकर ने जहाँ अपने विवर्तवाद को श्रुति से उक्तियाँ देकर सिद्ध किया है वहाँ यह भी दिखलाया है कि विवर्तवाद को मानने से सृष्टि सम्बन्धी अनेक कठिनाइयाँ दूर हो जाती हैं। सृष्टि को परिणाम मान लेने पर उसको समझाना असम्भव है। यदि ईश्वर को सृष्टि कर्ता माना जाय और सनातन प्रकृति से जगत की रचना मानी जाय तो ईश्वर की असीमता नष्ट हो जाती है क्योंकि उसके अतिरिक्त प्रकृति की भी सत्ता माननी पड़ती है। प्रकृति को सत्य मानकर ईश्वर पर आश्रित मानने में भी कठिनाई है। इस अवस्था में या तो प्रकृति ईश्वर का एक अंश मात्र है अथवा सम्पूर्ण ईश्वर से अभिन्न है। रामानुज के समान पहला विकल्प मान लेने पर ईश्वर भी भौतिक द्रव्यों के समान सावयव और नश्वर हो जाता है। यदि प्रकृति को ईश्वर से अभिन्न माना जाय तो प्रकृति के विकास का अर्थ सम्पूर्ण ईश्वर का जगत में परिणत हो जाना है। इस प्रकार सृष्टि के उपरान्त कोई ईश्वर नहीं बचता। अतः यह स्पष्ट है कि ईश्वर में पूर्ण अथवा अंश वास्तविक विकार मानने पर वह ईश्वर कहलाने योग्य नहीं रहता। शंकर के मतानुसार विवर्तवाद को मान लेने पर ये सब कठिनाइयाँ दूर हो जाती हैं।

प्रतिबिम्बवाद

इसी विवर्तवाद के आधार पर अद्वैतवाद जीव और ब्रह्म के सम्बन्ध के विषय में प्रतिबिम्बवाद का प्रतिपादन करते हैं। अनन्त चैतन्य का अविद्या के दर्पण पर पड़ने वाला प्रतिबिम्ब ही जीव है। जैसे अनेक जलाशयों में एक ही चन्द्रमा के अनेक प्रतिबिम्ब पड़ते हैं और जल की स्वच्छता और मलिनता के अनुरूप प्रतिबिम्ब भी स्वच्छ या मलिन दिखाई पड़ता है तथा जल की स्थिरता और चंचलता के

अनुसार प्रतिबिम्ब भी स्थिर या चंचल प्रतीत होता है उसी प्रकार अविद्या की प्रकृति के कारण अनन्त व प्रतिबिम्ब स्वरूप जीव भी भिन्न भिन्न आकार प्रकार के दिखाई पड़ते हैं। प्रतिबिम्ब की उपमा से दो बातें समझ में आती हैं। एक तो यह कि एक ही ब्रह्म भिन्न भिन्न अविद्याओं व फलस्वरूप भिन्न भिन्न अन्तःकरणों में भिन्न भिन्न प्रकार से प्रतिबिम्बित होता है। और दूसरे इससे यह भी संकेत मिलता है कि अन्तःकरण जितना ही निर्मल होगा उतना ही अधिक स्पष्ट रूप में ब्रह्म का प्रतिबिम्ब उसमें उतरेगा।

अवच्छेदवाद

परन्तु प्रतिबिम्ब वाद के मानने में एक बड़ा दोष यह है कि इससे जीवों की मुक्ति का अर्थ उनका विनाश हो जाता है क्योंकि अविद्या रूपी दर्पण के टूट जाने पर उसके प्रतिबिम्ब भी नष्ट हो जायेंगे अतः जीव की सत्ता को बचाने के लिये कुछ अद्वैतवादियों ने अवच्छेदवाद की स्थापना की है। इसमें घटाकाश (घड़े के बीच का आकाश) की उपमा दी गई है। वास्तव में आकाश सर्वव्यापी और एक है परन्तु घट मठ आदि उपाधि भेद से वह घटाकाश मठाकाश आदि रूपों में आभासित होता है और व्यावहारिक सुविधा की दृष्टि से हम इस काल्पनिक विभाग को यथार्थ मान लेते हैं। इसी प्रकार ब्रह्म के सर्वव्यापी और एक होने पर भी अविद्या के कारण उपाधि-भेद से नाना जीवों और विषयों के रूप में प्रतीत होता है। अतः जीव सीमित सान्त रूप में दिखाई पड़ने पर भी ब्रह्म से अभिन्न हैं। मुक्ति का अर्थ अविद्यामूलक उपाधियों को तोड़कर निरुपाधिक ब्रह्म स्वरूप हो जाना है। यह मत 'अवच्छेदवाद' कहलाता है।

मोक्ष विचार

शारीरिक भाष्य में शंकर ने मोक्ष का वर्णन इस प्रकार किया है —

मोक्ष का स्वरूप

'इदं तु पारमार्थिकं, कूटस्थं, नित्यं, व्योमवत् सर्वव्यापी, सर्वविक्रिया रहितं, नित्यतृप्तं, निरवयवं, स्वयंज्योतिस्वभावं, यत्र धर्माधर्मौ सहकार्येण कालत्रयं च नोपावर्तते तद् अशरीरं मोक्षाख्यम्'' अर्थात् वह जो कि पारमार्थिक सत्य है, कूटस्थ है, नित्य है, आकाश के समान सर्वव्यापी है, समस्त क्रियाओं से रहित, नित्य तृप्त, निरवयव है, जिसका स्वयं-ज्योति का स्वभाव है, जहाँ पर धर्म, अधर्म, कार्य भूत, भविष्य तथा वर्तमान आदि को कोई स्थान नहीं वह अशरीरी अवस्था मोक्ष है। मुक्त आत्मा अपना यथार्थ स्वरूप प्राप्त कर लेता है (स्वात्मनि अवस्थानम्)। अद्वैत ब्रह्म सिद्धि में मोक्ष को 'आत्मा से अविद्या की निवृत्ति'[1] कहा है। चित

---
१ आत्मनि एवाविद्या निवृत्ति

शंकराचार्य के अनुसार मोक्ष अनवच्छिन्न आनन्द की प्राप्ति है।[1] मोक्ष नित्य है। आत्मा नित्य मुक्त है। अतः मोक्ष में कुछ नया नहीं प्राप्त होता क्योंकि ऐसा होने पर वह अनित्य हो जायेगा।

वास्तव में ज्ञान होने और मोक्ष प्राप्त करने के बीच में कोई भी अन्तर नहीं है।

मोक्ष ब्रह्मभाव है

उपनिषदों में कहा है कि ब्रह्मज्ञानी ब्रह्म हो जाता है। मोक्ष सर्वात्मभाव है। यह ब्रह्म से एकता की अवस्था है।[3] ब्रह्म के अनुभव में ही ब्रह्मज्ञान की चरम परिणति है।[4] ब्रह्मज्ञान में ज्ञाता ज्ञेय और ज्ञान का कोई अन्तर नहीं। पारमार्थिक दृष्टि से आत्मा, ब्रह्म और मोक्ष एक ही है। आत्मा ब्रह्म है और आत्मा नित्य मुक्त भी मोक्ष का अर्थ आत्मत्व की भावना का उन्मूलन है। अतः रूपात्मक जगत् का विनाश नहीं क्योंकि वास्तव में पारमार्थिक आत्मा का जगत् से कोई सम्बन्ध नहीं है। बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा है। 'असंगो ह्ययं पुरुष' अर्थात् वास्तव में यह आत्मा असंग है। मोक्ष का अर्थ ब्रह्म और आत्मा की एकता (ब्रह्मात्मैक्य) का ज्ञान है। यह ज्ञान कोई काल्पनिक तादात्म्य (सम्पद् रूपम्) अथवा आत्मा में ब्रह्म का आरोप (अध्यासरूपम्) नहीं है। शंकर के अनुसार ज्ञान क्रिया नहीं है। अतः मोक्ष प्राप्त होना किसी प्रकार की क्रिया नहीं है। वास्तव में मुक्त आत्मा के सामने से अविद्या का मिथ्या आवरण हट जाने से वह अपना स्वरूप जान जाता है। यही मोक्ष है। मोक्ष ज्ञान से नहीं होता बल्कि वह ज्ञान ही है। पद्मपाद के शब्दों में मिथ्याज्ञान की निवृत्ति ही मोक्ष है।[5] मिथ्या अभिमान के भ्रम से दुःखों का अनुभव होता है। इसी मिथ्या ज्ञान के हट जाने से दुःखों का अन्त हो जाता है।

अन्य मतों से अन्तर

जिस प्रकार शंकर का ब्रह्म माध्यमिक दर्शन के शून्य से भिन्न है उसी प्रकार मोक्ष भी निर्वाण से भिन्न है। मोक्ष निषेधात्मक नहीं है। वह आनन्द है। न्याय के अपवर्ग के समान वेदान्त के मोक्ष में आत्मा अचेतन नहीं हो जाता बल्कि शुद्ध चैतन्य के रूप में दिखाई देने लगता है जो कि उसका स्वभाव ही है। विशिष्टाद्वैत के अनुसार मोक्ष में आत्मा स्वयं ब्रह्म नहीं हो

---

१ अनवच्छिन्नानन्द प्राप्ति।

२ ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति —मुंडक

३ ब्रह्मैव हि मुक्त्यवस्था। —शारीरिक भाष्य

४ अनुभवावसानत्वाद् ब्रह्मज्ञानस्य। —शारीरिक भाष्य

५ मिथ्याज्ञाननिवृत्तिमात्रम् मोक्षः।

जाता बल्कि उसके समान प्रतीत होने लगता है, ईश्वर के सहवास में रहता है, उसके लोक में रहता है अथवा उसके समीप रहता है। परन्तु (अद्वैत में मुक्त आत्मा स्वयं को ही सब में देखती है, कोई दूसरा नहीं देखती)।[1] बौद्धों के समान अद्वैत के मोक्ष में आत्मा ही नष्ट नहीं हो जाती बल्कि उसकी उपाधिमात्र ही नष्ट होती है।[2] मुक्तात्मा ब्रह्म से अविभाग है उसके लिये जगत का प्रपञ्चात्मक रूप समाप्त हो जाता है और सब ओर ब्रह्म ही दिखाई पड़ता है। मोक्ष आत्म शुद्धि से नहीं मिलता क्योंकि आत्मा शुद्धि क्रिया है। मोक्ष ज्ञान से मिलता है जो कि क्रिया नहीं बल्कि स्वयं सत्ता है मोक्ष नित्य शुद्ध ब्रह्म स्वरूप है।

शंकर क्रममुक्ति की संभावना को मानते हैं। ओम के ध्यान के विषय में प्रश्नोपनिषद के एक पद की टीका करते हुए, वे कहते हैं कि इस प्रकार का ध्यान ब्रह्म लोक को ले जाता है जहाँ कि हम क्रमश पूर्ण ज्ञान प्राप्त करते हैं। एक अन्य स्थान पर वे कहते हैं कि सगुण ईश्वर की उपासना से पापों से शुद्धि (दुरितक्षय) होती है, ऐश्वर्य प्राप्ति होती है और क्रममुक्ति प्राप्त होती है।

क्रम मुक्ति

शंकर के अनुसार मोक्ष का अर्थ शरीर का नाश नहीं बल्कि अज्ञान का नाश होना है। अत वे जीवन्मुक्ति को मानते हैं। जैसा कि कुम्हार का चाक बर्तन के बन जाने के बाद भी काफी देर तक घूमता रहता है उसी प्रकार मोक्ष प्राप्त होने के पश्चात भी जीवन चलता है क्योंकि उसमें कोई ऐसा कारण नहीं है जिससे पहले की गति रोकी जा सके। शंकर एक ऐसे व्यक्ति की उपमा देते हैं जो कि आँख में कुछ दोष के कारण दोहरा चन्द्रमा देखता है और यह जानने के पश्चात् भी कि वास्तव में चन्द्रमा एक ही है, दो चन्द्रमा देखने से नहीं रुक सकता। मुक्ति व्यक्ति के लिए सभी क्रियाएँ ब्रह्म में ही होती है। जीवन मुक्ति के विषय में शंकर के बाद के अद्वैत वेदान्तियों ने अनेक विचार उपस्थित किये हैं। कुछ के अनुसार अविद्या के उन्मूलन के बाद भी वह कुछ समय तक रहती है। कुछ के अनुसार मुक्तात्मा के लिये शरीरादि तथा जगत का अस्तित्व नहीं रहता। जीवन्मुक्त की अवस्था को ही 'विदेह मुक्ति' कहते हैं।

जीवन मुक्ति

(शंकर के अनुसार मोक्ष अर्थात आत्मा की अशरीरी अवस्था नित्य है)।

---

१ मुक्तस्यापि सर्वैकत्वात समानो द्वितीयाभाव ।

—शारीरिक भाष्य

२ उपाधि प्रलय एवायम् नात्मप्रलयम् ।"

—शारीरिक भाष्य

शारीरिक भाष्य में शंकर ने कहा है 'मोक्षाख्यम् अशरीरत्वं नित्यम् ।'' यहाँ पर एक समस्या उठती है । यदि आत्मा नित्य मुक्त है तो मोक्ष के लिये साधना करने की क्या आवश्यकता है ।

यदि आत्मा नित्य मुक्त है तो साधना की क्या आवश्यकता है ?

दूसरी बार यदि साधनों से मोक्ष मिलता है तो फिर आत्मा को 'सर्वदा वर्तमान स्वभावत्वात्' नित्योपलब्धि स्वरूपत्वात् स्वमहिम प्रतिष्ठत्वम् इत्यादि कहना निरर्थक प्रतीत होता है । सूक्ष्म दृष्टि से देखने से ज्ञात होगा कि वेदान्त में सब कहीं दो प्रकार की आत्माओं का वर्णन है । विज्ञानात्मा भोक्ता और कर्ता है । परमात्मा (Metaphysical Self) अकर्ता और नित्य मुक्त है । जीव अपने नित्य आत्मा के रूप को भूलकर अपने विज्ञानात्मा रूप को ही सब कुछ समझने लगता है । जीव का वास्तविक रूप परमात्मा ही है । अविद्या का अर्थ जीवात्मा और परमात्मा का द्वैत है । इसी द्वैत का नष्ट करके आत्मा की एकता स्थापित करना वेदान्त का लक्ष्य है । अतः परमात्मा नित्य मुक्त है परन्तु विज्ञानात्मा को मुक्त करने के लिये श्रवण मनन और निदिध्यासन आदि साधनों की आवश्यकता है । इन साधनों से जीवात्मा द्वैत भाव को छोड़कर परमात्मा को पहचान जाता है और इस प्रकार मोक्ष प्राप्त करता है । कुछ लोग यहाँ पर यह समस्या लाते हैं कि आखिर जीवात्मा अविद्या में फँसता ही क्यों है ? डायसन (Deussen) तथा पार्थसारथी मिश्र के अनुसार शंकर अविद्या के उत्पन्न होने का कारण नहीं बतलाते । परन्तु वास्तव में अविद्या का कारण बतलाना सम्भव ही नहीं है । अविद्या अनादि है जैसे आत्मा अनादि है । अविद्या क्यों है यह पूछना वैसा ही है जैसा यह पूछना कि आत्मा क्यों है ? अन्त में दार्शनिक युक्तियों की भी एक सीमा है । उससे आगे मानव बुद्धि को चुपचाप अनुभूति का अनुसरण करना पड़ता है ।

अतः अविद्या के कारण को जानने में माथापच्ची न करते हुए जीव को मोक्ष प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये । इस प्रयत्न में शंकर ब्रह्मज्ञान को साधन नहीं बल्कि साध्य मानते हैं । यह परम श्रेय है । शंकर के मत में नैतिकता का स्थान न होने का आक्षेप करने वाले यह भूल जाते हैं कि भारतीय दार्शनिकों के सम्मुख नैतिकता कभी परम श्रेय नहीं रही । नैतिक स्तर से भी आगे धार्मिक और धार्मिक से भी आगे आध्यात्मिक स्तर है । यही मानव का परम लक्ष्य है । परन्तु आध्यात्मिक लक्ष्य नैतिक लक्ष्य को छोड़ता नहीं बल्कि उसको परिपूर्ण करके उससे आगे बढ़ता है । अतः एक सीमा तक अन्य भारतीय दर्शनों के समान अद्वैत वेदान्त में भी नैतिक और धार्मिक साधनों का महत्त्व स्वीकार किया है ।)

साधन चतुष्टय

स्वयं शंकर ने वेदान्त का अधिकारी बनने से पहले व्यक्ति में 'साधन चतुष्टय' का होना आवश्यक माना है। ये साधन चतुष्टय निम्नलिखित हैं —

१ नित्यानित्य वस्तु विवेक—अर्थात् साधक को नित्य और अनित्य पदार्थों में भेद करने का विवेक होना चाहिये।

२ इहामुत्रार्थ भोग विराग—अर्थात् साधक को लौकिक तथा पारलौकिक सब प्रकार के भोगों की कामना का परित्याग कर देना चाहिये।

३ शमदमादि साधन सम्पत्—अर्थात् साधक को शम, दम, श्रद्धा, समाधान उपरति और तितिक्षा, इन छः साधनों से युक्त होना चाहिये। शम का अर्थ मन का संयम और दम का अर्थ इन्द्रियों का नियन्त्रण है। श्रद्धा शास्त्र में निष्ठा रखने को कहते हैं। 'समाधान' का अर्थ चित्त को ज्ञान के साधन में लगाना है। उपरति विक्षेपकारी कार्यों से विरत होने को कहते हैं। तितिक्षा शीतोष्ण आदि सहन करने के अभ्यास को कहते हैं।

४ मुमुक्षत्व—अर्थात् साधक को मोक्ष प्राप्ति के लिये दृढ़ संकल्प कर लेना चाहिये।

साधन चतुष्टय से वासनादि पर विजय प्राप्त कर लेने के पश्चात् वेदान्त में श्रवण, मनन और निदिध्यासन की व्याख्या है। सबसे पहले ब्रह्मज्ञानी गुरु से उपदेश सुनना चाहिये। मिथ्या संस्कारों का नाश होकर ब्रह्म की सत्यता में अचल निष्ठा हो जाने पर मुमुक्षु को गुरु 'तत्वमसि' (तू ब्रह्म है) का उपदेश देते हैं। तदनन्तर साधक एकाग्र चित्त से इस सत्य पर मनन अर्थात् विचार करता है और फिर बारबार उस पर निदिध्यासन अर्थात् उसका ध्यान करता है। इससे वह इस सत्य की अनुभूति करने लगता है और 'अहम्' की स्पष्ट साक्षात्कार करता है। यह अनुभव ही ब्रह्मज्ञान की चरम सीमा है। यही मोक्ष है। इससे समस्त द्वैत मिट जाते हैं, सन्देह और मोह दूर हो जाता है और परम आनन्द की प्राप्ति होती है। मुक्त व्यक्ति जब तक जीवित रहता है तब तक समाज और प्राणिमात्र की सेवा करता है और शरीर छोड़ने के पश्चात् फिर उसके बन्धन में नहीं पड़ता।

श्रवण, मनन, निदिध्यासन

पञ्चदश अध्याय

विशिष्टाद्वैत दर्शन

रामानुजाचार्य के अनुसार तीन परम मूल तत्व 'चित्' 'अचित्' और ईश्वर हैं। इस दर्शन में ईश्वर तो प्रधान अंगी है और 'चित्' तथा 'अचित्' उसके दो विशेषण अथवा अंग हैं। इसलिये यह मत 'विशिष्ट-अद्वैतवाद' कहलाता है।

प्रमाण विचार

रामानुज जगत के समस्त पदार्थों को प्रमेय और प्रमाण इन दो भागों में विभाजित करते हैं। तत्व प्रमेय है जिनका वर्णन आगे किया जायेगा। उनका यथार्थ ज्ञान प्रमाण है। प्रमाण तीन हैं—प्रत्यक्ष अनुमान और शब्द।

१ प्रत्यक्ष

प्रत्यक्ष इन्द्रिय द्वारा साक्षात यथार्थ ज्ञान का कारण है। यह दो प्रकार का है—निर्विकल्प तथा सविकल्प। निर्विकल्प गुण तथा अवयव संस्थान से विशिष्ट विषय का प्रथम बार का ज्ञान है। सविकल्प इस प्रकार का दूसरी अथवा तीसरी बार का ज्ञान है। इस प्रकार रामानुज का मत न्याय के मत से भिन्न है। इन्द्रियों और विषयों के सन्निकर्ष से पाँचों इन्द्रियों द्वारा भिन्न भिन्न प्रकार का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। रामानुज ने स्मृति प्रत्यभिज्ञा और अभाव तथा यह संशय और प्रतिभा को भी प्रत्यक्ष के ही अन्तर्गत माना है। सत्ख्यातिवादी होने के कारण इस मत में ज्ञान के सभी विषय सत्य हैं (सर्वं विज्ञानं यथार्थम्)। जिस ज्ञान से लौकिक व्यवहार में बाधा पड़ उसे भ्रमात्मक कहा गया है। जैसे भ्रम तथा 'स्वप्न ज्ञान' भी यथार्थ है। अन्त करणावच्छिन्न अन्तःकरण वृत्यवच्छिन्न तथा विषयावच्छिन्न से तीनों प्रकार के चैतन्य एक होने से साक्षात्कार होता है।

२ अनुमान

व्याप्ति के ज्ञान से व्यापक के ज्ञान के साधन को अनुमान कहते हैं। इसके फल को अनुमिति कहते हैं। व्याप्ति व्याप्य और व्यापक में उपाधि रहित नियत सम्बन्ध को कहते हैं। इसका ज्ञान दो वस्तुओं को एकत्रित देखने से होता है। व्याप्ति के दो भेद अन्वय और व्यतिरेक के अनुसार अनुमान के दो 'भेद' माने गए हैं—केवलान्वयी और अन्वय व्यतिरेकी। ये लोग केवल व्यतिरेकी अनुमान को नहीं मानते। साधारण रूप से इस मत में भी अनुमान के पाँच अवयव—'प्रतिज्ञा' 'उपनय' 'निगमन' 'हेतु' तथा 'उदाहरण' माने गए हैं—परन्तु क्योंकि व्याप्ति और पक्षधर्मता की सिद्धि केवल उदाहरण तथा 'उपनय' के ही कारण होती है।

अत तत्त्वमसि मे ईश्वर के एक विशिष्ट रूप तथा दूसरे विशिष्ट रूप में अभेद बतलाया गया है। एक ब्रह्म ही इन दो प्रकारों में विद्यमान है। अत रामानुज का मत विशिष्टाद्वैत कहलाता है। इस मत के अनुसार अभेद का सम्बन्ध न तो सर्वथा भिन्न पदार्थों म और न सर्वथा अभिन्न पदार्थों मे ही स्थापित किया जा सकता है। विशिष्टाद्वैत के अनुसार जीव और ईश्वर मे अद्वैत अवश्य है परन्तु विशिष्ट प्रकारों का अद्वैत है क्योंकि दोनों एक नही है।[1]

तत्त्वमसि का अर्थ

माधवाचार्य के सर्वदर्शन सग्रह के अनुसार रामानुज ईश्वर और जीव के सम्बन्ध मे भेद अभेद और भेदाभेद तीनों को मानते है। अन्य मतो मे इस विषय मे उनका भेद दिखाने के लिए कुछ लोग इस मत को 'अपृथक् स्थिति' का नाम देते है। काश्मीरी विद्वान सदानन्द के अनुसार भी रामानुज भेदाभेद वादी है। स्वय रामानुज के शब्दो म इस भेदाभेद का अर्थ है "एक वस्तु द्विरूप प्रतीयते। प्रकार द्वयावस्थित स्यात् सामानाधिकरण्यम्"[2]। अर्थात् एक ही वस्तु दो रूपो म विभाजित हो जाती है। यहाँ पर यह ध्यान रखना चाहिए कि रामानुज का यह भेदाभेद अन्य सभी सिद्धान्तो मे भिन्न है क्योंकि उन्होने भेद अभेद के साथ साथ भेदाभेद वाद का भी खडन किया है। उनके अपने मतानुसार भेद का अर्थ यह है कि ईश्वर पूर्ण और अनन्त है और जीव अपूर्ण तथा अणु है अत दोनो म भेद है। अभेद तादात्म्य अथवा अनन्यत्व का अर्थ यह है कि ईश्वर जीवो का आत्मा है। चित् और अचित् ये दोनो ब्रह्म मे नित्य वर्तमान है और सर्वव्यापी ब्रह्म से भिन्न स्वरूप होते हुए भी नित्य अविच्छेद्य रूप से ब्रह्म से सम्बद्ध है। मूलद्रव्य अथवा प्रकार सत्ता के रूप मे ब्रह्म सभी जीवो का उपादान-स्वरूप है। ब्रह्म और जीवो म पूर्ण और अश का गुण और द्रव्य का तथा कार्य और कारण का सम्बन्ध है। यहाँ कार्य और कारण का सम्बन्ध पूर्वापर भाव मे नही बल्कि उपादान या द्रव्य के भाव मे है। इस दृष्टि से जीव और ब्रह्म मे भेदाभेद का सम्बन्ध है। पूर्ण कभी अश नही बन सकता। इसी प्रकार ब्रह्म भी कभी जीव नही बन सकता।

भेद अभेद और भेदाभेद

---

१ प्रकार द्वयविशिष्टैकवस्तुप्रतिपादनेन सामानाधिकरण्य च सिद्धम् ॥

—श्री भाष्य १ १ १ ।

२ अद्वैत ब्रह्मसिद्धि पृ १४३ २७ ।

३ श्रीभाष्य १ १ १ पृ ११ ।

४ श्रीभाष्य १ १ १ पृ ९४ ।

परन्तु रामानुज का भेदाभेद निम्बार्क के भेदाभेद से भिन्न है। भेद और अभेद दोनो को सत्य मानकर भी रामानुज ने आधार द्रव्य के एकत्व का प्रतिपादन किया है और अनेकत्व को उस पर आश्रित माना है। इस प्रकार उन्होने अपने भेदाभेद मे भेद से अधिक अभेद पर जोर दिया है। घाटे (Ghate) के शब्दो में "निम्बार्क और रामानुज के मतो मे बहुत समानता है। दोनो भेद और अभेद को वास्तविक मानते हैं। परन्तु निम्बार्क के लिये भेद और अभेद इन दोनो का एक ही महत्व है, ये दोना एक ही स्तर के हैं। परन्तु रामानुज अभेद के मुख्य और भेद को गौण मानते हैं।"[1] इसी कारण से निम्बार्क का मत द्वैताद्वैत और रामानुज का मत विशिष्टाद्वैत कहलाता है।

निम्बार्क के मत से भेद

श्रीभाष्य मे रामानुज ने अभेद, भेद और भेदाभेद तीनो मतो का खडन किया है।[2] शकराचार्य के अद्वैतवाद के विरुद्ध रामानुज ने ब्रह्म को जीव से भिन्न माना है[3] परन्तु फिर दूसरी ओर उन्होने द्वैतवाद का भी खडन किया है। उनके अनुसार कारण रूप ब्रह्म से जीव जगत अनन्य है। इस प्रकार अभेद और भेद के विरुद्ध उन्होने भेदाभेद का समथन किया है। जीव ब्रह्म का अश है। रामानुज ने स्पष्ट कहा है कि जीव को ब्रह्म का अश मानने पर परस्पर विरुद्ध श्रुति वाक्यो का सामजस्य हो जाता है क्योकि जीव और ब्रह्म में भेद भी है और अभेद भी है। जैसे पूर्ण और अश मे भेद और अभेद दोनो हैं इसी प्रकार ब्रह्म और जीव म भी है। परन्तु फिर रामानुज ने भेदाभेद का भी खडन किया है। कुछ भेदाभेद वादियो के अनुसार जसे घटाकाश वस्तुत सर्व व्यापी आकाश से भिन्न न होकर उसका उपाधि-परिच्छिन्न कल्पित रूप मात्र है उसी प्रकार जीव सर्वव्यापी ब्रह्म से भिन्न होकर उसका एक कल्पित उपाधि रूप मात्र है। इस सिद्धान्त के अनुसार भेद कल्पित है, अभेद सत्य है। इस सिद्धान्त के विरुद्ध रामानुज का यह आक्षेप है कि जब उपाधि कल्पित है तो फिर जीव ही ब्रह्म है और तब जीव के समस्त दोष ब्रह्म पर लागू हो जाते हैं। अत रामानुज स्वय जीव को कभी ब्रह्म नहीं मानते। दूसरे प्रकार के भेदाभेद वादियो के अनुसार जीव ब्रह्म का वास्तविक परिच्छिन्न परिणाम है। पहले जीव नही था अत ब्रह्म मे भेद भी नही था। जीव के परिणाम से भेद की सृष्टि हुई। इसके विरुद्ध

अन्य मतो का खडन

---

१ The Vedanta पृ० ३२

२ १ १ १ । और १ १ ४।

३ श्री भाष्य १ १ १।

रामानुज का यह आक्षेप है कि जब ब्रह्म वस्तुत जीव के रूप मे परिणत हो जाता है तब जीव के समस्त दोष वास्तव में ब्रह्म के ही दोष है।

रामानुज के अनुसार जीव और ईश्वर मे नियाम्य और नियन्ता भेद और शेषि प्रकार और प्रकारि का सम्बन्ध है।

रामानुज ने जीवात्मा तीन प्रकार के माने है—बद्ध मुक्त तथा नित्य।

जीवात्मा के भेद

(१) बद्ध जीव—उन्हें कहते है जिनका सांसारिक जीवन अभी समाप्त नही हुआ है। ये चौदहो भुवनों मे रहते है। ब्रह्मा से लेकर कीड़े मकोड़े जैसे तुच्छ जीवों तक सभी 'बद्ध' है। भगवान् के नाभि कमल से ब्रह्मा ब्रह्मा से देवर्षि महर्षि और नौ प्रजापति उत्पन्न हुए इनसे क्रमश दस दिक्पाल चौदह इन्द्र, चौदह मनु, आठ वसु, ग्यारह रुद्र बारह आदित्य तथा देवयोनि मनुष्य पशु तिर्यक गण तथा स्थावर आदि उत्पन्न हुये। इनम से तिर्यक गण स्थावर आदि को छोड़कर सब 'शास्त्रवश्य' कहलाते है। इनमे से कुछ मोक्ष की इच्छा रखते है कुछ भोग की। भोगियों मे भी कुछ 'अर्थ' और 'काम' को अपना ध्येय बनाते है और कुछ केवल धर्म को। धार्मिक बुद्धि वाले परलोक को मानते है और देवताओ तथा भगवान् मे भक्ति और श्रद्धा रखते है मुक्ति की इच्छा रखने वालो म कुछ तो केवल 'ज्ञान' द्वारा प्रकृति और पुरुष के विवेक को ही लक्ष्य मानते है कुछ भक्ति अथवा प्रपत्ति द्वारा भगवान् म लीन हो जाना चाहते है। भक्ति के मार्ग म जो सब प्रकार से दरिद्र है तथा जिन्हें भगवान् की शरण छोड़ अन्य उपाय नही है वे प्रपन्न कहलाते है। इनम कोई तो भगवान् द्वारा धर्म अर्थ और काम इन तीनो की प्राप्ति को ही ध्येय मानते है और कुछ केवल मोक्ष को ही अपना परम उद्देश्य मानते है। इनमे से कुछ तो ऐसे होते है जो प्रारब्ध कर्म को मानते हुये अपने शरीर के स्वाभाविक अवसान के समय की प्रतीक्षा करते है वे 'दृप्त' कहलाते है। जो इस ससार मे अपने को प्रज्वलित अग्नि मे जलते हुये के समान रखकर शीघ्र इससे छुटकारा चाहते है वे आर्त कहलाते है।

(२) मुक्त जीव—जो अनेक है तथा सब लोकों मे इच्छानुसार विचरण कर सकते है। ये लोग भगवान् की आराधना को अपना कर्तव्य समझकर उनकी नित्य तथा नैमित्तिक आज्ञा का किंकर के समान पालन करते है। वे सदा यह ध्यान रखते है कि भगवान् तथा उनके भक्तो के प्रति भूल से भी कोई अपराध न हो। मरने पर ये हृदय मे परमात्मा का ध्यान करते हुये सुषुम्ना नाड़ी मे प्रवेश कर ब्रह्मरन्ध्र से निकल कर हृदय के साथ साथ सूर्य की किरणो के सहारे अग्नि लोक को चले जाते है। इसके बाद सूर्य मडल को भेद कर नभो रन्ध्र से होते हुये सूर्य लोक पहुँचते है। वहाँ से वैकुण्ठ की सीमा में 'विरजा' नामक

तीर्थ म पहुचकर सूक्ष्म शरीर का त्याग करके दिव्य शरीर धारण कर लेते है और वैकुण्ठ म पहुँचकर भगवान का सान्निध्य पाते है और ब्रह्म के समान भोग करते है ।

(३) नित्य जीव—कभी भी ससार म नहा आते । इनम कभी ज्ञान क्षीण नही होता न य भगवान् के विरुद्ध आचरण करते हैं । ईश्वर की नित्य इच्छा मे ही इनके भिन्न भिन्न अधिकार अनादि काल मे नियत हैं । भगवान् के समान इनके अवतार भी स्वेच्छा से होते हैं ।

(२) अचित् तत्व

अचित् तत्व जड तथा विकार होते है । इनके तीन भेद है—शुद्ध सत्व, मिश्र सत्व तथा सत्व शून्य ।

(१) शुद्ध सत्व—इसम रजोगुण तथा तमोगुण नही रहते । यह नित्य है और ज्ञान तथा आनन्द उत्पन्न करता है । इसके धर्म शब्द, स्पर्श आदि हैं ।

(२) मिश्र सत्व—इसमे तीनो गुण रहते हैं । यही प्रकृति, अविद्या तथा माया कहलाता है । शब्दादि पाच विषय, पाच इन्द्रियाँ, पाच भूत, पाच प्राण, प्रकृति, महत, अहकार तथा मन इसी के बदले हुये परिणाम है ।

(३) सत्व शून्य—सत्व काल है । इसम कोई भी गुण नही है । नित्य, नैमित्तिक तथा प्राकृत-प्रलय इसी काल के अधीन है । यह प्रकृति तथा प्राकृतिक वस्तुओ के परिणाम का कारण है ।

शुद्ध सत्व तथा मिश्र सत्व से जीव तथा ईश्वर के भोग्य विषय, भोग स्थान (चौदह भुवन) तथा चक्षुरादि भोग सामग्री बनते हैं ।

सृष्टि का विकास

अचित् प्रकृति तत्व है । इससे ही सभी भौतिक विषय उत्पन्न होते है । रामानुज उपनिषदो के सृष्टि वर्णन को अक्षरश यथार्थ मानते हैं । सर्व शक्तिमान ईश्वर स्वेच्छा से स्वय मे से यह नाना विषयात्मक जगत् उत्पन्न करते हैं । ब्रह्म मे चित् और अचित् दोनो है । साख्य दर्शन के साथ रामानुज प्रकृति को अजा और शाश्वत सत्ता मानते हैं । परन्तु साख्य के विरुद्ध वे प्रकृति को ईश्वर का अश और उसी से सचालित मानते है जैसे आत्मा शरीर को सचालित करती है । प्रलय की अवस्था मे प्रकृति सूक्ष्म अविभक्त रूप मे रहती है । इसी से जीवात्माओ के पूर्व कर्मानुसार ईश्वर जगत की रचना करते हैं । ईश्वर की इच्छा से प्रकृति तीन तत्वो मे बट जाती है—तेज, जल और पृथ्वी । इनमे क्रमश ये तीन गुण पाये जाते हैं—सत्व, रज, और तम । इन तत्वो के धीरे धीरे आपस

मे मिलने से समस्त स्थूल विषयो की उत्पत्ति होती है। संसार के प्रत्येक विषय मे तीनों गुणों का सम्मिश्रण है। यह सम्मिश्रण क्रिया त्रिवृत-करण कहलाती है।

ब्रह्म परिणाम वाद

रामानुज के अनुसार ब्रह्म ही जगत की सृष्टि, स्थिति और लय करता है। प्रलय की अवस्था मे चित् और अचित् दोनो तत्त्व बीजरूप में ब्रह्म मे विद्यमान रहते है। चित् और अचित् सदा वर्तमान रहते है यद्यपि उनके शरीर और विषय बनते बिगड़ते रहते है। विषयों के अभाव में प्रलयावस्था मे ब्रह्म शुद्ध चित् और अव्यक्त अचित् से युक्त रहता है। इसे 'कारण ब्रह्म' कहते है। उपनिषदों मे जहाँ जहाँ विषयो को असत् और ब्रह्म को 'नेति नेति' कहा गया है वहाँ इसी अव्यक्त कारण ब्रह्म से तात्पर्य है। जब सृष्टि होती है तब ब्रह्म शरीरी जीवों और भौतिक विषयो मे व्यक्त होता है। यह 'कार्य ब्रह्म' है। अत रामानुज सांख्य के समान सत्कार्यवादी है परन्तु जहाँ सांख्य प्रकृति परिणामवादी है रामानुज ब्रह्म परिणाम वादी है।

सृष्टि सत्य है

अत रामानुज के अनुसार सृष्टि ब्रह्म के समान ही सत्य है। उपनिषदों के नानात्व का निषेध और एकत्व का प्रतिपादन करने वाले वाक्य केवल यही बतलाते है कि विषयों की ब्रह्म से स्वतन्त्र कोई स्थिति नही है। ब्रह्म पर आश्रित रूप में वे सत्य है। प्रकृति ब्रह्म की शक्ति है। जगत प्रपञ्च नही है। ब्रह्म ही उसका उपादान और निमित्त कारण है। कार्य कारण का विवर्त नही बल्कि परिणाम है। सभी प्रमाण जगत की सत्यता सिद्ध करते है। जगत सत्य है यद्यपि उसके स्थूल विषय नित्य नही है। कार्य कारण मे अनन्यत्व है। यदि कारण सत्य है तो कार्य कैसे मिथ्या होगा ? चित् और अचित् ब्रह्म के विशेषण है। उनमे और ब्रह्म मे समानाधिकरण सम्बन्ध है। वे ब्रह्म मे है। उनमें और ब्रह्म मे 'अपृथक सिद्धि' है। अविभक्त ब्रह्म अपनी परम शक्ति से नाना रूपात्मक जगत का रूप धारण कर सकता है। ब्रह्म स्रष्टा है विष्णु पालक है रुद्र संहारक है। ये सभी ब्रह्म के ही विभिन्न पक्ष है। अन्तर्यामी के रूप मे ईश्वर स्रष्टा पालक और संहारक है। ये सब क्रियाएँ उसकी लीला अथवा क्रीड़ा मात्र है। उसकी इच्छा मात्र से उसकी शक्ति जगत मे परिवर्तित हो जाती है। शकर के अनुसार ब्रह्म सत्य है और जगत असत्य है अथवा मिथ्या है और दोनो मे अभेद है। रामानुज के अनुसार सत्य और मिथ्या तत्त्वो में तादात्म्य नही हो सकता। यदि ऐसा हो तो फिर ब्रह्म भी मिथ्या है। अत रामानुज शकर के मत का खण्डन करते है।

रामानुज के अनुसार ईश्वर किसी बाह्य प्रयोजन से जगत की सृष्टि नहीं करता क्योंकि वह पूर्ण है। उसकी सभी इच्छाएँ तृप्त हैं। अत जगत की सृष्टि ईश्वर की लीला अथवा क्रीडा (Sport) मात्र है। वह निष्पक्ष है और जीवों के कर्मानुसार जगत के विषयों की सृष्टि करता है। वह उनको धर्म और अधर्म के अनुसार उन्हें सुख और दुःख देता है।

जगत ईश्वर की लीला है

श्वेताश्वतरोपनिषद में ईश्वर को मायावी कहा गया है। रामानुज के अनुसार इसका अर्थ यह है कि सृष्टि की रचना करने वाली ईश्वर की शक्ति मायावी की शक्ति के समान अद्भुत है। माया का अर्थ ईश्वर की 'विचित्रार्थ सर्गकरी' (अद्भुत विषयों की सृष्टि करने वाली) शक्ति है। कभी कभी उससे अघटन-घटना पटीयसी प्रकृति का भी बोध होता है।

माया का अर्थ

माया या अविद्या की आलोचना

रामानुज के अनुसार सभी ज्ञान सत्य होता है और कोई भी विषय मिथ्या नहीं है। सर्प-रज्जुभ्रम में भी असत् पदार्थ की प्रतीति नहीं होती। भ्रमों की उत्पत्ति के मूल उपादान विषयों में ही रहते हैं। जो तीनों तत्व (तेज, जल पृथ्वी) सर्प में विद्यमान हैं वे ही रज्जु में भी हैं। इसलिये जब वह वस्तुत सत् समान तत्व दिखाई पडता है तब रज्जु में सर्प की प्रतीति होती है। शकर के अनुसार भ्रम अविद्या के कारण है। यह अविद्या न सत है और न असत है। अत अविद्या या माया अनिर्वचनीय है। शकर के इस अविद्या अथवा माया के विचार के विरुद्ध रामानुज ने निम्नलिखित सात तर्क उपस्थित किये है —

(१) आश्रयानुपपत्ति—अविद्या का कोई आश्रय नहीं हो सकता। यदि यह कहा जाय कि अविद्या का आश्रय (Locus) जीव है तो यह शका उठती है कि जीवत्व तो स्वय अविद्या का कार्य है और कारण कार्य पर कैसे आश्रित रह सकता है? यदि ब्रह्म आश्रय है तो फिर वह शुद्ध ज्ञान स्वरूप कैसे रहेगा।

अद्वैत के अनुसार जीव और ब्रह्म किसी को भी अविद्या का आश्रय मानने मे उपरोक्त कठिनाइयाँ नहीं उपस्थित होती। ब्रह्म अविद्या का आश्रय होकर भी उसके दोषो से उसी प्रकार प्रभावित नहीं होता जैसे कि मायावी स्वय अपनी माया से प्रभावित नहीं होता। इसी प्रकार जीव भी अविद्या का आश्रय हो सकता है क्योंकि उनमे कार्य कारण सम्बन्ध नहीं है। वे एक ही वस्तु के दो परस्परापेक्ष सहवर्ती अग है।

(२) तिरोधानानुपपत्ति—अविद्या से ब्रह्म का तिरोधान हो जाता है। ब्रह्म

स्वप्रकाश है। अविद्या का आवरण पड़ने से उसका स्वरूप ही नष्ट हो जाता है और ब्रह्म का नाश हो जाता है।

इसके उत्तर में शङ्कर के अनुयायियों का कहना है कि जैसे मेघ से आच्छादित होने पर सूर्य का लोप नहीं होता। ब्रह्म पर अविद्या का आवरण होने से उसके स्वरूप पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता केवल अज्ञानी जीव को ही ब्रह्म को यथार्थ रूप नहीं दिखता।

(३) स्वरूपानुपपत्ति—अविद्या को सत नहीं सिद्ध किया जा सकता। अविद्या सत है अथवा असत ? उसको सत मानने से अद्वैत में बाधा आती है। वह असत भी नहीं हो सकती क्योंकि न तो वह ज्ञाता है न ज्ञेय और न ज्ञान। ज्ञाता और ज्ञेय तो स्वयं अविद्या के कारण हैं। ज्ञान न विद्या होने से वह ज्ञान अथवा ब्रह्म के समान नित्य हो जायगी।

(४) अनिर्वचनीयत्वानुपपत्ति—अविद्या अनिर्वचनीय नहीं कही जा सकती क्योंकि सभी पदार्थ या तो सत होते हैं या असत्। इन दो कोटियों के अतिरिक्त तीसरी कोटि नहीं हो सकती।

तीसरे और चौथे आक्षेप के उत्तर में अद्वैतवादियों का कहना है कि माया न सत् है और न असत्। उसकी प्रतीति होती है अत उसे वन्ध्या पुत्र अथवा आकाश-कुसुम के समान नितान्त असत् नहीं माना जा सकता। कालान्तर के अनुभव से बाधित होने के कारण उसे सर्वथा अबाधित आत्मा अथवा ब्रह्म के समान सत् भी नहीं माना जा सकता। माया को अनिर्वचनीय कहने का यही तात्पर्य है कि उसे सत अथवा असत् इन दोनों ही सामान्य कोटियों में नहीं रखा जा सकता। इसमें कोई विरोध नहीं है क्योंकि सत् का अर्थ यहाँ 'पूर्णत सत्य' और असत् का अर्थ 'पूर्णत असत्य' है। इन दोनों के बीच में तीसरी कोटि वैसे ही सम्भव है जैसे पूर्ण प्रकाश पूर्ण अन्धकार के बीच में।

(५) प्रमाणानुपपत्ति—अविद्या को भावरूप नहीं सिद्ध किया जा सकता। अज्ञान का अर्थ ज्ञान का अभाव है। अत वह भावरूप कैसे माना जा सकता है ? इसलिये उसे प्रत्यक्ष अथवा अनुमान किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं किया जा सकता।

इसके उत्तर में अद्वैतवादियों का कहना है कि अज्ञान मूलक भ्रम जैसे सर्प रज्जु भ्रम में केवल वस्तु के ज्ञान का अभाव ही नहीं रहता बल्कि विपरीतार्थ का आभास अर्थात् सर्प का भाव भी रहता है। इस अर्थ में ही माया को भावरूप अज्ञान कहा गया है।

(६) निवर्तकानुपपत्ति—ज्ञान से अविद्या का निवर्तन नहीं हो सकता।

रामानुज के अनुसार ईश्वर किसी बाह्य प्रयोजन से जगत की सृष्टि नहीं करता क्योंकि वह पूर्ण है। उसकी सभी इच्छाएँ सत्य हैं। अत जगत की सृष्टि ईश्वर की लीला अथवा क्रीडा (Sport) मात्र है। वह निष्पक्ष है और जीवों के कर्मानुसार जगत के विषयों की सृष्टि करता है। वह उनके कर्म की [illegible] धर्म के अनुसार उन्हें सुख और दुःख देता है।

जगत ईश्वर की लीला है

श्वेताश्वतरोपनिषद में ईश्वर को मायावी कहा गया है। रामानुज के अनुसार इसका अर्थ यह है कि सृष्टि की रचना करने वाली ईश्वर की शक्ति मायावी की शक्ति के समान अद्भुत है। माया का अर्थ ईश्वर की 'विचित्रार्थ सर्गकरी' (अद्भुत विषयों की सृष्टि करने वाली) शक्ति है। कभी कभी इससे अघटन-घटना पटीयसी प्रकृति का भी बोध होता है।

माया का अर्थ

माया या अविद्या की आलोचना

रामानुज के अनुसार सभी ज्ञान सत्य होता है और कोई भी विषय मिथ्या नहीं है। सर्प-रज्जुभ्रम में भी असत् पदार्थ की प्रतीति नहीं होती। भ्रमों की उत्पत्ति के मूल उपादान विषयों में ही रहते हैं। जो तीनों तत्व (तेज, जल पृथ्वी) सर्प मे विद्यमान हैं वे ही रज्जु में भी हैं। इसलिये जब वह वस्तुत सत् समान तत्व दिखाई पड़ता है तब रज्जु में सर्प की प्रतीति होती है। शंकर के अनुसार भ्रम अविद्या के कारण है। यह अविद्या न सत है और न असत है। अत अविद्या या माया अनिर्वचनीय है। शंकर के इस अविद्या अथवा माया के विचार के विरुद्ध रामानुज ने निम्नलिखित सात तर्क उपस्थित किये हैं —

(१) आश्रयानुपपत्ति—अविद्या का कोई आश्रय नहीं हो सकता। यदि यह कहा जाय कि अविद्या का आश्रय (Locus) जीव है तो यह शंका उठती है कि जीवत्व तो स्वयं अविद्या का कार्य है और कारण कार्य पर कैसे आश्रित रह सकता है? यदि ब्रह्म आश्रय है तो फिर वह शुद्ध ज्ञान स्वरूप कैसे रहेगा।

अद्वैत के अनुसार जीव और ब्रह्म किसी का भी अविद्या का आश्रय मानने में उपरोक्त कठिनाइयाँ नहीं उपस्थित होतीं। ब्रह्म अविद्या का आश्रय होकर भी उसके दोषों से उसी प्रकार प्रभावित नहीं होता जैसे कि मायावी स्वयं अपनी माया से प्रभावित नहीं होता। इसी प्रकार जीव भी अविद्या का आश्रय हो सकता है क्योंकि उनमें कार्य कारण सम्बन्ध नहीं है। वे एक ही वस्तु के दो परस्परापेक्ष सहवर्ती अंग हैं।

(२) तिरोधानानुपपत्ति—अविद्या से ब्रह्म का तिरोधान हो जाता है। ब्रह्म

ब्रह्म और ईश्वर में भेद नहीं है

शंकर के अनुसार ब्रह्म ही एक मात्र पारमार्थिक सत्य है और ईश्वर व्यावहारिक सत्य है। अतः शंकर ब्रह्म और ईश्वर को भिन्न मानते हैं। रामानुज के अनुसार ब्रह्म ही ईश्वर है। शंकर के अनुसार ब्रह्म निर्गुण ही है सगुण नहीं। रामानुज ब्रह्म को इस अर्थ में निर्गुण मानते हैं कि उसमें प्रकृति जन्य अशुद्ध गुण नहीं है। परन्तु वैसे रामानुज के अनुसार ब्रह्म सगुण है। वह परम पुरुष 'पुरुषोत्तम' है। उसमें सत्य ज्ञान और आनन्द आदि सभी परम श्रेष्ठ गुण हैं। वह नित्य और अपरिवर्तनीय है। निर्गुण ब्रह्म और सगुण ब्रह्म में कोई भेद नहीं है।

ब्रह्म अथवा ईश्वर का स्वरूप

पर ब्रह्म नित्य सर्वव्यापी सूक्ष्म अन्तर्यामी अनन्त सर्वशक्तिमान सर्वज्ञ और असंख्य गुण सम्पन्न है। वह जगत का स्रष्टा, पालक और संहारक है। वह समस्त जगत का आधार है। वह उसका उपादान तथा निमित्त कारण है। वह स्वामी (ईश्वर) है। वह परम शेष है। वह समस्त फल देने वाला है। वह कर्माध्यक्ष है। वह भक्तों का आश्रय है। वह अनन्त ज्ञान और स्वरूप है। उसका ज्ञान आनन्दमय है। उसके गुण नित्य असीम असंख्य, निरुपाधि, अतिशय और विशुद्ध हैं। वह सबका अन्तरात्मा है। वह अमरत्व का दे जाने वाला सेतु है। वह नित्य अज अमर, आरपार रस है। उसमें जगत की सृष्टि, पालन तथा संहार का ज्ञान और शक्ति बल ऐश्वर्य स्वातन्त्र्य कार्य और तेज है। वह अज्ञानों को ज्ञान निर्बल को शक्ति अपराधी को क्षमा दुखी को दया असहायों का सहारा मन्दों को गति कुटिल को सीधापन बुरे को अच्छाई और साधकों का फल प्रदान करता है। उसका देह 'षाड्गुण्यविग्रह' अर्थात् ज्ञान बल, ऐश्वर्य वीर्य शक्ति तथा तेज आदि छः गुणों से परिपूर्ण है।

ईश्वर का पाँच प्रकार का स्वरूप

रामानुज के अनुसार ईश्वर का स्वरूप पाँच प्रकार का है।

(१) पर —यह वासुदेव-स्वरूप भी कहलाता है। यह काल की गति से परे है। इसका कभी परिणाम नहीं होता। इसमें सर्वदा निरवधि आनन्द रहता है।

यही भगवान का 'षाड्गुण्यविग्रह' कहलाता है। वैकुण्ठ में देवता लोग इसे नेत्रों से तथा ज्ञान से देखते हैं।

(२) व्यूह—विश्व लीला के निमित्त है। यह 'संकर्षण' 'प्रद्युम्न' तथा 'अनिरुद्ध' में वर्तमान है। यह संसारियों की रक्षा और मुमुक्षु तथा भक्तों के प्रति अनुग्रह दिखाने के लिये है। व्यूह में प्रकट रूप में केवल दो दो गुण रहते हैं।

ज्ञान तथा वल सकर्षण के स्वरूप मे प्रकट होते हैं। प्रद्युम्न मे ऐश्वय तथा वीर्य और अनिरुद्ध मे शक्ति तथा तेज गुण रहते हैं। सकर्षण से शास्त्र प्रवतन और जगत का सहार, प्रद्युम्न से धर्मोपदेश और मनु, चारो वर्ण आदि शुद्ध वर्गो की सृष्टि तथा अनिरुद्ध से रक्षा तत्वज्ञान का प्रदान, काल सृष्टि तथा मिश्र सृष्टि का निर्वाह होता है।

(३) **विभव**—अनन्त होने पर भी दो प्रकार का है—मुख्य और गौण। मुख्यविभव श्रीभगवान का अश तथा अप्राकृत देह युक्त है। मुमुक्षु इसी की उपासना करते हैं। यह साक्षात भगवान का अवतार है गौण 'स्वरूपावेश' और 'शक्त्यावेश' अवतार को कहते है। अवतार साधुओ के परित्राण, दुष्कृतो के विनाश और धर्म के सस्थापन के लिये होता है।

(४) **अन्तर्यामी**—स्वरूप से भगवान जीवो के अन्त करण मे प्रवेश करके उनकी सकल प्रवृत्तियो का नियमन करते हैं। इसी रूप से भगवान सभी जीवो की सभी अवस्थाओ मे स्वर्ग नरक आदि स्थानो पर सहायता करते हैं।

(५) **अर्चावतार**—भक्त की रुचि के अनुसार मूर्ति मे रहने वाली भगवान की उपास्य मूर्ति हैं।

साधन विचार

बन्धन

रामानुज के अनुसार आत्मा का बन्धन कर्म का परिणाम है। कर्मों के कारण ही आत्मा शरीर धारण करती है। शरीर धारण करने पर आत्मा का चैतन्य शरीर और इन्द्रियो से बध जाता है। अणुरूप होने पर आत्मा शरीर के प्रत्येक भाग को चैतन्य युक्त कर देता है जैसे छोटे से दीपक से सम्पूर्ण कोठरी प्रकाशित हो जाती है। आत्मा चैतन्य युक्त शरीर को ही अपना यथार्थ रूप मानने लगता है। शरीर आदि अनात्य विषयों मे यह आत्म बुद्धि अहकार कहलाती है। यही अविद्या है।[1]

मोक्ष का साधन

विशिष्टाद्वैत के अनुसार मोक्ष का परम साधन भक्ति है। भक्ति कर्म और ज्ञान द्वारा उदय होती है। कम का अर्थ है वेदो मे वतलाया हुआ कर्म काड अर्थात् वर्णाश्रम के अनुसार नित्य तथा नैमित्तिक कर्म। स्वर्गादि की कामना बिना, कर्तव्य बुद्धि से इसका आचरण करने से ज्ञान की प्राप्ति मे बाधक पुनर्जन्म के सस्कार दूर हो जाते हैं। इन निष्काम कर्मों का आजीवन आचरण करना चाहिये। इन कर्मो

---

१ "शरीरागोचरा च अहबुद्धिरविद्यैव। अनात्मनि देहे अहमावकरणो हेतुत्वात् अहकार सूक्ष्मतया।'

—श्री भाष्य १,१ १।

(१) ईश्वर के अनुकूल, विचार सकल्प और कम करना ।

(२) ईश्वर के प्रतिकूल विचार, सकल्प और कर्म न करना ।

(३) ईश्वर द्वारा रक्षा किये जाने पर विश्वास ।

(४) ईश्वर से रक्षा की प्रार्थना ।

(५) ईश्वर के प्रति पूर्ण आत्म समर्पण ।

(६) ईश्वर पर पूर्णत निर्भर होने की अनुभूति ।

प्रपत्ति से समस्त कम और अविद्या का नाश हो जाता है । साधक की भक्ति प्रपत्ति से सन्तुष्ट होकर ईश्वर स्वय उसके मार्ग से बाधाओ को हटा कर उसे मोक्ष प्रदान करते हैं ।[1] ईश्वर के प्रति पूर्ण आत्मसमर्पण करके उन्ही का अविरत चिन्तन करते करते जो उनमे तल्लीन हो जाता है वह भवसागर को पार करके समस्त दु खो से मुक्त हो जाता है । वह फिर पुनर्जन्म के चक्र मे नही पडता ।

मोक्ष का स्वरूप

रामानुज के अनुसार उपनिषदों मे जहाँ पर यह कहा गया है कि मुक्त आत्मा ब्रह्म के साथ एकाकार हो जाता है वहाँ उसका यह अर्थ है कि आत्मा ब्रह्म के सदृश (ब्रह्म प्रकार) हो जाता है ।[2] अत मुक्ति का अर्थ आत्मा का परमात्मा मे मिल कर एकाकार हो जाना नही है । ईश्वर से भिन्न भिन्न सम्बन्ध के आधार पर रामानुज ने चार प्रकार की मुक्ति मानी है—सान्निध्य, सालोक्य, सायुज्य और सारूप्य । सान्निध्य मुक्ति मे आत्मा ईश्वर के समीप रहता है । सालोक्य, मुक्ति मे भक्त ईश्वर के लोक मे रहता है । सायुज्य रूप मे आत्मा और ईश्वर का सम्बन्ध हो जाता है और सारूप्य मुक्ति मे आत्मा भी दिव्य होकर ब्रह्म प्रकार हो जाता है । रामानुज जीवन मुक्ति को नही मानते क्योकि जब तक आत्मा का शरीर से सम्बन्ध है तब तक धर्म भी रहते हैं और जब तक धर्म रहते हैं तब तक आत्मा पूर्ण रूप से शुद्ध नही हो सकती । भगवान की कृपा के बिना भी मोक्ष असभव है । ईश्वर की कृपा के बिना सतत ध्यान यथार्थ भक्ति अथवा ईश्वर का साक्षात्कार नही हो सकता और तब तक मोक्ष भी नही होगा कर्मों का नाश और ईश्वर का प्रत्यक्ष ज्ञान क्रमश नही बल्कि प्रपत्ति तथा उपासना के कारण, ईश्वरीय कृपा से एक साथ सम्पन्न होते हैं ।

---

१ भक्तिप्रपत्तिभ्यां प्रसन्न ईश्वर एव मोक्ष ददाति ।"

२ "ज्ञानका कार तया ब्रह्म प्रकारता उच्यते ।"

श्री भाष्य पृ० ७१

विशिष्टाद्वैत दर्शन की आलोचना

रामानुज जगत और ईश्वर में समीचीन सम्बन्ध नहीं स्थापित कर सके हैं। वे भेद अभेद और भेदाभेद तीनों सम्बन्धों का खंडन करके

जगत और ईश्वर का सम्बन्ध

विशिष्ट अद्वैत सम्बन्ध स्थापित करना चाहते हैं। इसको उन्होंने अपृथक सिद्धि कह कर समझाने की चेष्टा की है। यह समवाय से भिन्न है। समवाय भिन्न वस्तुओं को मिलाता है। अपृथक सिद्धि समान तत्त्वों को पृथक करता है। परन्तु फिर दूसरी ओर रामानुज भेद को भी बनाये रखने की चेष्टा करते हैं। इस भेद का प्रेम और भक्ति में बड़ा महत्त्व है। उपास्य में भेद के बिना उपासक असंभव है। भक्त कभी भी भगवान नहीं होना चाहता। रामानुज भक्ति मार्गी हैं अतः वे भक्त और भगवान आत्मा और ईश्वर का भेद बनाये रखना चाहते हैं। साथ ही साथ उपनिषदों के प्रमाण के कारण वे अद्वैत सम्बन्ध को भी रखना चाहते हैं। इस प्रकार रामानुज ने उपनिषदों के अद्वैत वाद वैष्णव मत के ईश्वर वाद (Theism) दोनों को साथ साथ रखने की चेष्टा की है। परन्तु द्वैत और अद्वैत एक ही स्तर पर साथ साथ नहीं चल सकते। अतः रामानुज का जगत और ईश्वर का सम्बन्ध समीचीन नहीं है। पूर्ण और अंश द्रव्य तथा गुण और आत्मा तथा शरीर के उदाहरण उपयुक्त नहीं हैं क्योंकि इनको समान रूप से स्वतन्त्र नहीं माना जा सकता। शरीर आत्मा से गुण द्रव्य से और अंश अंशी से स्वतन्त्र नहीं हो सकते। रामानुज चित् और अचित् को द्रव्य मानकर भी ईश्वर के विशेषण मात्र मानते हैं। परन्तु एक वस्तु एक ही साथ द्रव्य और गुण नहीं हो सकती। रामानुज का यह कहना कि वस्तु परतन्त्र होकर भी द्रव्य हो सकती है। द्रव्य (S bstance) के स्वभाव के विषय में अज्ञान का परिचायक है। रामानुज ने चित् अचित् और ईश्वर को तत्त्व त्रय माना है और फिर भी ब्रह्म और ईश्वर में तादात्म्य मान लिया है। यदि चित् और अचित् ईश्वर के विशेषण हैं तब तत्त्व त्रय का क्या अभिप्राय है।

(१) नित्य और मुक्त का भेद अनावश्यक है। जीव या तो बद्ध होगा या मुक्त एक तीसरे प्रकार का भेद करने की क्या आवश्यकता है।

जीवात्मा

(२) आत्मा और धर्म भूतज्ञान का सम्बन्ध समीचीन नहीं है। यदि आत्मा चैतन्यस्वरूप है तो चैतन्य उसका गुण कैसे हो सकता है? यह बात समझ में नहीं आ सकती कि ज्ञान स्वयं को और वस्तु को प्रकाशित करता है परन्तु किसी को भी नहीं जान सकता। अद्वैत-ज्ञान पर रामानुज के आक्षेप तद्विषयक अज्ञान के परिचायक हैं।

(३) आत्मा के विषय मे बहुवाद (Pluralism) समीचीन नही है। ज्ञान के समस्त जड पदार्थों को तो रामानुज उनके सूक्ष्म कारण प्रकृति मान लेते हैं परन्तु चित्त के क्षेत्र मे वे प्रत्येक जीव की स्वतन्त्रता बनाए रखना चाहते हैं। यदि आत्माएँ सार रूप मे एक ही हैं तो उनकी अनेकता पारमार्थिक सत्य कैसे हो सकती है ? रामानुज एक ओर तो आत्मा का जीव, अहम्, ज्ञान का आधार तथा अन्तर्दर्शन का विषय मानकर उसका व्यक्तित्व बनाए रखना चाहते है और दूसरी ओर उसको स्वय प्रकाश और आत्म चेतन विषयी मानते हैं जो अपरिवर्तनीय है और समस्त जन्म मरण मे एकसा रहता है। परन्तु वास्तव मे पहला व्यावहारिक और दूसरा पारमार्थिक आत्मा है। इन दोनो को एक नही माना जा सकता शकर के विरुद्ध रामानुज का आत्मा का सिद्धान्त दार्शनिक दृष्टिकोण से उतना समीचीन नही है।

चित्, अचित् और ईश्वर

रामानुज के अनुसार चित् और अचित् ईश्वर के शरीर है, परन्तु ईश्वर का शरीर और उसकी आत्मा का अन्तर स्पष्ट नही है। यदि वास्तव मे चित् और अचित् ईश्वर का शरीर है तो उस पर उनके कष्ट, दुःख, अपूर्णताएँ और दोष आदि का भी प्रभाव होगा। रामानुज का कहना है कि ईश्वर ससार के परिवर्तन और जीवो के दोषो से उसी प्रकार प्रभावित नही होता जैसे आत्मा शरीर के दुःखो और परिवर्तनो से प्रभावित नही होती। परन्तु ऐसी अवस्था मे आत्मा विश्वात्मा हो जाती है और तब उसे अनेक नही माना जा सकता। यह युक्तिपूर्ण नही माना जा सकता कि ईश्वर का आत्मा अपरिवर्तनीय और पूर्ण है और उसका शरीर परिवर्तनशील और दोषपूर्ण है।

ईश्वर

(१) रामानुज ने उपनिषदो के ब्रह्मवाद को पाञ्चरात के ईश्वरवाद से मिलाने की चेष्टा की। परन्तु यदि ईश्वर जगत मे व्याप्त है तो फिर वह जगत का आत्मा कैसे हो सकता है और उसी समय वह वैकुण्ठवासी पुरुषोत्तमा कैसे हो सकता हैं। डा० चन्द्रधर शर्मा के शब्दो मे "रामानुज का ब्रह्म इस जगत से बद्ध शकर का ब्रह्म है और शकर का ब्रह्म इस जगत से मुक्त रामानुज का ईश्वर है।"[१]

(२) डा० राधाकृष्णन् के अनुसार "रामानुज की परलोक के विषय मे सुन्दर कहानियाँ जो कि वह एक ऐसे व्यक्ति के आत्मविश्वास के साथ सुनाते हैं जिसने कि जगत की उत्पत्ति मे व्यक्तिगत रूप से सहायता की हो, बुद्धि को सन्तुष्ट नही करती। " प्रकृति तथा लीलाविभूति, शुद्ध सत्व तथा नित्यविभूति का भेद

१ Indian Philosophy p 531

भी काल्पनिक है।

बन्धन और मोक्ष

(१) रामानुज के दर्शन में बन्धन का कारण समीचीन नहीं है। यदि आत्मा शुद्ध परिवर्तनीय आत्मचेतन विषयी है तो फिर वह कर्म में क्यों बन्धता है। यदि वह कर्म से संलग्न है तो वह बद्ध ही है। रामानुज इस कठिनाई से बचने के लिये संसार को अनादि मानते हैं। परन्तु फिर अविद्या को ही अनादि मानने में क्या हानि है?

(२) यदि प्रपत्ति और भक्ति से अन्त में ईश्वर कृपा से अपरोक्ष ज्ञान होता है और उसी से मुक्ति मिलती है तो अपरोक्षानुभूति अथवा आत्मा साक्षात्कार के अद्वैत ज्ञान को ही मोक्ष का कारण क्यों न माना जाय? भक्ति का स्थान तो अद्वैत ज्ञान में भी हो सकता है। ज्ञान में शंकर का तात्पर्य भी अध्ययन अथवा तर्क न होकर अपरोक्षानुभूति अथवा ब्रह्म साक्षात्कार ही है।

वास्तव में वेदान्तिक परंपरा में वैष्णवीय ईश्वरवाद का सामंजस्य करने का कार्य ही इतना कठिन है कि उसमें अनेक कठिनाइयाँ आजाना स्वाभाविक ही है। फिर रामानुज ने इस कार्य के लिये 'प्रस्थानत्रय' के अतिरिक्त वैष्णव पुराण पाञ्चरात्र आगम और तामिल प्रबन्धम का भी उपयोग करने का प्रयास किया। वैष्णव मत के सभी सिद्धान्तों का उपनिषदों के अद्वैतवाद से सामंजस्य नहीं हो सकता। उसमें एक अथवा दूसरे को अवश्य तोड़ना मरोड़ना अथवा गौण स्थान देना पड़ता। रामानुज ने दोनों को अक्षुण रख कर उनका सामञ्जस्य करने का प्रयास किया। कहना न होगा कि इस प्रयास में कोई भी अन्य व्यक्ति उनसे अधिक असफल होता। रामानुज ने अपने दर्शन में धर्म और दर्शन दोनों की माँगों को सन्तुष्ट करने की चेष्टा की। शंकर के भाष्य के कारण अपना पक्ष पुष्ट करने के लिये उन्हें पग पग पर उसका खंडन करना पड़ा। वास्तव में अद्वैत और वैष्णव मत में सामंजस्य करने का एकमात्र उपाय प्रथमको पारमार्थिक तथा दूसरे को व्यावहारिक सत्य मान लेना है। इससे व्यावहारिक सत्य की असत्यता नहीं सिद्ध होती। केवल वह सापेक्ष और गौण मानना पड़ता है। सर्वज्ञात्मा मुनि के शब्दों में "परिणामवाद (रामानुज का दर्शन) और विवर्तवाद (शंकर के दर्शन) की ही प्रारंभिक अवस्था है और दोनों परस्पर विरोधी नहीं हैं। यदि कोकिलेश्वर शास्त्री जैसे भाष्यकारों की दृष्टि से शंकर के मत को देखा जाय तो यह बात मानने में अधिक कठिनाई न होगी।